रतलाम का प्रथम राज्य : उसकी स्थापना एवं अन्त

[ईसा की १७ वीं शताब्दी]

रतलाम का प्रथम राज्य:
उसकी स्थापना एवं अन्त

[ईसा की १७ वीं शताब्दी]

लेखक

रघुबीरसिंह, डी० लिट्०

राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

१९५०

महेशदास

समर्पण

रतन् कुल की प्रतिष्ठा

एवं गौरव के आदि संस्थापक

वीरवर

महेशदास

की

पवित्र स्मृति

को

सादर समर्पित

दो शब्द

अकबर के शासन-काल से ही जोधपुर के संस्थापक वीरवर जोधा के वंशजों ने मालवा में आकर बसना प्रारम्भ कर दिया था; मालवा और गुजरात की सीमा पर झाबुआ और अमझरा के दो छोटे-छोटे राज्यों की भी उन्होंने स्थापना की थी। किन्तु शाहजहाँ के शासन-काल में जब जोधपुर के सुविख्यात 'मोटा राजा' उदयसिंह के प्रपौत्र रतनसिंह ने मालवा में आकर रतलाम को अपनी राजधानी बनाया, एवं रतलाम के प्रथम राज्य की स्थापना की तब उसके भाई-बेटे एवं अन्य सगे-सम्बन्धी भी उसके साथ मालवा में चले आए और यहाँ आकर बस गए। यहाँ अपना आधिपत्य स्थापित कर धीरे-धीरे वे तथा उनके वंशज मालवा के प्रायः सारे पश्चिमी तथा मध्य भाग में फैल गए।

यह एक दुर्भाग्य ही था कि रतनसिंह द्वारा स्थापित रतलाम राज्य का उसकी मृत्यु के कोई ३६ वर्ष बाद ही अन्त हो गया। परन्तु इस राज्य का अन्त होने के सात-आठ वर्ष ही बाद रतलाम के पदच्युत शासक केशवदास और उसके काका छत्रसाल आदि को औरंगज़ेब ने नई-नई जागीरें दीं जिनसे वर्तमान नए-नए राठौड़ राज्यों की नींव पड़ी। इस प्रकार रतनसिंह के वंशजों और उनके साथ ही उन्हीं के भाई-बेटों या सगे-सम्बन्धियों के मालवा-प्रान्त में आ बसने का इस प्रान्त की राजनैतिक परिस्थिति और सामाजिक समस्याओं पर जो अमिट प्रभाव पड़ा वह आज भी स्पष्ट है। यही कारण है कि आज भी रतनसिंह के वंशज ही नहीं मालवा प्रान्त के दूसरे राजपूत तथा अन्य मालवा निवासी भी रतनसिंह को आदर की दृष्टि

से देखते हैं, और उसकी, उसके पूर्वज तथा वंशजों की जीवनी के बारे में बहुत-कुछ जानने को उत्सुक रहते हैं।

सन् १८९८ ई० में सीतामऊ राज्य के तत्कालीन नाज़िम-अदालत, पं० नारायण गणेश शिरसालकर ने रतनसिंह का एक विस्तृत एवं यथाशक्य प्रामाणिक जीवन-चरित्र लिख कर प्रकाशित किया था। रतनसिंह के साथ ही साथ उसके पिता महेशदास, और रतनसिंह के पुत्र-पौत्रों एवं उनके वंशजों पर भी उस ग्रन्थ में पर्याप्त प्रकाश डाला गया था। प्रकाशन के ८–१० वर्ष बाद ही वह पुस्तक अप्राप्य हो गई और आज तो इस पुस्तक की छपी हुई प्रतियाँ देखने को भी कहीं नहीं मिलतीं।

इन पिछले चालीस वर्षों में भारतीय इतिहास की खोज का बहुत कार्य हुआ है। ऐसी बहुत सी नई ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है, जिससे रतनसिंह और उसके वंशजों के इतिहास पर पूर्णतया नया प्रकाश पड़ता है। इतिहास-लेखन की शैली और आदर्श भी इधर बहुत बदल गए हैं। इस नवीन सामग्री का उपयोग कर आधुनिक आदर्शों के अनुसार इस घराने का एक प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थ लिखा जाना आवश्यक जान पड़ा; इस ग्रंथ द्वारा उसी कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया गया है।

इस ग्रन्थ को पूर्णतया प्रामाणिक बनाने और समस्त ऐतिहासिक आधारों से प्राप्य सामग्री का पूरा-पूरा प्रयोग करने का भरसक प्रयत्न किया गया है। व्यक्तिगत बातों तथा छोटी-छोटी ऐतिहासिक घटनाओं को एकत्रित करने के लिए अनेकानेक ग्रन्थों की जाँच-पड़ताल करनी पड़ी। मेरे गुरु सर यदुनाथ सरकार की पूर्ण सहायता एवं उनके प्रेमपूर्ण आशीर्वाद से ही यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पूर्ण हो सका है। सरकार महोदय के निजी संग्रह में अनेकानेक बहुमूल्य एवं अप्राप्य

फ़ारसी इतिहास-ग्रंथ संग्रहीत हैं। यह संग्रह मेरे लिए पूर्णतया खुला रहा है और आवश्यकतानुसार वहाँ के ग्रंथ मुझे प्राप्त हो सके हैं। फ़ारसी भाषा के ज्ञाता, मेरे मुंशी, क़ाज़ी करामतुल्ला, मुंशी फ़ाज़िल, ने सारे आवश्यक फ़ारसी ग्रंथों को पढ़ कर उनसे मेरे लिए बहुत सी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित की है; यों सामग्री-संग्रह में उनका भी पूरा-पूरा हाथ रहा है।

अपने पूर्वजों के प्रति आदर और श्रद्धा किसे नहीं होती, विशेषतया जब कि वे महेशदास, रतनसिंह और केशवदास के समान धीर, वीर और साहसी हों। किन्तु इतिहासकार काव्य-रचना नहीं करता है, और न वह वीर-पूजक बन कर ही अपने चरित्र-नायकों की प्रशंसा के पुल बाँधने लगता है। इतिहास लिखते समय इतिहासकार के लिए अपने व्यक्तिगत नातों-रिश्तों से उत्पन्न होने वाली आदर-श्रद्धा को भी कुछ समय के लिए भूल जाना अत्यावश्यक हो जाता है। ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर प्रामाणिक इतिहास लिखना, निष्पक्ष दृष्टि से विभिन्न ऐतिहासिक व्यक्तियों के गुण-दोषों की विवेचना करना, तथा संयत भाषा में उनका ठीक-ठीक महत्त्व आँकना ही इतिहासकार का कर्तव्य है। इस ग्रंथ की रचना करते समय इन्हीं आदर्शों का पालन करने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है।

अनेकानेक वादविवादों या कई एक महत्त्वहीन छोटी-छोटी बातों को यदि छोड़ दिया जाता तो भी सम्भवतः इस ग्रंथ की ऐतिहासिक सम्पूर्णता में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। इस ग्रंथ का वह संक्षिप्त सुगठित स्वरूप साहित्यिक दृष्टि से अधिक सुघड़ सँवरा हुआ होता। किन्तु महेशदास, रतनसिंह और उनके वंशजों को लेकर मालवा में इतनी अधिक भ्रान्तिपूर्ण भावनाएँ, अनहोनी कथाएँ

एवं अनैतिहासिक प्रवाद प्रचलित हैं कि उन्हें अविश्वसनीय असत्य प्रमाणित कर उनका निराकरण करना ऐतिहासिक सत्य की पुनर्स्थापना के लिए अत्यावश्यक प्रतीत हुआ। मुग़ल साम्राज्य के संगठन, उसकी शासन-प्रणाली, तद् अन्तर्गत राजपूत शासकों के अधिकारों तथा उनके सच्चे महत्त्व का पूरा-पूरा ज्ञान न होने के कारण भी कई एक भ्रमपूर्ण कथाओं पर प्रायः विश्वास किया गया है। उन सबकी अनैतिहासिकता को पूरी तरह साबित करने के लिए ही इन बातों की भी आवश्यकतानुसार यथास्थान विशद विवेचना करनी पड़ी।

महेशदास और उसके वंशजों के समकालीन पुराने चित्र सीतामऊ राजघराने के चित्र-संग्रह में विद्यमान हैं; उन्हीं के फ़ोटो इस ग्रन्थ में प्रकाशित किए जा रहे हैं। रतनसिंह की छत्री का फ़ोटो कोई नौ-दस वर्ष पहिले लिया गया था। जालोर के किले का चित्र जोधपुर राज्य के पुरातत्व विभाग से प्राप्त हुआ है, जिसके लिए महामहोपाध्याय पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ का अनुगृहीत हूँ।

सारे प्रयत्न किए जाने पर भी यत्र-तत्र त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक ही है। आशा करता हूँ कि इतिहास के विद्वान ऐसी त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करने की कृपा करेंगे, जिससे कि अगले संस्करण में यथोचित सुधार किए जा सकें।

"रघुबीर निवास"
सीतामऊ (मालवा)
जुलाई ६, १९४७ ई०

रघुबीरसिंह

पुनश्च—

पूरी लिखी जाने के बाद भी कागज की कमी और धर्मान्धता के फलस्वरूप देश में फैली हुई आन्तरिक अशान्ति तथा उससे उठने वाली अनेकानेक समस्याओं के कारण पूरे एक वर्ष तक इस पुस्तक को छपवाने का कोई भी प्रबन्ध नहीं हो सका। अन्त में इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस ने उसे छाप देने का भार उठाया, जिसके लिए मैं उक्त सुप्रसिद्ध प्रेस के अधिकारियों का बहुत ही कृतज्ञ हूँ।

और आज जब रतलाम के प्रथम राज्य का यह इतिहास प्रकाशित होने जा रहा है, तब तक भारत का सारा राजनैतिक नकशा ही एकबारगी बदल चुका है। इन पिछले ढाई वर्षों में भारत में अनेकों रक्त-विहीन क्रान्तियाँ हो गई हैं। शताब्दियों की राजनैतिक दासता के कठोर सुदृढ़ बन्धनों को तोड़ कर आज भारत स्वाधीन हो गया है। और उस स्वाधीन स्वच्छन्द वातावरण में अपनी राष्ट्रीय शक्ति का अनुभव कर भारत में जनतन्त्रवाद की बाढ़-सी आगई है, जिसके फलस्वरूप भारत में हज़ारों वर्षों से प्रचलित राजाओं के एकसत्तात्मक शासन की प्रथा का पूर्णतया अन्त हो गया। जनतन्त्रवाद के साथ ही राजनैतिक एकीकरण तथा सांस्कृतिक और हजारों वर्षों पुरानी ऐतिहासिक परम्पराओं के आधार पर बड़ी-बड़ी राजनैतिक इकाइयों के पुनः संगठन का प्रश्न देश के सामने उठ खड़ा हुआ था, जिससे सैकड़ों वर्ष पुराने सारे छोटे-बड़े राज्यों के पृथक अस्तित्व का आगे भी बना रहना एक असंम्भव बात हो गई।

यों शताब्दियों तक विभाजित तथा राजनैतिक दृष्टि से सर्वथा अस्तित्व-विहीन रह कर अब मालवा पुनः एक सुसंगठित एवं शक्तिशाली राजनैतिक इकाई बनने लगा है। यह विधि की एक अनोखी

विडम्बना ही जान पड़ती है कि जब यह ग्रंथ प्रकाशित होने वाला है, तब तक रतलाम के उस प्रथम राज्य के संस्थापक रतनसिंह के वंशजों द्वारा ईसा की १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में संस्थापित तीनों राज्यों के---सीतामऊ, रतलाम के वर्तमान द्वितीय राज्य एवं सैलाना के---कोई दो सौ वर्षों से भी अधिक पुराने स्वतन्त्र अस्तित्व का पुनर्संगठित मालवा में सम्पूर्ण विलय भी एक भूतकालीन ऐतिहासिक घटना मात्र रह गया है।

परन्तु जिन राजघरानों ने पिछली अनेकों शताब्दियों में अनगिनित राजनैतिक उलट-फेर देखे, जिन्होंने एक के बाद दूसरा यों कई एक राज्यों की स्थापना की तथा बाद में उन्हीं को मिटते भी देखा, उनके लिए यह नई राजनैतिक परिस्थिति कोई सर्वथा अनोखी बात नहीं है। अपने साथी-सैनिकों तथा राज्य-निवासी रूपी जन-समाज का नेतृत्व करके ही ये राजघराने पहिले भी राजनैतिक क्षेत्र में आगे बढ़े थे। देश तथा जनता की सेवा में वे अनेकों बार जान पर खेले और कभी-कभी अपने जीवन तक को उन्होंने उनके हितार्थ बलिदान कर दिया। देश और राष्ट्र की सेवा के इन्हीं आदर्शों पर चल कर उन्हें आगे भी बहुत-कुछ राजनैतिक महत्त्व तथा समाज में अद्वितीय गौरव प्राप्त हो सकेगा।

इतिहासकार के लिए तो ऐसे राज्यों का बनना-बिगड़ना तथा किन्हीं राजघरानों का उत्थान-पतन प्रान्तीय इतिहास की साधारण घटनाएँ मात्र होती हैं। देश तथा प्रान्तों का इतिहास देखते हुए वह तो यही चाहता है कि हमारा प्यारा भारत स्वाधीन, उन्नत और शक्तिशाली हो और हमारा मालवा पुनः पूर्णतया सुसंगठित होकर उस महान राष्ट्र का एक सुसम्पन्न गौरवपूर्ण अंग बने।

"रघुबीर-निवास"
सीतामऊ (मालवा)
मकर-संक्रांति, सं० २००६ वि०

रघुबीरसिंह

विषय-सूची

चित्र-सूची

संकेत-परिचय

अकबर०—"अकबर नामा", बेवरिज कृत उसका अंग्रेज़ी अनुवाद; खण्ड १-३; (बिब० इण्डिका)।

अख़० औरं०—"अख़बारात-इ-दरबार-इ-मुअल्ला" औरंगज़ेब के शासन-काल के; लण्डन की रायल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में प्राप्य; सरकार संग्रह में प्राप्य हस्तलिखित प्रतियों की नक़लें।

आईन०—"आईन-इ-अकवरी", ब्लाकमन और जेरेट कृत उसका अंग्रेज़ी अनुवाद; खण्ड १, दूसरा संस्करण; खण्ड २-३, पहला संस्करण; (बिब० इण्डिका)।

आदाब०—"आदाब-ई-आलमगीरी" (हस्तलिखित); सरकार संग्रह की प्रति की नक़ल।

आ० ना०—"आलमगीर नामा" मुहम्मद काज़िम कृत; (बिब० इण्डिका)।

इण्डिया०—"इण्डिया आफ़ औरंगज़ेब" सर यदुनाथ सरकार कृत।

इर्विन०—"दी आर्मी आफ़ दी इण्डियन मोग़ल्ज़" विलियम इर्विन कृत।

ईलियट०—"दी हिस्ट्री आफ़ इण्डिया" ईलियट और डासन द्वारा सम्पादित; जिल्दें १-८।

ईश्वर०—"फ़तूहात-इ-आलमगीरी" ईश्वरदास कृत (हस्तलिखित); सरकार संग्रह में प्राप्य प्रति की नक़ल।

उदय०—"उदयपुर राज्य का इतिहास" डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत; जिल्दें १-२।

औरंग०—"हिस्ट्री आफ़ औरंगज़ेब" सर यदुनाथ सरकार कृत; जिल्दें १-५।

कम्बू०—"आमल-इ-सालेह" मुहम्मद सालेह कृत; जिल्दें १-३; (बिब० इण्डिका)।

ख़फ़ी०—"मुन्तुख़ब-उल्-लुबाब" ख़फ़ी ख़ाँ कृत; जिल्द २; (बिब० इण्डिका)।

ख्यात०—"जोधपुर राज्य की ख्यात" (हस्तलिखित); ओझा संग्रह में प्राप्य प्रति की नक़ल; जिल्दें १-४।

गुरूजी०—मालवा के राठौड़ों के सीतामऊ-निवासी राजगुरु निर्भयसिंह की हस्त-लिखित पोथियाँ ।

जय० अख़०—"अख़बारात-इ-दरबार-इ-मुअल्ला"; जयपुर राज्य के मुहाफ़िज़-ख़ाने में प्राप्य; श्री रघुबीर लायब्रेरी, सीतामऊ, के लिए की गई उनकी हस्तलिखित नक़लें ।

विभिन्न मुग़ल सम्राटों के समय के अख़बारों का निर्देश यों किया गया है :—

औरं० — औरंगज़ेब;
आज़म० — आज़मशाह;
बहादुर० — बहादुरशाह;
फ़र्रुख़० — फ़र्रुख़सियर ।

जहाँगीर०—"हिस्ट्री आफ़ जहाँगीर" डा० बेणीप्रसाद कृत ।

ज़फ़र०—'ज़फ़रनामा-इ-आलमगीरी" आक़िल ख़ाँ रज़ी कृत; सरकार संग्रह में प्राप्य हस्तलिखित प्रति की नक़ल ।

अलीगढ़ हिस्टारिकल इंस्टीटयूट ने इसी ग्रंथ का ख़ान बहादुर मौलवी हाजी ज़फ़र हुसैन से सम्पादन करवा कर "वाक़ियात-इ-आलमगीरी" नाम से कुछ ही वर्ष पहिले उसे प्रकाशित किया है ।

जोधपुर०—"जोधपुर राज्य का इतिहास" डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत; जिल्दें १-२ ।

टाड०—"एनल्ज़ एण्ड एण्टीक्विटीज़ आफ़ राजस्थान" कर्नल जेम्स टाड कृत; आक्सफ़र्ड संस्करण; जिल्दें १-३ ।

दारा०—"दारा शिकोह" डा० कालिकारंजन क़ानूनगो कृत; जिल्दें १-२ ।

नैणसी०—"मुहतो नैणसी की ख्यात"; काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित; खण्ड १-२ ।

ताप०—"प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास" डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत ।

पाद०—"पादशाह नामा" अब्दुल हमीद लाहोरी कृत; खण्ड १-२; (बिब० इण्डिका) ।

प्राचीन०—"प्राचीन राजवंश" पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ कृत; खण्ड १-३ ।

फ़ेहरिस्त०—जालोर के गाँवों की सन् १६६२-१६६३ ई० में तैयार की हुई हस्तलिखित फ़ेहरिस्त ।

फ़ैयाज़०—"फ़ैयाज़-उल्-क़वानीन"; लखनऊ के नवाब अली हुसैन ख़ाँ के संग्रह में प्राप्य हस्तलिखित प्रति से श्री रघुबीर लायब्रेरी, सीतामऊ, के लिए की गई नक़ल ।

बनारसी०—"हिस्ट्री आफ़ शाहजहाँ" डा० बनारसी प्रसाद सक्सेना कृत ।

बरनियर०—"ट्रैवेल्ज़ इन दी मुग़ल एम्पायर" फ़ेन्सिज़ बरनियर कृत; अंग्रेज़ी अनुवाद; आक्सफ़र्ड संस्करण ।

बसातीन०—"बसातीन-उस्-सलातीन" मुहम्मद इब्राहिम अल् ज़ुबैरी कृत; हैदराबाद में लिथो पर छपी हुई प्रति ।

बाँसवाड़ा०—"बाँसवाड़ा राज्य का इतिहास" डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत ।

बीकानेर०—"बीकानेर राज्य का इतिहास" डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत, खण्ड १-२ ।

भीम०—"तारीख़-इ-दिलकश" भीमसेन कृत; सरकार संग्रह में प्राप्य हस्तलिखित प्रति की नक़ल; जिल्दें १-२ ।

मनुची०—"स्टोरिया डी मोगोर" मनुची कृत; इर्विन द्वारा अनुवादित एवं सम्पादित; जिल्दें १-४ ।

मा० आ०—"मासिर-इ-आलमगीरी" मुहम्मद साक़ी मुस्तैद ख़ाँ कृत; (बिब० इण्डिका) ।

मा० उ०—"मासिर-उल्-उमरा" समसामुद्दौला शाह नवाज़ ख़ाँ कृत; जिल्दें १-३; (बिब० इण्डिका) ।

मारवाड़०—"मारवाड़ राज्य का इतिहास" पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ कृत; खण्ड १-२ ।

मासूम०—"तारीख़ शाह शुजाई" मासूम कृत; सरकार संग्रह में प्राप्य हस्तलिखित प्रति ।

मेहता०—सीतामऊ-निवासी मेहता नाथूलाल के घराने के प्राचीन काग़ज़ों का संग्रह ।

रतन०—"महाराजा श्री रत्नसिंह जी का संक्षिप्त जीवन चरित्र" नारायण गणेश शिरसालकर कृत ।

रतलाम०—रतलाम राज्य का गेज़ेटियर, (अंग्रेज़ी); सन् १९०८ ई० का संस्करण ।

राजव्यास०—सीतामऊ राजघराने के राजव्यास शिवनारायण के घराने के प्राचीन काग़ज़ों का संग्रह ।

राणी०—मालवा के राठौड़ों के सीतामऊ-निवासी राणीमंगा जसराज की हस्त-लिखित पोथियाँ ।

राम०—"रामचरित्र" सुकवि रघुनाथ 'रसाल' कृत काव्य; भास्कर रामचन्द्र भालेराव सूबेदार के संग्रह में प्राप्य हस्तलिखित प्रति से श्री रघुबीर लायब्रेरी, सीतामऊ, के लिए की गई नक़ल ।

रासो०—"रतन रासो" कवि कुम्भकर्ण कृत काव्य; श्री रघुबीर लायब्रेरी, सीता-मऊ, में प्राप्य हस्तलिखित प्रति ।

लताइफ़०—"लताइफ़-उल्-अख़बार" लेखक अज्ञात; सरकार संग्रह में प्राप्य हस्तलिखित प्रति की नक़ल ।

वचनिका०—"वचनिका राठौड़ रतनसिंघजी री महेसदासौत री" कवि खड़िया जगा कृत; (बिब० इण्डिका) ।

वारिस०—"पादशाह नामा" मुहम्मद वारिस कृत; सरकार संग्रह में प्राप्य हस्तलिखित प्रति की नक़ल; जिल्दें १-२ ।

वीर०—"वीरविनोद" कविराजा श्यामलदास कृत; जिल्दें १-२ ।

वंश०—"वंश भास्कर" मिश्रण सूर्यमल कृत; जिल्दें ३-४ ।

शिवाजी०—"शिवाजी" सर यदुनाथ सरकार कृत; तीसरा संस्करण ।

सनदें०—"सीतामऊ राज्य में प्राप्त सनदें, माफ़ी-नामे, आदि"—सीतामऊ राज्य के लेण्ड रेकर्ड आफ़िस द्वारा एकत्रित हस्तलिखित नक़लों के संग्रह की प्रति ।

सीतामऊ०—सीतामऊ राज्य का गेज़ेटियर, (अंग्रेज़ी); सन् १९०८ ई० का संस्करण ।

हाउस०—"हाउस आफ़ शिवाजी" सर यदुनाथ सरकार कृत; प्रथम संस्करण ।

खण्ड–१

पूर्व-पुरुष

(१५६८—१६४७ ई०)

अध्याय १

मुगलों की राजपूत-नीति और उसका परिणाम

"अकबर के विचारपूर्ण मस्तिष्क पर प्रारंभ से ही राजपूतों की वीरता, सच्चाई एवं उनकी एकनिष्ठ स्वामिभक्ति का पूरा-पूरा सिक्का जम गया था। उसका यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि राजपूतों को अपने सद्यः स्थापित मुग़ल साम्राज्य का सशक्त आधार-स्तंभ बना कर ही वह पूरब के अर्ध अभिभूत जंगली अफ़ग़ानों के विरोध, अपने ही उज़बक तथा अन्य मुसलमान सेनाधिकारियों के विश्वासघात, पश्चिमी प्रदेशों में अपने ही भाइयों के लोभ तथा अपने ही समान तैमूर के अन्य वंशज मिर्ज़ाओं की कट्टर शत्रुता का सफलतापूर्वक सामना कर सकेगा। वह अच्छी तरह जानता था कि राजपूत जाति से ही उसे अपने अंगरक्षक चुनने पड़ेंगे और उन्हीं में से वह ऐसे उत्कट योद्धाओं के दल जुटा सकेगा जिनके साहस और स्वामिनिष्ठा को संसार का बड़ा से बड़ा प्रलोभन भी डिगा नहीं सकता था, और अपने अन्य मुसलमान साथियों या तैमूरी भाइयों के समान जो कभी भी उसके प्रतिद्वन्द्वी नहीं बन सकते थे। उसे विश्वास था कि यदि राजपूतों के हृदयों पर वह विजय पा सका तो ये ही राजपूत इस नवनिर्मित साम्राज्य के विरोधपूर्ण घनाच्छादित भाग्याकाश में उस साम्राज्य की भावी आशाओं तथा उसकी स्थायी सत्ता के उद्‌गम का एक मात्र अटल सितारा बन कर चमकेंगे।"[1]

---

[1] सर यदुनाथ सरकार कृत "हिस्ट्री आफ़ जयपुर" (अप्रकाशित)।

और इन राजपूतों के हृदय पर विजय पाने के लिए अकबर ने भरसक प्रयत्न ही नहीं किया परन्तु अपने इस उद्देश्य में उसे पूरी-पूरी सफलता भी मिली। राजपूतों के प्रति अकबर की इस नवीन नीति का परिणाम यह हुआ कि राजस्थान के प्रायः सब शक्तिशाली राजपूत राजघराने मुग़ल साम्राज्य के पृष्ट-पोषक एवं मुग़ल सम्राटों के विश्वासपात्र सेनानायक, विश्वस्त सलाहकार और कठिन समय में काम आनेवाले, सम्राट् एवं साम्राज्य के लिए मरमिटने वाले वीर साहसी सैनानी बन गए। प्रारंभ में अकबर का विरोध करने वाले राजपूत ही आगे चलकर मुग़ल साम्राज्य के स्थायी तथा सुदृढ़ आधार-स्तंभ बने।

आम्बेर के कछवाह, बूँदी के हाड़ा और बीकानेर के राठौड़ राजाओं के समान जोधपुर के राठौड़ शासक भी आगे चलकर अकबर के विश्वस्त अधिकारी, और साम्राज्य के राजपूत राजाओं में प्रमुख गिने जाने लगे। अकबर ने इन सब शासकों को शाही मनसब दिये, और उपयुक्त समझे जाने पर उन्हें साम्राज्य में उच्च पदों पर भी नियुक्त किया। उन नरेशों के साथ ही साथ अकबर ने उनके विभिन्न पुत्रों, पौत्रों, भाई-भतीजों तथा अन्य निकट सम्बन्धियों को भी अपनाया। छोटा-वड़ा मनसब देकर उन्हें भी शाही सेना में रख लिया, और ज्यों-ज्यों उनकी योग्यता, साहस तथा विश्वसनीयता का पता लगा त्यों-त्यों उनके मनसब में वृद्धि की जाकर उन्हें उपयुक्त उच्च पदों पर नियुक्त किया गया। इस प्रकार जहाँ विभिन्न नरेशों के भाई-बेटों तथा सम्बन्धियों को अपना कर अकबर ने उन नरेशों के सम्भवनीय विरोध या विद्रोह का अन्त करने का प्रयत्न किया, वहाँ ही इन भाई-बेटों को अपनी योग्यता, साहस तथा वीरता के बल पर उन्नति कर आगे बढ़ने, मान और पद वृद्धि

तथा सेवाओं के उपयुक्त पुरस्कार पाने का अवसर भी मिला। अनेकानेक सुयोग्य व्यक्ति उच्च पदों पर जा पहुँचे तथा कई एक को जागीर एवं ज़मीन्दारियाँ मिलीं, जिनसे कई एक नवीन छोटे-मोटे राज्यों की नींव भी पड़ी।

अकबर की इस नीति को उसके पुत्र जहाँगीर ने अपनाया और शाहजहाँ ने भी उसको जारी रखा। अपने कट्टर धार्मिक विचारों के फलस्वरूप यद्यपि औरंगज़ेब ने कई एक बातों में राजपूतों के प्रति कड़ाई दिखाई थी, परन्तु उसने भी इस नीति के लाभों का अनुभव कर इसमें विशेष फेर-फ़ार नहीं किया। इस नीति के फलस्वरूप जहाँगीर के शासनकाल में किशनगढ़ राज्य की नींव पड़ी। शाहजहाँ ने कोटा राज्य की स्थापना की और शाहपुरा राज्य की नींव डाली। औरंगज़ेब के समय में भी बनेड़ा (मेवाड़) के राजाधिराज के पूर्वजों को मालवा में एक बड़ी जागीर मिली थी।

रतलाम के इस प्रथम राज्य की स्थापना भी मुग़ल सम्राटों की राजपूत शासकों के छोटे भाई-भतीजों को अपनाने की इस नीति का परिणाम था। शाहजहाँ की प्रसन्नता के फलस्वरूप ही इस राज्य की स्थापना हुई थी। एक बार इस घराने की विश्वसनीयता, साहस एवं एकनिष्ठा का पूरा-पूरा पता लग जाने पर औरंगज़ेब के समान कट्टर शासक ने भी अपना ही विरोध करने वाले रतनसिंह के पुत्रों और वंशजों को अपनाया और उन्हें महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया। इस राज्य के तीन शासकों ने अपने राज्य से दूर देश-विदेश में मुग़ल साम्राज्य की सेवा करते हुए ही अपने प्राण भी अर्पण कर दिए।

और जब कोई ३८ वर्ष के अस्तित्व के बाद औरंगज़ेब की अप्रसन्नता ने इस राज्य का अन्त कर दिया तब वह पदच्युत शासक केशव-

दास अपना राज्य खोकर भी सुदूर दक्षिण में उसी तत्परता के साथ शाही सेवा करता रहा । उसी रतनसिंह के भाई-बेटों नें शाही सेवा में कई एक सुदूर प्रान्तों की यात्रा की, कठिनाइयाँ उठाईं, और उनकी अस्थियाँ कहाँ-कहाँ बिखरीं इसका लेखा तक रखना कठिन हो गया । यही कारण था कि इस राज्य का अन्त करके भी औरंगज़ेब ने उसके पद-च्युत शासक तथा उसके अन्य सम्बन्धियों को किसी न किसी रूप में शाही सेवा में बनाए रखा और ईसा की १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उन्हें पुरस्कार-स्वरूप नई जागीरें दीं, जिनसे वर्तमान सीतामऊ और रतलाम राज्यों की नींव पड़ी ।

अध्याय २

दलपत[1]

१. दलपत के पूर्वज एवं उसका प्रारंभिक जीवन

जोधपुर के प्रतापी शासक वीरवर राव मालदेव की मृत्यु के बाद उसका छठा पुत्र राव चन्द्रसेन जोधपुर का शासक बनकर राज-गद्दी पर बैठा, और उसके बड़े भाई उदयसिंह को अपने पिता द्वारा दी गई फलौदी की जागीर लेकर ही सन्तोष कर लेना पड़ा। सन् १५७० ई० में अकबर अजमेर होता हुआ, नवम्बर १५ को नागौर पहुँचा। जोधपुर का शासक राव चन्द्रसेन और बीकानेर का शासक राय कल्याणमल नागौर में आकर अकबर से मिले।[2] उसी समय उदयसिंह भी फलौदी से आकर अकबर के दरबार में उपस्थित हुआ, और उसने अकबर की आधीनता स्वीकार की। अकबर ने अगस्त ५, १५७१ ई० से उदयसिंह को मनसब भी दे दिया,[3] और तब से

---

[1] ख्यात० (पृ० ९८, १०२ और १०६), मारवाड़० (१, पृ० १७८), तथा फ़ारसी ग्रन्थों में इसका नाम केवल "दलपत" ही लिखा है। उसकी दी हुई सनदों में भी उसके नाम का यही स्वरूप लिखा जाता था, एवं यही प्राचीन स्वरूप यहाँ रखा गया। रतन० (पृ० ३), तथा रतलाम और सीतामऊ के गेजेटियरों में इनका नाम 'दलपतसिंह' लिखा है। ऐसा जान पड़ता है कि १९वीं शताब्दी में ही इस नाम के अन्त में "सिंह" जोड़ा गया।

[2] अकबर०, २, पृ० ५१७-८।

[3] ख्यात०, १, पृ० ८८।

वह निरन्तर शाही सेवा में लगा रहा। सन् १५८३ ई० में अकबर ने उसे जोधपुर का राजा बनाया,[४] और कोई बारह वर्ष तक उसने जोधपुर पर राज्य किया। उदयसिंह का शरीर स्थूल था एवं वह "मोटा राजा" के नाम से प्रसिद्ध था, और फ़ारसी इतिहास-ग्रन्थों में भी उसका उल्लेख प्रायः इसी नाम से किया गया है। उदयसिंह की मृत्यु सन् १५९५ ई० में लाहौर में हुई थी। उसके बाद उसका छठा लड़का सूरसिंह जोधपुर की गद्दी पर बैठा।

इन्हीं मोटे राजा के चौथे पुत्र दलपत[५] के वंशज ने रतलाम राज्य की स्थापना की। मोटे राजा की सातवीं रानी अजायब दे ने दलपत को जन्म दिया था। यह रानी अजायब दे, सांचोरा चौहान मेहकरण की पुत्री थी[६]। दलपत का जन्म रविवार, जुलाई १८,

---

[४] ख्यात, १, पृ० ६६-६७; मारवाड़०, १, पृ० १७२।

[५] मारवाड़०, १, पृ० १७८-६। गुरूजी० में भी दलपत को चौथा पुत्र ही लिखा है। ख्यात० (१, पृ० १०१-१०८) में उदयसिंह के पुत्रों के नाम किसी क्रम विशेष से नहीं लिखे हैं। कुछ पुत्रों की जन्मतिथियाँ वहाँ दी हैं, जिनको क्रमानुसार रखने से भी दलपत चौथा पुत्र होता है।

आईन०, १, पृ० ३८६ पर महेशदास के पिता दलपत को ब्लाकमन ने बीकानेर के राजा रायसिंह का ज्येष्ठ पुत्र बताया है। नामों में साम्य के कारण ही ब्लाकमन ने यह ग़लती की है।

[६] ख्यात०, १, पृ० १०२; नैणसी०, १, पृ० १७६। दलपत, महेशदास एवं रतनसिंह का सांचोरा चौहानों के इस घराने के साथ यही एकमात्र सम्बन्ध था। इसके बाद उनका कोई भी अन्य वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हुआ।

गुलाबशंकर कल्याणजी वोराकृत "पंचेड़ ठिकाने के इतिहास" में सांचोरों के प्राचीन इतिहास एवं राव शार्दूल के पूर्वजों की पीढ़ियों के नाम से जो विवरण तथा जो वंश-वृक्ष (पृ० १८-६४) दिया है, वह सारा विवरण और वंश-वृक्ष सोनगरा चौहानों का है, सांचोरा चौहानों का नहीं। राव शार्दूल सांचोरा का

सन् १५६८ ई० (श्रावण विदि ९, १६२५ वि०) को हुआ था[७]। दलपत को उसके निर्वाह के लिए जोधपुर राज्य के परगनों में से वलाहेड़ा का कुछ हिस्सा जागीर में मिला[८]। किसी किसी जगह दलपत को खेरवा और पीसांगन के प्रदेश के मिलने का उल्लेख भी मिलता है[९]। दलपत की सारी जागीर की आमदनी कोई सवा दो लाख दाम की थी[१०]।

पिता सावंतसिंह, मेहकरण सांचोरा का पुत्र था, भाण अखेराजोत के पुत्र नारायणदास सोनगरा का पुत्र न था। नामों के साम्य से ही वोरा ने ऐसी भयंकर भूल की। वोरा का यह कथन भी कि लोला के सांचोरा जाकर रहने से उसके वंशज सांचोरा कहलाए सर्वथा भ्रमपूर्ण है। सांचोरा चौहानों का आदि पुरुष विजयसिंह था, लोला सोनागरा नहीं। विजयसिंह को नैणसी ने राव आल्हण नाडूलवाले का पुत्र लिखा है; यह राव आल्हण कौन था इस विषय पर इतिहासकार निश्चित निर्णय नहीं दे सके हैं। सांचोरा चौहानों का ठीक विवरण तथा पीढ़ियाँ नैणसी ने दी है (१, पृ० १७१-१८१); रासो० में सांचोरा चौहानों के विवरण से भी नैणसी द्वारा दी गई वंशावली का ही समर्थन होता है (पृ० १४२-४)।

[७] ख्यात०, १, पृ० १०२, १०६; मारवाड़०, १, पृ० १७८।

[८] गुरूजी०। सम्भव है रायपुर-लूणी नदी पर स्थित बीलाड़ा क़स्बे के नाम का ही यह बिगड़ा हुआ स्वरूप हो। राणी० में मलाहेड़ा नाम मिलता है।

गुरूजी० के अनुसार यह जागीर दलपत को सन् १५७८ ई० (सं० १६३५ वि०) में मिली थी; परन्तु यह संवत ग़लत जान पड़ता है। राणी० के अनुसार यह जागीर सन् १५९६ ई० (सं० १६५३ वि०) में मिली थी। संभव है उदयसिंह की मृत्यु पर सूरसिंह ने अपने बड़े भाई को यह जागीर देकर उसके निर्वाह का प्रबन्ध किया हो।

[९] राणी०। इस जागीर का भी सन् १५९६ ई० (सं० १६५३ वि०) में ही मिलने का उल्लेख है।

[१०] गुरूजी०। मारवाड़०, १, पृ० १७८ पर रेऊजी ने लिखा है कि "दल-

अपने पिता, उदयसिंह के ही शासनकाल में सन् १५८६ ई० (सं० १६४३ वि०) में अपने अन्य तीन भाई भगवानदास, भोपत और जैतसिंह के साथ दलपत भी सिंधलों पर चढ़ कर गया था एवं वहाँ पहुँचकर उनके गावों को लूटा था।[11]

२. दलपत के अन्तिम वर्ष

दलपत के जीवन का विशेष विवरण नहीं मिलता है।[12] उसकी माता के सम्बन्ध से दलपत का मामा सावन्तसिंह तथा उसके अन्य दूर के भाई-भतीजे भी दलपत की सेवा में ही रहते थे। सावन्तसिंह के भाई रायमल का पुत्र, भाण, सावन्तसिंह के काका लूणा के पौत्र, सूजा, और सावन्तसिंह के दूर के सम्बन्ध से काका के पुत्र, भोजराज का भी दलपत की सेवा में काम आने का उल्लेख नैणसी की ख्यात

पत को उदयसिंह ने जालोर का प्रान्त जागीर में दे दिया।" राणी० में भी जालोर के दिये जाने का उल्लेख मिलता है, परन्तु यह कथन ठीक नहीं। उदयसिंह के शासनकाल में जालोर का परगना कभी भी जोधपुर राज्य के अन्तर्गत नहीं रहा; सूरसिंह को भी यह परगना सन् १६१६ ई० के बाद ही मिला था, एवं इस परगने के दिये जाने का सवाल ही नहीं हो सकता था। ख्यात०, १, पृ० ६७, १०८, १४२; मारवाड़०, १, पृ० १६४-५।

[11] ख्यात०, १, पृ० ६८।

[12] अक्तूबर, १६०३ ई० में शाहज़ादे सलीम के साथ मेवाड़ पर चढ़ाई के लिये जाने के हेतु नियुक्त किये गये सेनानायकों में ओझा ने मोटा राजा उदयसिंह के बेटे दलपत का भी उल्लेख किया है (उदय०, १, पृ० ४७८); परन्तु यह कथन ठीक नहीं। इस चढ़ाई पर बीकानेर का कुँअर दलपत तथा मोटा राजा का पुत्र शक्तिसिंह नियुक्त हुए थे। दलपत के मुग़ल मनसबदार बनने का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।

में मिलता है।[13] सावन्तसिंह के पुत्र तथा अन्य सम्बन्धी सांचोरा चौहान आगे चल कर भी दलपत के पुत्रों की सेवा करते रहे।

अपने पिता की मृत्यु के बाद दलपत ने अपना स्वतन्त्र प्रबन्ध करना प्रारम्भ कर दिया था। सोमवार, मई १५, १५९८ ई० को उसने व्यास हरि को अपने घराने का राजव्यास नियुक्त किया, और तत्सम्बन्धी सारे नेग दस्तूर निश्चित कर उनकी सनद व्यास हरि को देदी। बेरवाड़ा नामक स्थान पर यह सनद लिखी गई थी।[14]

अपने पिता की मृत्यु के अनन्तर दलपत बहुत साल तक नहीं जीता रहा। सन् १६०० ई० (सं० १६५६ वि०) में जब उसकी मृत्यु हुई[15] वह ३१ वर्ष का ही था। दलपत की माता को पुत्र-मृत्यु का दुख देखना पड़ा। दलपत की मृत्यु के कोई २६-२७ साल बाद ही उसका देहान्त हुआ।[16]

---

[13] नैणसी०, १, पृ० १७६-१७७, १७९-१८०।

[14] राजव्यास०। व्यास हरी दायमा ब्राह्मण था। उसके वंशज आज भी सीतामऊ राजघराने के राजव्यास हैं; यह सनद आज भी उनके पास विद्यमान है।

[15] गुरूजी०। गुरूजी० में दलपत के मृत्युस्थान का उल्लेख नहीं है। राणी० में दलपत की मृत्यु मथुरा में १६०९-१६१० ई० (सं० १६६६ वि०) में होना लिखा है। राणी० में दिया हुआ यह संवत ग़लत जान पड़ता है। गुरूजी० में एक उल्लेख इस बात का भी है कि १६०४–१६०५ ई० (सं० १६६१ वि०) में महेशदास ने राजगुरू को अपने घराने का विवरण लिखवाया था, जिससे यह स्पष्ट है कि उस समय तक दलपत की मृत्यु हो चुकी थी और महेशदास इस घराने का प्रमुख व्यक्ति बन चुका था।

[16] गुरूजी०। उसकी मृत्यु आदि का विशेष विवरण आगे देखो।

दलपत के अनेक रानियाँ थीं;[१७] जिनमें से एक रानी रायकुँअर कछवाही थी। यह रानी आम्बेर के सुप्रसिद्ध राजा भगवानदास की पुत्री और राजा मानसिंह की बहिन थी। राजा भगवानदास ने उसे दहेज़ में बहुत द्रव्य दिया था।[१८]

दलपत के पाँच पुत्र हुए। महेशदास रानी कुसुम कुँअर भटयाणी[१९] का पुत्र था। पीथापुर की बाघेली रानी ने जुझारसिंह[२०]

---

[१७] गुरूजी० तथा कुछ ख्यातों में केवल सात ही रानियों का उल्लेख मिलता है। राणी० में नौ रानियों के नाम दिये हैं। कई ख्यातों में तो केवल पाँच ही रानियों के नाम मिलते हैं।

[१८] राणी०; रासो०, पृ० १५। ख्यातों में इस रानी के दूसरे नाम छत्र-कुँवर और रतनकुँवर दिये हैं। गुरूजी० के अनुसार इस रानी का नाम हरकुँवर था और वह आम्बेर के भगवन्तदास भारमलोत के छोटे पुत्र अखेराज की पुत्री थी। अखेराज के लिए देखो—नैणसी०, २, पृ० १८।

[१९] ख्यातों में इस रानी के दूसरे नाम मानकुँवर और केसरकुँवर भी मिलते हैं। यह भटयाणी रानी केलणोत भाटी पंचायण के पुत्र गोयन्द अथवा गोविन्ददास की बेटी थी। इसी रानी की एक बहन दलपत के भाई, मारवाड़ के शासक महाराजा सूरसिंह को ब्याही थी। गुरूजी०; राणी०; ख्यात०, १, पृ० १४६; नैणसी०, २, पृ० ३६६-३६७; मारवाड़०, १, पृ० १८१-१८३।

दलपत की इस भटयाणी रानी के जोगीदास नाम का एक ही भाई था। उसके पाँच पुत्रों में सबसे बड़े दो पुत्र, रघुनाथ, और जगन्नाथ, विशेष उल्लेखनीय थे। जोगीदास और उसके ये दोनों बड़े लड़के भी महेशदास के समान महाबत खाँ की सेना में नौकर थे। जगन्नाथ का उल्लेख करते समय पाद० के लेखक ने उसे महेशदास का सम्बन्धी लिखा है। नैणसी०, २, पृ० ३६६-७; पाद०, १, पृ० ५०६; १ (खण्ड २), पृ० ३८।

[२०] अपने भाई महेशदास के समान, जुझारसिंह भी महाबतखाँ की सेना में नौकर था। मंगलवार, अप्रेल ६, १६३३ ई० को दौलताबाद के किले पर

और रार्जासह[२१] नामक दो पुत्रों को जन्म दिया था। कन्हीराम और जसवन्तसिंह[२२] लाखासर वाली रानी साहिबकुँअर

हमला करते समय वीरतापूर्वक लड़ता हुआ वह मारा गया। रासो०, पृ० १५, १७, २२, २६, ३२, ३८, ३६, ४२; पाद०, १, पृ० ५१३। जुझारसिंह का पुत्र पृथ्वीराज महेशदास के पुत्र, रतनसिंह की सेवा में रहता था। रासो०, पृ० ७०। पृथ्वीराज के वंशज दलपतोत पृथ्वीराजोत कहलाते हैं। पृथ्वीराजोत राठोड़ों के कई एक घराने आज भी मालवा में विद्यमान हैं। झाबुआ राज्य के अन्तर्गत जामली ठिकाने के ठाकुर भी पृथ्वीराजोत राठौड़ हैं।

दलपत के मामा सांचोरा चौहान सावन्तसिंह के चौथे और पाँचवें पुत्र, भीम और कल्ला, जुझारसिंह के यहाँ नौकर थे एवं उसी की सेवा में काम आए। नैणसी०, १, पृ० १७६-७।

[२१] रार्जासह भी महाबतखाँ की सेना में नौकर था, और जुझारसिंह के साथ वह भी मंगलवार, अप्रेल ६, १६३३ ई० को दौलताबाद के किले पर हमला करते समय लड़ता हुआ काम आया। रासो०, पृ० १५, १७, २२, २६, ३२, ३८, ३६, ४२; पाद०, १, पृ० ५१३। उसके पुत्र, भावसिंह, गोपीनाथ और विष्णुदास, महेशदास के पुत्र रतनसिंह की सेवा में थे। रासो०, पृ० ७०, १०३। रार्जासह के वंशज रार्जासहोत राठौड़ कहलाते हैं, और उनके कई घराने आज भी मालवा में विद्यमान हैं। पाताखेड़ो (जावरा राज्य) और सीखेड़ी (रतलाम राज्य) के ठिकाने इन्हीं रार्जासहोतों के अधिकार में हैं।

[२२] जसवन्तसिंह भी महाबतखाँ की सेना में नौकर था। दौलताबाद के किले पर हमले के समय यह भी सेना में साथ था। रासो०, पृ० १५, १७, २२, ३२, ३८, ३६। महेशदास के जीवन के अन्तिम वर्षों में जसवन्तसिंह ने बादशाही मनसब स्वीकार कर लिया था। सन् १६४७ ई० में उसका मनसब ५ सदी ज़ात -२५० सवार का था (पाद०, २, पृ० ७४८)। शाहजहाँ के अन्तिम वर्षों तक उसका यही मनसब बना रहा (वारिस०, २, पृ० २१७)। शुक्रवार, जून ४, १६४७ ई० को बादशाह ने उसे एक घोड़ा प्रदान कर आम्बेर वाले राजा जयसिंह की सेना में उसे नियुक्त कर बल्ख़ की चढ़ाई पर उसे भेजा (पाद०, २, पृ० ६८४)।

तंवर[२३] के पुत्र थे। कछवाही रानी रायकुँअर के कोई सन्तान न थी; वह कन्हीराम को बहुत चाहती थी और उसी कारण उसका भाई आम्बेर का राजा मानसिंह भी कन्हीराम की पूरी-पूरी सहायता करता था।[२४]

दलपत के तीन-चार पुत्रियों का भी उल्लेख मिलता है। इनमें से एक का विवाह उदयपुर के महाराणा कर्णसिंह के साथ हुआ था। दूसरी का विवाह जैसलमेर के रावल मालदेव के छोटे पुत्र खेतसी

मंगलवार, जनवरी १६, १६४९ ई० को औरंगजेब कन्धार पर चढ़ाई करने के लिए पहली बार नियुक्त किया गया; इस चढ़ाई पर जसवंतसिंह भी औरंगजेब की सेना के साथ गया था (वारिस०, १, पृ० ६९)। जसवन्तसिंह की आगे की जीवनी एवं उसकी मृत्यु का कोई भी हाल नहीं मिलता है।

उसके वंशज जसवन्तसिंहोत कहलाते हैं। इस घराने के वंशज आज भी सीतामऊ राज्य के अन्तर्गत लसूड़ी गाँव में रहते हैं।

[२३] ख्यातों में इसके दूसरे नाम रायकुँवर और हरकुँवर भी मिलते हैं। उसके पिता का नाम केसरीसिंह था। एक ख्यात में इस रानी का नाम पदम कुँवर तथा उसे पाटण के राव चतुर्भज सकतसिंहोत की पुत्री लिखा है। दूसरी में उसे लालसिंह जी की पुत्री देवकुँवर बताया है।

कुछ ख्यातों के अनुसार जसवन्तसिंह इस तंवर रानी का पुत्र नहीं था; दलपत की दूसरी राजावत रानी ने ही उसे जन्म दिया था।

[२४] रासो०, पृ० १५। गुरूजी० में कन्हीराम का नाम और उसके निर्वंश होने का ही उल्लेख है। रासो० में उसका जो हाल मिलता है उससे ज्ञात होता है है कि दलपत का भी कन्हीराम के प्रति विशेष प्रेम था, और दलपति की सारी सम्पत्ति कन्हीराम को ही मिली। वयस्क होने पर राजा मानसिंह की मदद से कन्हीराम ने शाही मनसब प्राप्त किया और तब वह बूंदी के हाड़ा राव रतन सर-बुलंदराय की सेना में नियुक्त हुआ। सन् १६२५ ई० के प्रारम्भिक महीनों में जब शाहजादा खुर्रम ने बुरहानपुर पर हमला किया तब कन्हीराम भी राव रतन

के साथ हुआ ।[२५] तीसरी कन्या का विवाह बूँदी के राव रतन हाड़ा के तीसरे पुत्र हरीसिंह के साथ हुआ ।[२६]

फ़ारसी ग्रंथों में दलपत के नाम के साथ किसी भी पदवी का प्रयोग नहीं किया गया है । परन्तु उसके समय की जो दो-एक सनदें मिलती हैं, उनमें तो दलपत ने स्वयं को "राजा" लिखा है ।[२७] दलपत के व्यक्तित्व, उसके चरित्र, उसकी योग्यता, वीरता आदि का कोई भी विवरण नहीं मिलता है जिसके आधार पर तत्सम्बन्धी कोई विवेचना की जा सके ।

के साथ बुरहानपुर में ही था । राव रतन ने ख़ुर्रम का बड़ी वीरता के साथ सामना किया और सफलतापूर्वक बुरहानपुर की रक्षा की । इस युद्ध में राव रतन के कई राजपूत वीर काम गए; कन्हीराम भी इसी युद्ध में मारा गया । दलपत के मामा, सांचोरा चौहान सावंतसिंह का छठा पुत्र, अज्जा, कन्हीराम के पास नौकर था; वह भी इसी युद्ध में कन्हीराम के साथ काम आया ।

रासो०, पृ० १५-१७, १४२-३; नैणसी०, १, पृ० १७६-७७; जहाँगीर०, पृ० ३८३-४; ईलियट०, ६, पृ० ३९५, ४१८; मा० उ०, २, पृ० २०९-२१० ।

[२५] गुरूजी०; राणी०; बड़वों की ख्यातें । खेतसी के लिए देखो—नैणसी०, २, पृ० ३३५-६ ।

[२६] गुरूजी०, राणी० तथा बड़वों की ख्यातों में से किसी में भी इस विवाह का उल्लेख नहीं मिलता है । परन्तु वंशभास्कर में इस विवाह का विवरण दिया है । वंश०, ३, पृ० २४५५-६ ।

[२७] राजव्यास० ।

अध्याय ३

महेशदास

१. प्रारम्भिक जीवन

दलपत के पुत्र महेशदास का जन्म सोमवार, दिसम्बर २७, १५९६ ई० (माघ विदि ३, सं० १६५३ वि०) को हुआ था।[1] सन् १६०० ई० (सं० १६५६ वि०) के लगभग दलपत की मृत्यु होने के बाद कोई तीन वर्ष की आयु में ही वह अपने पिता की जागीर का अधिकारी हुआ। इस समय महेशदास को पीसांगन का प्रदेश जागीर में मिला था।[2] महेशदास का बाल्यकाल एवं यौवन के प्रारम्भिक दिन पीसांगन में ही बीते। महेशदास का प्रथम विवाह बाल्यावस्था में ही झलाय के नवलसिंह लूणकरण राजावत की पुत्री कुसुमकुँअरदे के साथ हो गया था। सन् १६०८ ई० (सं० १६६५ वि०) में महेशदास की इस रानी ने पीसांगन में गोवर्धननाथ का एक मन्दिर बनवाया था।[3]

---

[1] गुरूजी०।

[2] गुरूजी० में लिखा है कि महेशदास को सं० १६५७ वि० (सन् १६०० ई०) में पीसांगना का परगना मिला। दलपत की मृत्यु के बाद उसकी जागीर का यह हिस्सा महेशदास को निर्वाह के लिए मिला होगा, यह अनुमान होता है। आगे भी कोई सन् १६३३ ई० के बाद तक महेशदास का परिवार पीसांगन में ही रहा, और इसी स्थान से उसने कई एक सनदें दी थीं (राजव्यास०)।

[3] गुरूजी०।

युवा होने पर महेशदास ने इस बात का अनुभव किया कि अपने पिता की तरह घर बैठ रहने से काम न चलेगा। आम्बेर के राजा मानसिंह की मदद से उसके भाई कन्हीराम को शाही मनसब प्राप्त हो गया था।[४] पैतृक द्रव्य भी कन्हीराम के ही अधिकार में था,[५] एवं वह भी प्रारम्भ में शाहज़ादा ख़ुर्रम (जो बाद में शाहजहाँ के नाम से गद्दी पर बैठा) की सेना में नौकर हो गया।[६] कुछ समय बाद उसने यह नौकरी छोड़ कर मारवाड़ के शासक गजसिंह की सेवा स्वीकार की। गजसिंह ने इस सेवा के बदले में महेशदास को कुड़की का पट्टा दिया।[७]

सन् १६२७-२८ ई० (सं० १६८४ वि०) में दलपत की माँ, रानी अजायबदे सांचोरी नर्मदा किनारे स्थित ओंकारेश्वर महादेव के दर्शनार्थ तीर्थयात्रा पर निकली; महेशदास भी अपनी दादी के साथ था।[८] लौटते समय जब वे सीतामऊ के पास पहुँचे, वृद्धावस्था

---

[४] रासो०, पृ० १५। जुलाई ६, १६१४ ई० को राजा मानसिंह की मृत्यु हुई, एवं कन्हीराम को मनसब सन् १६१४ ई० से पहिले ही मिला होगा।

[५] रासो०, पृ० १६।

[६] गुरूजी०; राणी०; ख्यात०, १, पृ० १०६। किस वर्ष महेशदास ख़ुर्रम की सेना में पहुँचा यह निश्चित रूपेण नहीं कहा जा सकता है। सन् १६१६ ई० में ख़ुर्रम का महत्व बढ़ा; सन् १६१६ में जोधपुर के राजा सूरसिंह की मृत्यु के बाद ही ख़ुर्रम को मेड़ता का परगना मिला था, उसी समय महेशदास का ख़ुर्रम के पास पहुँचना सम्भव ज्ञात होता है। ख्यात०, १, पृ० १५१।

[७] ख्यात०, १, पृ० १०६; राणी०। गजसिंह को मेड़ता का परगना सन् १६२३-२४ ई० में मिला था (ख्यात०, १, पृ० १५१)।

कुड़की कस्बा अजमेर से कोई २५ मील पश्चिम में है।

[८] सीतामऊ०, पृ० २ पर सन् १६३४ ई० के बाद ही इस घटना के होने

में इस लम्बी यात्रा की असुविधा और थकावट से बीमार होकर रानी अजायबदें कुँअर का सीतामऊ में ही देहान्त हो गया। उस समय सीतामऊ पर गजमालोत राठौड़ भूमिया घराने का अधिकार था।[१] महेशदास ने अपनी दादी की दाहक्रिया के लिए कुछ ज़मीन चाही, परन्तु भूमिया ने अपने अधिकार की धरती पर दाहक्रिया

का उल्लेख है, परन्तु राणी० के अनुसार यह घटना सं० १६८४ वि० (सन् १६२७-२८ ई०) में ही घटी थी। राणी० में दिया हुआ साल अधिक ठीक जान पड़ता है।

सीतामऊ० के अनुसार महेशदास की माता इस तीर्थ यात्रा पर गई थी और सीतामऊ में उसकी मृत्यु हुई। परन्तु गुरूजी० में दलपत की माँ और महेशदास की दादी का ही सीतामऊ में यों देहान्त होने का लिखा है, जो अधिक विश्वसनीय है। राणी०तथा अन्य ख्यातों में यों सीतामऊ में मृत्यु को प्राप्त होनेवाली रानी का नाम नहीं दिया है कि उससे इस प्रश्न पर कोई निश्चयात्मक प्रकाश पड़ सके।

[१] सीतामऊ० (पृ० ३) के अनुसार ये भूमिया रावत साँगावत राठौड़ों की ही एक शाखा के थे; ईडर राज्य के अन्तर्गत लौंतरा गाँवके रहने वाले थे। जूझारसिंह नामक व्यक्ति के नेतृत्व में अपना गाँव छोड़कर सन् १४५६ ई० के लगभग ये मालवा में चले आए और सीतामऊ कस्बे से एक मील उत्तर में खेड़ा नामक गाँव में बस गए। उस समय इस प्रदेश पर भीलों और मीणा लोगों का ही अधिकार था। इन भूमियाओंने धीरे-धीरे सारे प्रदेश से भीलों को निकाल भगाया और यहाँ अपना अधिकार स्थापित किया। सन् १५४६ ई० के लगभग जूझारसिंह के पौत्र, नागजी ने सीतामऊ कस्बा भीलों से छीन लिया और स्वयं एक स्वाधीन शासक बन बैठा।

सीतामऊ कस्बा तीतरोद परगना के अन्तर्गत था। आईन० (२, पृ० २०७) के अनुसार १६ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में तीतरोद परगने पर डोड़िया राजपूतों का अधिकार था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये भूमिया पूर्णतया स्वाधीन न थे, और इनका अधिकार सीतामऊ कसबे से बाहर बहुत अधिक न था।

करने की आज्ञा न दी। तब क़सबे के क़ाज़ी ने दाहक्रिया के लिए सीतामऊ के तालाब के किनारे अपने बाड़े की ज़मीन में से कुछ हिस्सा महेशदास को दिया। महेशदास ने दाहस्थान पर एक छत्री भी बनवा दी थी, जो आज भी सीतामऊ में विद्यमान है।[१०] कहा जाता है कि सीतामऊ से रवाना होते समय महेशदास ने भूमियाओं पर दग़ाबाज़ी से हमला किया और उन्हें क्षति पहुँचाकर उस विरोध का उनसे बदला लिया।[११]

अक्तूबर २८, १६२७ ई० को जहाँगीर की मृत्यु हो गई। उस समय शाहज़ादा शाहजहाँ दक्षिण में था; अपने पिता की मृत्यु का हाल सुन कर वह आगरा के लिए रवाना हुआ। जनवरी १४, १६२८ ई० को वह अजमेर पहुँचा और वहाँ उसने अपने पुराने साथी, सुप्रसिद्ध मुग़ल सेनापति महाबतख़ाँ को अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया। फ़रवरी ४, १६२८ ई० को शाहजहाँ आगरा में तख़्त पर बैठा; इसी अवसर पर उसने महाबतख़ाँ का मनसब बढ़ाया और उसे ख़ानख़ाना की उपाधि भी दी। अजमेर की सूबेदारी पर महाबत ख़ाँ की नियुक्ति होने के बाद जनवरी-फरवरी, १६२८ ई० (माघ सं० १६८४ वि०) में महेशदास ने राजा सूरसिंह की नौकरी छोड़ दी और वह जाकर महाबत ख़ाँ ख़ानख़ाना की सेना में सम्मिलित हो गया[१२] तथा महाबत ख़ाँ की मृत्यु तक उसी की सेना में बना

---

[१०] इस काज़ी के वंशज आज भी सीतामऊ राज्य के काज़ी हैं, और वह बाड़ा अब भी उन्हीं के अधिकार में है।

सीतामऊ०, पृ० २ पर लिखा है कि उक्त ज़मीन महेशदास ने मोल ली थी।

[११] सीतामऊ०, पृ० ३।

[१२] ख्यात०, १, पृ० १०६; गुरूजी०; राणी०।

रहा। महेशदास के भाई कन्हीराम की मृत्यु बुरहानपुर के युद्ध में हो ही चुकी थी[13], एवं अब महेशदास के बाकी रहे तीन भाई जसवंतसिंह, राजसिंह एवं जुझारसिंह भी महेशदास के समान महाबत ख़ाँ की सेना में जा पहुँचे।[14]

महाबत ख़ाँ की सेना में महेशदास और उसके भाइयों की नियुक्ति होने के कुछ ही महीनों बाद महाबत ख़ाँ की अजमेर से तबदीली हो गई। पहले वह बल्ख़ की तरफ़ भेजा गया, बाद में जुझारसिंह बुन्देला के विद्रोह को दबाने उसे बुन्देलखण्ड जाना पड़ा। सन् १६२९ ई० के नवम्बर-दिसम्बर के लगभग वह दिल्ली का सूबेदार नियुक्त किया गया और मई, १६३२ ई० तक वह इसी सूबेदारी पर बना रहा।[15] इन चार-पाँच बरसों में महेशदास और उसके भाइयों ने महाबत ख़ाँ की सेना के साथ किन-किन प्रदेशों की यात्रा की और क्या-क्या किया इसका कोई भी विवरण नहीं मिलता है।

२. महाबत ख़ाँ के साथ दक्षिण में—दौलताबाद-विजय और परेण्डे का घेरा

गद्दी पर बैठने के समय से ही शाहजहाँ अहमदनगर राज्य को मुग़ल साम्राज्य में मिला लेने के लिए प्रयत्नशील था। मुग़ल साम्राज्य की दक्षिणी सीमा को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से ही शाहजहाँ

---

[13] रासो०, पृ० १६-१७, १४२-३; जहांगीर०, पृ० ३८३-४।

[14] रासो०, पृ० १५, १७; गुरूजी०।

[15] पाद०, १, पृ० १९९, २१२, २३०, २४१, २४२, २५४, ३५२, ४२४; मा० उ०, १, पृ० ७२३; ३, पृ० ३९९; बनारसी०, पृ० १८५-६, ७९-८२, ९९, १३७-३८।

सन् १६२९ ई० के दिसम्बर में स्वयं सेना लेकर दक्षिण गया था। अहमदनगर राज्य के सुप्रसिद्ध मंत्री, मलिक अम्बर का पुत्र, फ़तेह खाँ, सन् १६३१ ई० में पुनः अहमदनगर राज्य का कर्ता-धर्ता बन गया; उसने अपने स्वामी निज़ाम-उल्-मुल्क मुर्तज़ा शाह को क़ैद कर अन्त में उसे विष पिला कर मरवा डाला। फ़तेह खाँ ने मुग़ल साम्राज्य की अधीनता स्वीकार कर शाहजहाँ से सन्धि कर ली। इससे सन्तुष्ट होकर शाहजहाँ अप्रेल ५, १६३२ ई० को बुरहानपुर से उत्तरी भारत के लिए रवाना हो गया।[१६]

इस समय दक्षिणी सूबों की सूबेदारी पर आज़म खाँ नियुक्त था; परन्तु शाहजहाँ को यह आवश्यक जान पड़ा कि आज़म खाँ के स्थान पर किसी अधिक सुयोग्य व्यक्ति की नियुक्ति की जावे। अतएव मई २, १६३२ ई० के दिन शाहजहाँ ने आज़म खाँ को बदल कर महाबत खाँ को दक्षिण और खानदेश की सूबेदारी दी। महाबत खाँ इस समय दिल्ली में था, एवं उसे हुक्म हुआ कि दक्षिणी सूबों के शासन-सम्बन्धी आदेश प्राप्त करने को वह शीघ्र ही बादशाही सेवा में उपस्थित हो। महाबत खाँ के दक्षिण पहुँचने तक उन सूबों की देख-भाल का काम महाबत खाँ के ही पुत्र खान ज़मान को, जो इन दिनों दक्षिण में था, सौंपा गया।[१७]

शाही हुक्म पाकर महाबत खाँ खानखाना दिल्ली से रवाना

---

[१६] पाद०, १, पृ० ३७८-७९, ४०२, ४०९-१०, ४२२; बनारसी०, पृ० ७३-७७, १३१, १३६-१३७। शाहजहाँ बुरहानपुर से २४ रमज़ान को रवाना हुआ; बनारसी०, पृ० १३७ पर शाहजहाँ के रवाना होने की अंग्रेजी तारीख मार्च ६, १६३२ ई० दी गई है, जो सर्वथा ग़लत है। उस दिन २४ शाबान था, २४ रमज़ान नहीं।

[१७] पाद०, १, पृ० ४२४; बनारसी०, पृ० १३८ फुटनोट।

होकर मई २७, १६३२ ई० को आगरा के पास शाहजहाँ की सेवा में जा पहुँचा। जून ७, १६३२ ई० को शाहजहाँ ने महाबत ख़ाँ को दक्षिण के लिए बिदा किया; महाबत ख़ाँ के छोटे लड़के और बड़े लड़के ख़ान ज़मान का लड़का भी महाबत ख़ाँ के साथ चले।[१८] महेशदास राठौड़ और उसके तीनों भाई, जसवन्तसिंह, जुझारसिंह तथा राजसिंह, इस समय महाबत ख़ाँ की सेना में थे; उन सब का महाबत ख़ाँ के साथ दक्षिण जाना अवश्यम्भावी था। दक्षिण जाते समय कुछ काल के लिए महेशदास अपने घर पीसांगन गया था; वहाँ अपने कौटुम्बिक मामलों को तय कर अगस्त, १६३२ ई० के प्रारम्भ में उसने व्यास रघुनाथ को अपने घराने का राजव्यास नियुक्त किया। पीसांगन से वह सीधा ही महाबत ख़ाँ के पास दक्षिण में जा पहुँचा होगा।[१९]

महाबत ख़ाँ की सेना में इस समय महेशदास के कई अन्य सम्बन्धी और साथी भी सेवा कर रहे थे। महेशदास के मामा जोगीदास के दोनों लड़के भाटी जगन्नाथ और भाटी रघुनाथ भी

---

[१८] पाद०, १, पृ० ४२६, ४२८।

[१९] रासो०, पृ० २२; राजव्यास०। अगस्त, १६३२ ई० में महेशदास पीसांगन में ही था, और वहीं उसने रघुनाथ व्यास को दो सनदें दीं। भाद्रपद सु० २, सं० १६८९ वि० (अगस्त ७, १६३२ ई०)को रघुनाथ को राजव्यास के पद पर नियुक्ति की सनद मिली। सात दिन बाद भाद्रपद सु० ९ (१४ अगस्त) को उसे परगना तीतरोद (वर्तमान सीतामऊ राज्य)में चगत्या नामक गाँव पुण्यार्थ मिला। तबसे कोई सन् १९०५ ई० तक यह गाँव रघुनाथ व्यास के वंशजों के ही अधिकार में था। यह रघुनाथ, दलपत द्वारा नियुक्त राजव्यास हरि दायमा के ही वंश का था; संभव है उसी का पुत्र हो। इस घराने का पूरा-पूरा वंशवृक्ष नहीं प्राप्त हो सका है।

महाबत ख़ाँ के साथ थे ।[२०] महेशदास के पिता दलपत के मामा सांचोरा चौहान सावन्तसिंह के चार पुत्र सादूल, बल्लू, अचलदास और गोपालदास भी महाबत ख़ाँ की इसी सेना में थे । महाबत ख़ाँ के साथ ही ये सब दक्षिण को गए ।[२१]

दक्षिण पहुँचने पर महाबत ख़ाँ ने देखा कि वहाँ की परिस्थिति पूर्णतया बदल चुकी थी । शाहजी भोंसला ने पुनः मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया; और मुग़ल सेनाओं का सामना करने के लिए बीजापुर के आदिलशाह ने भी रणदौला ख़ाँ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना दौलताबाद की ओर भेजी । शाहजी और रणदौला ख़ाँ को दौलताबाद की ओर बढ़ते देख कर फ़तेह ख़ाँ घबरा गया और उसने सहायता के लिए महाबत ख़ाँ को लिखा । महाबत ख़ाँ ने अपने पुत्र ख़ान ज़मान को ४०,००० सिपाहियों की एक बड़ी सेना

---

[२०] दौलताबाद की इस चढ़ाई के समय भाटी गोविन्ददास के दोनों पौत्र, जगन्नाथ और रघुनाथ, भी महेशदास के साथ थे, जिसका उल्लेख रासो० में है । इन दोनों भाइयों का महेशदास के साथ क्या कौटुम्बिक सम्बन्ध था, इसकी ओर रासोकार ने कहीं भी संकेत नहीं किया है । इसके विपरीत रासो के उक्त विवरण से यही अनुमान होता है कि ये दोनों भाई महेशदास के सामन्त या सेनानायक मात्र थे; रासो०, पृ० २२, २६, ३२, ३८ । परन्तु यह बात ठीक नहीं । महेशदास की ही तरह ये दोनों भाई भी महाबत ख़ां की सेना में नौकर थे, और जगन्नाथ पर तो महाबत ख़ां का पूरा-पूरा विश्वास था । नैणसी०, २, पृ० ३६६-३६७; पाद०, १, पृ० ५०६; १ (खण्ड २), पृ० ३८ ।

[२१] नैणसी०, १, पृ० १७६-७; २, पृ० ३६६-७ । सादूल और अचलदास महाबत ख़ाँ की सेवा करते हुए दक्षिण में ही इन्हीं दो वर्षों में (सन् १६३३-४ ई० में) मारे गए । दौलताबाद के घेरे के समय उनके मारे जाने का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है । अगले वर्ष परेण्डा के किले पर चढ़ाई के समय फरवरी २४, १६३४ ई० के युद्ध में उनका मारा जाना अधिक संभव जान पड़ता है ।

लेकर तेज़ी से आगे भेजा और स्वयं भी पीछे-पीछे जनवरी १, १६३३ ई० को दौलताबाद के लिए रवाना हुआ। परन्तु ख़ान ज़मान के दौलताबाद पहुँचने से पहिले ही फ़तेह ख़ाँ रणदौला के साथ समझौता कर मुग़लों का विरोध करने का निश्चय कर चुका था। महाबत ख़ाँ इधर जब ज़फ़रनगर[२२] पहुँचा तो उसे फ़तेह ख़ाँ की इस नई चाल का पता लगा। उसने तत्काल ख़ान ज़मान को हुक्म भेजा कि वह दौलताबाद के क़िले का घेरा डाले। ख़ान ज़मान ने निज़ामपुर से शाहजी को खदेड़ कर दौलताबाद के क़िले का घेरा डाला। महाबत ख़ाँ भी ज़फ़रनगर से बढ़ता हुआ मार्च १, १६३३ ई० को दौलताबाद पहुँचा।[२३]

महाबत ख़ाँ के साथ महेशदास राठौड़, उसके भाई, अन्य सम्बन्धी तथा सांचोरा योद्धा भी दौलताबाद जा पहुँचे। दौलताबाद के इस घेरे के समय महेशदास, उसके भाई और अन्य साथियों ने अनेकानेक बार वीरता दिखाई, जिससे महेशदास की वीरता की कहानियाँ सब दूर कही जाने लगीं। पादशाहनामे में महेशदास अथवा उसके सम्बन्धियों के युद्ध में सम्मिलित होने का तीन बार ही स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह सम्भव है कि इनके अतिरिक्त अन्य समय भी महेशदास युद्ध में सम्मिलित हुआ हो, किन्तु प्रामाणिक प्राप्य इतिहास के आधार पर उन विशिष्ट अवसरों का ही विस्तृत विवरण दिया जाता है।[२४]

---

[२२] यह स्थान अब 'जफराबाद' नाम से प्रसिद्ध है। बुरहानपुर से कोई ८० मील दक्षिणमें यह स्थान आजकल हैदराबाद राज्य के औरंगाबाद जिले में है।

[२३] पाद०, १, पृ० ४४२, ४९६-५०१; हाउस०, पृ० ४३-४४; बनारसी०, पृ० १३९-४०।

[२४] रासो०, पृ० १८-४७ पर भी महाबत ख़ाँ की दक्षिणी सूबों की सूबेदारी

दौलताबाद के क़िले का घेरा लगा कर उसको हस्तगत करने के प्रयत्न किए जा रहे थे । पुनः यद्यपि ख़ान जमान ने शाहजी आदि विरोधी दलों को खदेड़ दिया था, परन्तु फिर भी ये दल पर्याप्त दूरी पर मुग़ल सेना के चारों ओर चक्कर काटते ही रहे, और समय-समय पर क़िले में भोजन-सामग्री आदि अत्यावश्यक वस्तुएँ पहुँचाने का कई बार विफल प्रयत्न किया । मार्च २८, १६३३ ई० को भी इसी प्रकार शत्रुओं का एक दल धान्य की कई थैलियाँ लेकर क़िले तक पहुँच गया और जब मुग़ल सेना ने उन पर हमला किया तो वे उन थैलों को क़िले के बाहर की मुग़लों की ख़न्दकों में डाल कर भाग गए । वहाँ से लौटते समय राह में शत्रुओं के इस दल की महाबत ख़ाँ के पोते और ख़ान ज़मान के बेटे, शुक्रुल्ला ख़ाँ से मुठभेड़ हो गई । इस लड़ाई में शत्रुओं के भी बहुत से सैनिक मारे गए । मुग़लों की ओर से शुक्रुल्ला ख़ाँ के साथ महेशदास राठौड़ का ममेरा भाई जगन्नाथ

पर नियुक्ति, बादशाह की सेवा में से उसका दक्षिण को रवाना होना, दौलताबाद का घेरा लगाना, क़िले में धान्य की कमी होना, बीजापुर आदि से सहायता के लिए क़िलेवालों की प्रार्थना एवं बीजापुरवालों का सहायतार्थ सेना भेजना, महाबत ख़ाँ का क़िले पर हमला करने का निश्चय करना, क़िले पर हमला, महेशदास एवं उसके साथियों का वीरतापूर्वक युद्ध करना, क़िले का महाबत ख़ाँ के अधिकार में आना, शाहजहाँ की सेवा में महाबत ख़ाँ का पत्र लिखना, दिल्ली में विजयोत्सव, आदि का विवरण लिखा है । परन्तु यह वर्णन इस युद्ध से कोई चालीस वर्ष बाद महेशदास के पौत्र के समय में लिखा गया था, एवं इस वर्णन में ऐतिहासिक तथ्य कम और कवित्व अधिक है । कवि ने महेशदास के महत्त्व का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया है । पाद० में अप्राप्य, तथा प्रधान प्रामाणिक घटनावली से विरुद्ध न पाई जाने वाली कौटुम्बिक और निजी घटनाओं के लिए रासो० अवश्य बहुत ही उपयोगी है । ऐसी सारी बातों का यथास्थान समावेश कर लिया गया है ।

भाटी भी था, वह बहादुरी के साथ लड़कर इस युद्ध में काम आया। पादशाहनामे में लिखा है कि जगन्नाथ भाटी की गिनती महावत ख़ाँ के बहुत ही विश्वासपात्र बहादुर राजपूतों में की जाती थी।[२५]

दौलताबाद का क़िला बहुत ही सुदृढ़ था; उसमें अनेकानेक परकोटे थे। क़िले के बीचोंबीच सुदृढ़ चट्टान पर स्थित अजेय काला-कोट था; उससे नींचे महाकोट था। महाकोट से बाहर एक और बहुत ही सुदृढ़ दीवाल थी; इसे मलिक अम्बर ने बनवाया था, एवं वह अम्बरकोट के नाम से प्रसिद्ध थी। पादशाहनामे में लिखा है कि "यह अम्बरकोट धरती से चौदह गज़ ऊँचा था और उसकी मोटाई दस गज़ की थी; इसके ऊपर तोपें लगी हुई थीं और हमला करने वालों का सामना करने का पूरा-पूरा प्रबन्ध था।" अम्बरकोट से बाहर एक गहरी खाई भी थी।[२६] इस सुदृढ़ क़िले का घेरा अब और भी सख़्ती से लगाया जाने लगा; ऐसे ही समय एक दिन महेशदास का साथी, सांचोरा चौहान सावन्तसिंह का पुत्र, गोपालदास, क़िले की दीवाल से चलाए हुए एक गोले के लगने से मर गया।[२७]

अम्बरकोट को तोड़ कर क़िले में घुसने के लिए राह बनाने

---

[२५] **पाद०, १, पृ० ५०६; नैणसी०, २, पृ० ३६६-३६७। रासो० में इस घटना का कोई उल्लेख नहीं है। अप्रेल ६, १६३३ ई० की रात को अम्बरकोट पर आक्रमण के समय भी जगन्नाथ भाटी का महेशदास के साथ होना लिखा है (पृ० ३०८); इससे स्पष्ट है कि रासोकार को जगन्नाथ भाटी के पहिले ही मारे जाने की घटना ज्ञात न थी।**

[२६] **पाद०, १, पृ० ५०२, ५१३, ५२६।**

[२७] **रासो०, पृ० २६। रासो में कोई तिथि या तारीख़ नहीं दी गई है; परन्तु विवरण देखने से यह स्पष्ट है कि घेरे के प्रारम्भिक दिनों में (मार्च, १६३३ ई० में) ही गोपालदास मरा था। नैणसी०, १, पृ० १७६-७।**

को कोट के नीचे तक एक सुरंग बना कर उसमें बारूद भरी गई। अप्रेल ९, १६३३ ई० को यह सुरंग तैयार हो गई। उसी रात पिछले पहर सुरंग उड़ाने, एवं सुरंग के उड़ते ही तत्काल क़िले पर हमला करने का निश्चय कर, उसके लिए तैयारी की जाने का आदेश दिया गया। परन्तु भूल से निश्चित समय से पहिले ही वह सुरंग चला दी गई, जिससे २८ गज़ दीवार और १२ गज़ बुर्ज का हिस्सा उड गया। उस समय मुग़ल सेना तैयार न थी, एवं सुरंग उड़ने से हुई क्षति का लाभ उठा कर वह तत्काल ही क़िले में नहीं घुस सकी। इधर क़िले वाले टूटी दीवार के उस हिस्से पर आ डटे और क़िले की रक्षा के लिए जी-जान से लड़ने लगे। उन्होंने अस्त्र-शस्त्र ऐसी तेज़ी से फेंके कि हमला करने वाले पीछे हटकर खाइयों में जा छुपे। तब तो क़िले वाले उस टूटी हुई दीवार के स्थान पर लकड़ी के बड़े-बड़े पाट डाल कर क़िले के बचाव का प्रबन्ध करने लगे।

महाबत ख़ाँ घटनास्थल पर उपस्थित था, उसे अपने सारे प्रयत्न विफल होते देख पड़े। हमला करने वालों को साहस बँधाने के लिए उसने स्वयं पैदल ही उनके साथ जाने का निश्चय किया; परन्तु नासिर ख़ाँ ने उसे रोक दिया और हमला करने वालों के दल को लेकर वह स्वयं अम्बरकोट की ओर बढ़ा। तब तो महाबत ख़ाँ ने महेशदास राठौड़ और उसके साथियों को नासिर ख़ां की मदद पर भेजा। महेशदास के साथ इस समय उसके तीनों भाई, जुझारसिंह, राजसिंह एवं जसवन्तसिंह, सांचोरा चौहान बल्लू और भाटी रघुनाथ थे। नासिर ख़ाँ, महेशदास राठौड़ और उनके साथियों ने क़िले की उस टूटी हुई दीवार पर बड़े ज़ोरों से हमला किया। क़िले वालों ने डट कर उनका सामना किया। नासिर ख़ाँ ज़ख़्मी हुआ। महेश-दास राठौड़ के दो भाई, जुझारसिंह और राजसिंह, बड़ी वीरता के

साथ लड़ते हुए काम आए। महेशदास और वल्लू भी वीरता के साथ लड़े और ज़ख़्मी नासिर ख़ाँ के साथ आगे बढ़ते ही गए। उधर राजा पहाड़सिंह बुन्देला और उनके अन्य साथियों ने भी बाएँ तरफ़ से उसी दीवार पर हमला किया। ख़ैरियत ख़ाँ बीजापुरी ने बहुत देर तक मुग़ल सेना का सामना किया, परन्तु अन्त में उसे पीछे हटना ही पड़ा; महाकोट की खाइयों में जाकर उसने अपनी जान बचाई। अम्बरकोट पर मुग़ल सेना का अधिकार हो गया, और महाबत ख़ाँ ने तत्काल ही महाकोट का घेरा लगाने का प्रबन्ध किया। अम्बरकोट को जीतने में महेशदास राठौड़ और उसके साथियों ने बहुत वीरता दिखाई; महेशदास के दो भाई इस युद्ध में मारे गए, और कहा जाता है कि इस युद्ध में महेशदास को भी चार घाव लगे थे। महेशदास की इस वीरता, आत्म-त्याग और प्रयत्नों से महाबत ख़ाँ का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था।[२८]

---

[२८] पाद०, १, पृ० ५१२-५१४; रासो०, पृ० ३७-४१।

महेशदास का कौटुम्बिक और निजी झण्डा सफ़ेद था; युद्धों के सब अवसरों पर महेशदास का निजी सैनिक दल उसे साथ ले जाता था। वह सफ़ेद झण्डा इस युद्ध के समय भी साथ था। गुरूजी० में लिखा है कि दौलताबाद के इस घेरे के अवसर पर जब महेशदास ने क़िले (अम्बरकोट) में घुस कर उस पर सफलता-पूर्वक अधिकार किया, तब वहाँ शत्रुओं का एक लाल झण्डा उसके हाथ लगा। महेशदास ने यह झण्डा महाबत ख़ाँ को और उसके द्वारा शाहजहाँ को भेंट किया। किन्तु इस लाल झण्डे को महेशदास ने ही जीता था, एवं इस युद्ध में उसकी वीरता से प्रसन्न होकर वह लाल झण्डा महेशदास को ही दे दिया गया। तब से यह लाल झण्डा भी महेशदास का दूसरा कौटुम्बिक झण्डा बन गया। आज भी महेशदास के वंशजों के झण्डों के रंग श्वेत और लाल होते हैं। चूँकि यह लाल झण्डा जीत कर श्वेत ध्वज के पीछे-पीछे ही लाया गया था एवं जुलूसों वग़ैरह में आज भी यह लाल झण्डा सफ़ेद झण्डे से पीछे ही रहता है।

इधर क़िले के अन्दर धान्य की कमी निरन्तर बढ़ती जा रही थी; अब क़िले वालों के भूखों मरने की नौबत आई। अतएव यद्यपि पहिले भी उनके कई प्रयत्न विफल हो गए थे, रणदौला और शाहजी ने एक बार और क़िले तक अनाज पहुँचाने का प्रयत्न किया। अप्रेल १७, १६३३ ई० को धान्य के ३,००० थैले क़िले तक पहुँचाने के लिए कर्णाटकी सैनिकों के साथ भेजे। महाबत ख़ाँ को इस प्रयत्न का पहिले ही पता लग गया था; उसने क़िले के पास की खाई के बाहर नासिर ख़ाँ आदि को नियुक्त किया और राजपूतों का एक दल महेशदास राठौड़ के नेतृत्व में खाई के अन्दर छुपा कर रखा। जब धान्य को लाने वाला दल खाई के पास पहुँचा मुग़ल सैनिकों

गुरूजी० में दिए गए उपर्युक्त कथानक का कोई अन्य ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। महेशदास के वंशजों द्वारा स्थापित राज्यों में वंशपरम्परागत यही कथा तथा रीति-रस्म प्रचलित हैं।

इस लाल झण्डे की प्रारम्भिक आकृति क्या थी यह निश्चित रूपेण बताना सम्भव नहीं, क्योंकि जब वह झण्डा कौटुम्बिक झण्डा बन गया तो रंग के अतिरिक्त आकृति आदि अन्य बातों में यह झण्डा भी श्वेत झण्डे के समान ही बना दिया गया।

यह लाल झण्डा प्रारम्भ में किसका था? महेशदास ने किससे छीना? एवं कब उसे हस्तगत किया? इन प्रश्नों का निश्चित रूपेण उत्तर नहीं दिया जा सकता है। मारवाड़०, १, पृ० २०१ पर लिखा है कि जोधपुर के राजा गजसिंह ने भी सन् १७२१ ई० में मलिक अम्बर का लाल झण्डा छीन लिया था और उसी सफलता की यादगार के उपलक्ष में उसी दिन से जोधपुर के राजकीय झण्डे में लाल रंग की पट्टी लगाई जाती है। इसे देखते हुए यही अनुमान होता है कि महेशदास ने जो लाल झण्डा जीता वह मलिक अम्बर के पुत्र, फ़तेह ख़ाँ का ही था, और अप्रेल १०, १६३३ ई० को अम्बरकोट पर हमला करते समय ही यह झण्डा उसके हाथ लगा। यों मारवाड़० के इस उल्लेख द्वारा गुरूजी० में दिए गए विवरण का समर्थन होता है।

ने दोनों ओर से हमला किया, जिससे दुश्मनों के सिपाही भाग खड़े हुए और शाही सैनिक धान्य के सारे थैले शाही शिविर में ले गए।[९]

इसके बाद शाही सेना को घेरा उठाने के लिए बाध्य करने को शत्रुओं ने अनेक प्रयत्न किए, परन्तु महाबत ख़ाँ ने क़िला लेकर ही छोड़ा। मई २४ को शाही सेना ने महाकोट पर भी अधिकार कर लिया। अन्त में फ़तेह ख़ाँ भी क़िला छोड़ कर बाहर निकल आया और जून १७ को दौलताबाद पर मुग़लों का अधिकार हो गया। महाबत ख़ाँ ने दौलताबाद का क़िला नासिर ख़ाँ को सौंप दिया और वह स्वयं बुरहानपुर को लौट गया। महेशदास, उसका भाई जसवन्त-सिंह एवं उसके अन्य साथी सांचोरा चौहान बल्लू, शादूल तथा भाटी रघुनाथ भी महाबत ख़ाँ के साथ बुरहानपुर को लौट गए।[१०]

दौलताबाद का क़िला जीतने की ख़ुशी में महाबत ख़ाँ आदि सेनानायकों को पुरस्कार एवं उच्च उपाधियाँ दी गईं। पादशाह-नामे में लिखा है कि "दूसरे निम्नकोटि के व्यक्तियों को उनकी सेवा और उनके पद के अनुसार इनाम दिए गए"। इस समय महेशदास महाबत ख़ाँ की सेवा में था एवं उसका कोई विशेष उल्लेख इनाम पाने वालों की सूची में नहीं मिलता है।[११]

दौलताबाद के क़िले को जीत कर भी महाबत ख़ाँ को सन्तोष न हुआ; उसने अनुभव किया कि सुदूर स्थित परेण्डा के क़िले को हस्तगत किए बिना अहमदनगर के विजित प्रदेशों पर शान्तिपूर्वक शासन करना सम्भव नहीं। अतएव उसने परेण्डा के क़िले पर चढ़ाई

---

[९] पाद०, १, पृ० ५१४-५; बनारसी०, पृ० १४०-१४१।

[१०] पाद०, १, पृ० ५१४-५२८, ५३२।

[११] पाद०, १, पृ० ५३१-५३२; बनारसी०, पृ० १४२-३।

करने का प्रस्ताव किया और इस चढ़ाई के लिये किसी शाहज़ादे के भेजे जाने की महाबत ख़ाँ ने प्रार्थना की। महाबत ख़ाँ के प्रस्ताव को स्वीकार कर शाहजहाँ ने शाहज़ादे शुजा को सेना के साथ अगस्त १८, १६३३ ई० को आगरा से दक्षिण के लिए रवाना किया। बुरहानपुर में महाबत ख़ाँ शाहज़ादे से मिला और वहाँ से सीधा परेण्डा जाने के लिए अक्तूबर २०, १६३३ ई० को वे रवाना हुए। महाबत ख़ाँ ने अपने लड़के ख़ान ज़मान को बहुत सी सेना के साथ आगे जाकर परेण्डा का घेरा लगाने को भेजा। महाबत ख़ाँ स्वयं शाहज़ादे के साथ पीछे धीरे-धीरे चला। महाबत ख़ाँ के साथ महेशदास राठौड़, भाटी रघुनाथ आदि उसके विश्वस्त वीर राजपूत भी थे।

ख़ान ज़मान परेण्डा का घेरा लगा कर बैठ गया; महाबत ख़ाँ ने उसकी मदद के लिए राजा विठ्ठलदास गौड़ के साथ कुछ और सेना भेजी। महाबत ख़ाँ और शुजा ने भी पीछे-पीछे आकर परेण्डा से कोई तीन कोस की दूरी पर डेरा डाला। किन्तु इधर महाबत ख़ाँ का पुराना विरोधी शाहजी भोंसला चुप नहीं बैठा था। निज़ामशाह के दूर के किसी भाई को उसने अहमदनगर राज्य का सुलतान घोषित कर बीजापुर राज्य की मदद से महाबत ख़ाँ को हैरान करने में कोई भी प्रयत्न उठा नहीं रखा। मुग़ल पड़ाव में अन्न, घास-दाना आदि की कमी पड़ गई; और सारे प्रयत्न करने पर भी बुरहानपुर के साथ महाबत ख़ाँ का ऐसा लगाव नहीं रह सका कि अन्न-घास आदि आवश्यक वस्तुएँ बेरोक-टोक उसके पड़ाव तक पहुँच सकें। शाहजी के सैनिक मुग़ल सेना के अन्न-घास के कारवाँ पर आक्रमण कर लगातार लूट-खसोट करने लगे।[१२]

---

[१२] पाद०, १, पृ० ५३७-३८; १ (खण्ड), पृ० ३४-३५, ३६-३७;

ऐसे ही एक अवसर पर फरवरी २४, १६३४ ई० को महाबत ख़ाँ अपने शिविर से कोई आधे कोस ही गया था कि दस हज़ार शत्रुओं के एक दल ने महाबत ख़ाँ की सेना पर हमला कर दिया। महाबत ख़ाँ के हरोल में महेशदास राठौड़, रघुनाथ भाटी और अन्य राजपूत थे; उन्होंने डट कर शत्रु का सामना किया, और सारे राजपूत लड़ते हुए रणभूमि में गिर गए। महाबत ख़ाँ की जान पर बन आई, और अपने घायल राजपूतों को उठाने का भी उसे अवसर न मिला। परन्तु महाबत ख़ाँ के सौभाग्य से इसी समय नासिर ख़ाँ, जो अब ख़ान दौरान कहलाता था, कोई बारह हज़ार सवारों के साथ वहाँ आ पहुँचा। ख़ान दौरान के आते ही दुश्मन भाग खड़े हुए और महाबत ख़ाँ की जान बच गई। ख़ान दौरान जाकर महेशदास राठौड़ और दूसरे राजपूतों को उठा लाया। महेशदास जीवित था, परन्तु वह बहुत ही बुरी तरह घायल हो गया था। इलाज और दवाई से महेशदास और कई अन्य घायल राजपूतों की जान बच गई।[३२]

बनारसी०, पृ० १५६-१६१।

[३१] पाद०, १ (खण्ड २), पृ० ३८-३६।

रघुनाथ भाटी भी घायल हुआ था, किन्तु वह भी बच गया। सन् १६५८ ई० में धरमत (फ़तेहाबाद) के युद्ध के समय यही रघुनाथ भाटी जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह की सेवा में था, एवं उसकी ओर से औरंगज़ेब के विरुद्ध लड़ कर घायल हुआ था। ख्यात०, १, पृ० २१४, २२२; रासो०, पृ० १३४।

नैणसी०, २, पृ० ३६६-३६७ पर लिखा है कि भाटी रघुनाथ का पिता, जोगीदास, 'सं० १६६१ वि० (सन् १६३४ ई०) में महाबत ख़ाँ के पक्ष में काम आया'। पाद० में कहीं भी इस घटना का कोई उल्लेख नहीं होना नैणसी के इस उल्लेख को शंकास्पद अवश्य बना देता है। परन्तु अनुमान यही होता है कि

इसी प्रकार की निरन्तर लड़ाई और कठिनाइयाँ, तथा महाबत ख़ाँ और ख़ान दौरान में आपसी मनोमालिन्य के कारण शाही सेना को परेण्डा क़िला जीतने में कोई सफलता न मिली। हताश होकर महाबत ख़ाँ की सलाह के अनुसार मई २१, १६३४ ई० को शाहज़ादा शुजा और महाबत ख़ाँ परेण्डा के क़िले का घेरा उठा कर बुरहानपुर के लिए रवाना हो गए। तीन सप्ताह बाद जून १३, १६३४ ई० को वे बुरहानपुर पहुँचे। शाही सेना की इस विफलता का हाल सुन कर शाहजहाँ बहुत ही रुष्ट हुआ और उसने शुजा को तत्काल ही उत्तरी भारत लौट आने के लिए लिखा। परेण्डा की अपनी इस विफलता और शाहजहाँ की अप्रसन्नता से महाबत ख़ाँ बहुत ही क्षुब्ध हो गया, उसका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा, और अक्तूबर २६, १६३४ ई० को बुरहानपुर में ही महाबत ख़ाँ की मृत्यु हो गई।[१४]

३. शाही सेवा में—मान और पद-वृद्धि

महाबत ख़ाँ की मृत्यु होने पर महेशदास राठौड़, उसका भाई और उसके अन्य बचे-खुचे साथी उत्तरी भारत को लौट गए। महेशदास राठौड़ ने महाबत ख़ाँ की सेवा में वीरता के लिए पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी, एवं सन् १६३५ ई० के प्रारम्भ में जब

जोगीदास भी इसी युद्ध में मारा गया होगा।

नैणसी०, १, पृ० १७७ पर लिखा है कि महाबत ख़ाँ की सेवा करते हुए बल्लू चौहान भी लड़ाई में घायल हुआ था। पाद० में बल्लू चौहान का नाम नहीं लिखा है, परन्तु इसी युद्ध में बल्लू चौहान का भी महेशदास के साथ होना एवं उसी के साथ बल्लू का भी घायल होना सम्भव ही जान पड़ता है।

[१४] पाद०, १ (खण्ड २), पृ० ४५, ४७, ५६-६०; मा० उ०, ३, पृ० ४०७; बनारसी०, पृ० १६२-३; हाउस०, पृ० ४६।

वह बादशाही दरबार में उपस्थित हुआ तो शाहजहाँ ने उसे शाही मनसबदार नियुक्त कर, जनवरी १५, १६३५ ई० को पाँच सदी ज़ात–चार सौ सवारों का मनसब दिया। रतन रासो में यह भी लिखा है कि प्रथम शाही मनसब देते समय शाहजहाँ ने अपने हाथों से महेशदास को एक तलवार देकर सम्मानित किया था।[१५]

महेशदास के अधिकार में अब तक पीसांगन और उसके आस-पास का प्रदेश ही था; यह उसकी कौटुम्बिक जागीर थी। इसी कारण महेशदास का परिवार भी अब तक पीसांगन में ही रहता है। महेशदास की दी हुई प्राप्य सनदों से यह भी ज्ञात होता है कि परगना तीतरोद (वर्तमान सीतामऊ राज्य) के कुछ गाँव भी इस समय महेशदास के अधिकार में थे, और उसकी मृत्यु तक महेशदास का कुछ न कुछ अधिकार इस प्रदेश में बना रहा।[१६] शाही मनसब-

---

[१५] मा० उ०, ३, पृ० ४४५; पाद०, १ (खण्ड २), पृ० ६८। रासो०, पृ० ४७। रासो० में इसे शमशीर लिखा है, परन्तु असल में यह खाण्डा था। शाही पुरस्कार होने के कारण महेशदास और उसके वंशजों के लिए यह खाण्डा विशेष सम्माननीय वस्तु थी, अतएव महेशदास और रतनसिंह के समकालीन चित्रों में उनके हाथ में यही खाण्डा होना चित्रित किया गया है। रतनसिंह के ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकारी होने के कारण महेशदास और रतनसिंह की अन्य वंशक्रमागत सम्पत्ति के साथ ही यह खाण्डा भी केशवदास के अधिकार में आया; आज भी सीतामऊ राजघराने के शस्त्रागार में यह विद्यमान है, एवं राजघराने के पूजनीय शस्त्रों में इसकी गिनती है।

[१६] गुरूजी०; राजव्यास०।

परगना तीतरोद के गाँव किस प्रकार महेशदास के अधिकार में आए यह कहना कठिन है; इस प्रश्न पर प्रकाश डाल सकने वाली कोई ऐतिहासिक सामग्री प्राप्य नहीं है। तीतरोद परगने में महेशदास द्वारा ही दी गई जमीन की अब तक चार सनदें प्राप्त हुई हैं।

दार बनने पर बादशाह ने उसे जहाज़पुर जागीर में दिया। जहाज़पुर मिलने पर महेशदास का कुटुम्ब पीसांगन छोड़ कर जहाज़पुर में जा रहा, एवं सन् १६४२ ई० में जालोर मिलने तक जहाज़पुर में ही रहे। महेशदास की जागीर का केन्द्र भी जहाज़पुर ही था एवं उसका निजी काम भी वहाँ ही होता था।[१७]

शाही मनसबदार बनने पर महेशदास को अनेकानेक चढ़ाइयों तथा अन्य महत्वपूर्ण कार्यों के लिए समय-समय पर शाही सेना के साथ भेजा गया। शाहजहाँ महेशदास की वीरता से परिचित था

---

(१) व्यास रघुनाथ को परगना तीतरोद मे गाँव चगत्या, सन् १६३२ ई० में (राजव्यास०)।

(२) राजगुरु मानसिंह हीरा को परगना तीतरोद में डाबड़ी गांव, सन् १६३४ ई० में (गुरूजी०)।

(३) एक उदम्बर ब्राह्मण को क़स्बा सीतामऊ में ज़मीन, सन् १६३७ ई० में (सनदें०)।

(४) राजगुरु को परगना तीतरोद में डाबड़ी गाँव और क़स्बा सीतामऊ में भेरू तालाब की ज़मीन, सन् १६३९ ई० में (गुरूजी०)।

[१७] ख्यात०, १, पृ० १०६; गुरूजी०।

मारवाड़०, १, पृ० १७८, फ़ुटनोट नं० ५ में रेऊ ने लिखा है "इसमें ८४ गाँव तो फूलिया के परगने में और ३२५ गाँव जहाजपुर के परगने में थे।" रेऊ ने अपने इस कथन के आधार का कोई उल्लेख नहीं किया है। फूलिया परगने में महेशदास को ८४ गाँव मिलने का उल्लेख ज्ञात ऐतिहासिक आधार ग्रन्थों में केवल राणी० में ही मिलता है। शाही सेवा में कई वर्ष रहने के बाद जब महेशदास का मनसब बहुत बढ़ गया था, तब ही जाकर कहीं जहाजपुर परगने में इतने गाँवों पर उसका अधिकार हो सका होगा।

सन् १६३८ ई० एवं सन् १६४१ ई० में दी गई सनदें और ताम्र-पत्र जहाजपुर में ही लिखे गए थे।

ही, और जैसे-जैसे अब शाहजहाँ को महेशदास की योग्यता का परिचय मिला और जैसे-जैसे महेशदास शाहजहाँ का विश्वासपात्र बनता गया, तैसे-तैसे उसका मनसब भी बढ़ने लगा। जिन-जिन चढ़ाइयों या युद्धों में महेशदास सम्मिलित हुआ, उनके कारणों तथा उनकी विशिष्ट घटनाओं का सविस्तार वर्णन करने से शाहजहाँ के शासन-काल की आधी से अधिक महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख करना आवश्यक हो जावेगा, अतएव यहाँ उन विभिन्न चढ़ाइयों आदि की विशेषतया उन्हीं बातों का उल्लेख किया जावेगा जिनमें या तो महेशदास सम्मिलित था या जिनसे महेशदास की जीवनी, उसकी कार्यवाही या उसके घूमने-घामने पर कुछ भी प्रकाश पड़ता हो।

मनसबदारी मिलने के कोई सात-आठ माह बाद ही महेशदास को शाही सेना के साथ जाना पड़ा। जुझारसिंह बुन्देला के विद्रोह को महाबत ख़ाँ ने सन् १६२९ ई० में शान्त किया था और जुझारसिंह ने बादशाह से क्षमा याचना की थी, परन्तु वह बहुत समय तक चुप न बैठ सका। सन् १६३५ ई० में वह पुनः विद्रोही बन बैठा। इस विद्रोह को दबाने के लिए तीन बड़ी-बड़ी शाही सेनाएँ भेजी गईं। शाहजहाँ ने शाहज़ादे औरंगज़ेब को इन तीनों सेनाओं का प्रधान सेनापति नियुक्त किया। सितम्बर १८, १६३५ ई० को औरंगज़ेब आगरा से इस चढ़ाई के लिए रवाना हुआ। उसके साथ जो सरदार भेजे गए थे उनमें महेशदास राठौड़ भी था; आगरा से रवाना होते समय उसके पद और मनसब के अनुसार महेशदास को भी ख़िलअत, इनाम आदि मिला[१८]। आगामी चार-पाँच माह तक महेशदास

---

[१८] बनारसी०, पृ० ८३-८६; औरंग०, १-२, पृ० १५-१८; पाद०, १ (खण्ड २), पृ० १००।

औरंगज़ेब के साथ ही बना रहा।

इतनी बड़ी सेना को आते देख कर जुझारसिंह भाग खड़ा हुआ और अपने स्त्री-बच्चों तथा बहुत कुछ धन और माल-असबाब भी साथ ले गया। शाही सेना ने एक-एक कर ओरछा, धामुनी, चौरागढ़ और झाँसी के क़िलों पर अधिकार कर लिया। जुझारसिंह और उसका पुत्र विक्रमाजीत जुगराज गोण्डवाने के जंगलों में जा घुसे, परन्तु शाही सेना ने वहाँ भी उनका पीछा किया। जुझारसिंह और विक्रमाजीत को गोण्डों ने मार डाला। ओरछा की गद्दी पर जुझारसिंह के ही चचेरे भाई के पौत्र देवीसिंह बुन्देला को बिठाया।[३९]

इस चढ़ाई के समय औरंगज़ेब को प्रधान सेनापति का पद इसलिए दिया गया था कि उसे अनुभव प्राप्त हो और इस प्रकार तीनों शाही सेनाओं के सेनापतियों में किसी प्रकार के पारस्परिक कलह की भी सम्भावना न रहे। अतएव औरंगज़ेब ने युद्धों में कोई भाग न लिया, और आगे बढ़ती हुई सेनाओं से बहुत पीछे ही रहा, जिससे उसके साथ रहने वाले महेशदास को भी इस बार युद्ध करने का कोई भी अवसर न मिला। नवम्बर, १६३५ ई० के पिछले हफ़्तों में औरंगज़ेब भी धामुनी आ पहुँचा।[४०]

इधर औरंगज़ेब को रवाना करने के तीन दिन बाद ही शाहजहाँ भी आगरा से रवाना होकर बुन्देलखण्ड की ओर बढ़ा। दतिया होता हुआ नवम्बर २६, १६३५ ई० को वह ओरछा पहुँचा। औरंगज़ेब भी धामुनी से लौट कर दिसम्बर ३ को ओरछा के पास

---

[३९] बनारसी०, पृ० ८८-८९; औरंग०, १-२, पृ० १९-२४।

[४०] बनारसी०, पृ० ८७-८८; औरंग०, १-२, पृ० १८-१९, २४।

शाहजहाँ की सेवा में उपस्थित हुआ। दो दिन बाद शाहजहाँ और औरंगज़ेब सिरोंज के रास्ते से दक्षिण को चले। महेशदास भी इनके साथ दक्षिण के लिए रवाना हुआ।[४१]

परेण्डा का क़िला लेने में महाबत ख़ाँ की जो विफलता हुई थी, वह अब भी शाहजहाँ को खटक रही थी। शाहजहाँ ने अनुभव किया कि शाहजी भोंसला की शक्ति को नष्ट किए बिना अहमदनगर राज्य के जीते हुए प्रदेशों पर स्थायी शासन स्थापित नहीं हो सकेगा; शाहजी भोंसले को बीजापुर राज्य भी समय-समय पर सहायता देता रहा था, एवं अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए बीजापुर तथा गोलकुण्डा राज्यों पर भी आक्रमण करना आवश्यक होगा, यह बात भी उसे स्पष्टरूपेण ज्ञात थी। परन्तु इस बार शाहजहाँ इस मामले को अधूरा नहीं छोड़ना चाहता था, अतएव पूरी-पूरी सैनिक तैयारी कर वह दक्षिण को बढ़ा।[४२]

फरवरी, सन् १६३६ ई० के प्रारम्भ में शाहजहाँ दौलताबाद के पास जा पहुँचा। वहाँ उसने तीन विभिन्न सेनाएँ संगठित कीं। ख़ान ज़मान और शायस्ता ख़ाँ के सेनापतित्व में दो सेनाएँ तो शाहजी भोंसला के विरुद्ध भेजी गईं। तीसरी सेना का सेनापति ख़ान दौरान नियुक्त किया गया और आम्बेर के राजा जयसिंह तथा अन्य राजपूत सेनानायकों के साथ महेशदास राठौड़ की नियुक्ति भी ख़ान दौरान की इसी सेना में की गई। फरवरी ४, १६३६ ई० को ख़ान दौरान शाही पड़ाव से विदा हुआ। रवाना होते समय महेशदास को भी

---

[४१]बनारसी०, पृ० १४५, ६०-६१; औरंग०, १-२, पृ० २६।

[४२]बनारसी०, पृ० १४५, १६४; औरंग०, १-२, पृ० २६-३०; हाउस०, पृ० ४६-५०।

उसके पद और मनसब के अनुसार ख़िलअत, घोड़ा, आदि इनाम मिले। ख़ान दौरान को आज्ञा हुई कि वह सेना सहित बीजापुर और गोलकुण्डा की सीमाओं पर स्थित कन्धार और नान्देर जाकर तैयार रहे।[४३]

शाहजहाँ फरवरी २१, १६३६ ई० को दौलताबाद जा पहुँचा। इतनी बड़ी सेना को बढ़ते देखकर गोलकुण्डा के सुलतान क़ुतुबशाह ने तो शाहजहाँ को कर देना स्वीकार कर लिया, परन्तु बीजापुर के शासक आदिल शाह ने अपना विरोध नहीं छोड़ा। तब तो शाहजहाँ ने अपनी सेना को आज्ञा दी कि वह बीजापुर राज्य के प्रदेश को उजाड़ दे। ख़ान दौरान भी नान्देर से बढ़ता हुआ, भीमा नदी पर स्थित फ़िरोज़ाबाद[४४] तक जा कर लौट आया। ख़ान ज़मान और ख़ान जहान की सेनाओं ने भी बीजापुर के राज्य में बहुत हानि पहुँचाई। तब तो आदिल शाह ने भी शाहजहाँ की आधीनता स्वीकार कर ली। शाहजहाँ ने मई ६, १६३६ ई० को सन्धि की अपनी शर्तें आदिल शाह के पास लिख कर भेज दीं, और अपने सेनापतियों को आज्ञा दी कि वे बीजापुर राज्य में कोई उपद्रव न मचावें। ख़ान दौरान को हुक्म हुआ कि वह उदगिर और औसा के क़िलों का घेरा लगा कर उन्हें जीत ले। जून २५, १६३६ ई० को गोलकुण्डा का पेशकस शाहजहाँ की सेवा में पहुँचा, और जुलाई ११ को मकरमत

---

[४३]बनारसी०, पृ० १४५-४६; औरंग०, १-२, पृ० ३०; हाउस०, पृ० ४६-५०; पाद०, १ (खण्ड २), पृ० १३५-३६, १३७।

[४४]फ़िरोज़ाबाद बीजापुर से कोई ७६ मील उत्तर-पूर्व में भीमा नदी पर स्थित है। पाद०, १ (खण्ड २), पृ० १५३ पर लिखा है कि फ़िरोज़ाबाद से बीजापुर केवल १२ कोस रह गया था; परन्तु यह कथन ठीक नहीं।

ख़ाँ बीजापुर का पेशकस तथा आदिल शाह की तरफ़ से भेंट ले आया।[४५]

अब कोई काम रहा न था, एवं जुलाई ११, १६३६ ई० को शाहजहाँ दौलताबाद से उत्तरी भारत के लिए रवाना हुआ। शाह-जहाँ ने दक्षिणी भारत के मुग़ल प्रदेश का शासन-प्रबन्ध पुनः संगठित किया और जुलाई १४, १६३६ ई० को औरंगज़ेब क़ो दक्षिणी सूबों का शासक नियुक्त किया। शाहजहाँ माण्डू और अजमेर होता हुआ जनवरी ५, १६३७ ई० को आगरा पहुँचा।[४६]

इधर ख़ान दौरान ने जून १९ को उदगिर क़िले का घेरा लगाया, और कुछ दिन बाद औसा क़िले को घेरने को सेना भेजी। सवा तीन माह के घेरे के बाद सितम्बर २८ को उसने उदगिर क़िला जीत लिया, और अक्तूबर १९ को औसा क़िला भी शाही सेना के अधिकार में आ गया। बीजापुर पर आक्रमण और उदगिर के घेरे के समय महेशदास ख़ान दौरान के ही साथ था, परन्तु उसके कार्य और युद्धों आदि का कोई वर्णन नहीं मिलता है।[४७]

इन क़िलों को जीत कर ख़ान दौरान उत्तरी भारत को लौटा और महेशदास भी उसके साथ ही चला। राह में ख़ान दौरान ने देवगढ़ के गोण्ड राजा कुकिया के प्रदेश में जाकर नागपुर के क़िले को घेरा; जनवरी १६, १६३७ ई० को कुकिया ने आत्म-समर्पण

---

[४५] **बनारसी०, पृ० १४६, १६४-१६६; औरंग०, १-२, पृ० ३०-३५।**

[४६] **औरंग०, १-२, पृ० २६, ३६-३८; बनारसी०, पृ० १४७; पाद०, १ (खण्ड २), पृ० २०२, २०५।**

[४७] **बनारसी०, पृ० १४७; औरंग०, १-२, पृ० ३८-३९; पाद०, १ (खण्ड २), पृ० २१७-२२०।**

कर दिया; ख़ान दौरान ने उससे कर लेकर नागपुर उसे वापिस दे दिया।[४८]

विजयी ख़ान दौरान मार्च १२ को आगरा पहुँचा; शाहजहाँ ने ख़ान दौरान की सफल सेवाओं से प्रसन्न होकर उसका मनसब बढ़ाया। आम्बेर के राजा जयसिंह, जोधपुर के राव अमरसिंह और कोटा के माधोसिंह के मनसब बढ़ा कर तथा इनाम आदि देकर उनकी सेवाओं को भी पुरस्कृत किया। ऐसा अनुमान होता है कि इसी अवसर पर महेशदास राठौड़ का मनसब भी ५ सदी ज़ात-चार सौ सवार से बढ़ा कर ८ सदी ज़ात-छः सौ सवार कर दिया गया था।[४९]

दक्षिणी भारत की इस चढ़ाई से लौटने के बाद महेशदास पुनः शाहजहाँ की सेवा में रहने लगा। महेशदास शाहजहाँ के "हाज़िर रक़ाब" मनसबदारों में से था। कभी किसी ख़ास चढ़ाई पर भेजे जाने को वह "ताइनात" किया जाता था, वर्ना वह शाहजहाँ के शाही दरबार में रह कर पहरा-चौकी सम्हालना या बादशाही आज्ञानुसार सेवा करना ही उसका कर्तव्य होता था।[५०] इसी कारण महेश-

---

[४८]औरंग०, १-२, पृ० ४१-४२; पाद०, १ (खण्ड २), पृ० २३०-२३३।

[४९]पाद०, १ (खण्ड २), पृ० २४६-७।

इस अवसर पर पुरस्कृत व्यक्तियों में से तीन-चार बड़े-बड़े मनसबदारों का ही पाद० में उल्लेख मिलता है। पाद०, १ (खण्ड २), पृ० ३१३ के उल्लेख के अनुसार शाहजहाँ के शाही जुलूस सन् १० समाप्त होने के समय (अक्तूबर १०, १६३७ ई० को) महेशदास का मनसब आठ सदी जात-छः सौ सवार था। मनसब में इस वृद्धि की सम्भावना के लिए दक्षिण की विजय-यात्रा से लौटने का यही अवसर पूर्णतया उपयुक्त जान पड़ता है।

[५०]बनारसी०, पृ० २८८-९; इर्विन०, पृ० ६; बरनियर०, पृ० २१४, २१५, ३७०-१; मा० उ०, ३, पृ० ४४६।

दास को शाहजहाँ के साथ ही यत्र-तत्र जाना पड़ता था।

मार्च, १६३७ ई० में आगरा पहुँचने पर महेशदास कोई डेढ़ साल आगरा में ही रहा। शाहजहाँ उससे प्रसन्न था एवं उसका मनसब भी बढ़ने लगा। मार्च ११, १६३८ ई० को नौरोज़ के दरबार के अवसर पर महेशदास का मनसब बढ़ा कर एक हज़ार ज़ात-६०० सवार का कर दिया गया।[११]

इधर फ़रवरी, १६३८ ई० में क़न्धार के ईरानी क़िलेदार अली मर्दान ख़ाँ ने क़न्धार का क़िला मुग़लों को सौंप कर वह स्वयं मुग़ल मनसबदार बन गया। तब से आगामी पन्द्रह वर्ष तक शाहजहाँ उत्तर-पश्चिमी सरहद के ही मामले में उलझा रहा। क़न्धार के क़िले को सुदृढ़ बनाने एवं उसे ईरानियों के आक्रमणों से बचाने के लिए शाहजहाँ बहुत ही उत्सुक हो गया। मध्य एशिया में बल्ख़ और बदक्शां की राजनैतिक परिस्थिति से भी शाहजहाँ पूरी तरह परिचित होना चाहता था। अतएव अगस्त १८, १६३८ ई० को शाहजहाँ आगरा से रवाना होकर नवम्बर १२ को लाहौर पहुँचा, और तीन माह तक लाहौर में ही ठहरा रहा। महेशदास भी इस यात्रा में शाहजहाँ के साथ आगरा से आया और फ़रवरी, १६४० ई० तक लगातार शाहजहाँ की सेवा में साथ ही बना रहा। फ़रवरी २४, १६३९ ई० को शाहजहाँ लाहौर से रवाना होकर मई १८ को काबुल पहुँचा। महेशदास भी शाहजहां के साथ काबुल गया था, परन्तु तत्कालीन दिए हुए ताम्र-पत्र से ज्ञात होता है कि उस समय महेशदास पीछे रह गया था एवं मई १८, १६३९ ई० को उसका पड़ाव जलालाबाद में था। वाद में वह भी शाहजहाँ के

[११]पाद०, २, पृ० ९२।

साथ जा मिला होगा। शाहजहाँ लगभग तीन माह तक काबुल में ठहरा और बाद में बंगष होता हुआ अक्तूबर ९, १६३९ ई० को वह लाहौर लौट आया।[५२]

मई १८, १६३९ ई० को जब महेशदास जलालाबाद म ठहरा हुआ था तब उसने अपने राजगुरु को परगना तीतरोद में डाबड़ी गाँव दिया और क़स्बा सीतामऊ में भेरू तालाब की ज़मीन दी और उसका एक ताम्र-पत्र लिख दिया। इस अवसर पर महेशदास ने इस डाबड़ी गाँव का नाम बदल कर महेशदासपुरा रखा। इसी वर्ष महेशदास ने अपने इन्हीं राजगुरु को जहाज़पुर परगने में भी कुछ जागीर दी थी।

इस बार शाहजहाँ लाहौर में कोई चार माह ठहरा रहा, अतएव उसके साथ महेशदास को भी लाहौर में ही रहना पड़ा। इन्हीं दिनों लाहौर में ही महेशदास ने रतलाम परगना के अन्तर्गत चौराणा गाँव अपने राजपुरोहित को जागीर में दिया।[५३]

फरवरी ८, १६४० ई० को शाहजहाँ लाहौर से काश्मीर के लिए रवाना हो गया। महेशदास गंगा-स्नान के लिए उत्सुक था एवं वह शाहजहाँ के साथ काश्मीर न गया; उसने इस बार छुट्टी ले ली। लाहौर से रवाना होकर संवत् १६९७ वि० के श्राद्ध पक्ष

---

[५२]पाद०, २, पृ० ११०, १२३, १४१, १४७, १५६, १६३; बनारसी०, पृ० १८८-८६, ३१५।

[५३]गुरुजी०। डाबड़ी गाँव सीतामऊ राज्य के अन्तर्गत आज भी विद्यमान है, परन्तु उसका यह नया नाम स्थायी नहीं हुआ।

ऐसा अनुमान होता है कि मार्च १६३८ ई०में मनसब-वृद्धि के समय रतलाम परगने के भी कुछ गाँव महेशदास को मिले होंगे; उन्हीं में से उसने यह गाँव अपने राजपरोहित को जागीर में दिया।

में (आश्विन कृष्ण पक्ष—अगस्त २२ से सितम्बर ५, १६४० ई०) वह प्रयाग पहुँचा और वहाँ त्रिवेणी घाट पर शास्त्रोक्त क्रिया-कर्म करके उसने यथाविधि गंगा-स्नान किया। गंगा-यात्रा के इस अवसर पर महेशदास के साथ उसका ज्येष्ठ पुत्र रतनसिंह भी था। इस यात्रा से लौट कर महेशदास सीधा लाहौर पहुँचा, और जब नवम्बर ६, १६४० ई० को शाहजहाँ काश्मीर से लौट कर लाहौर आया तब महेशदास पुनः उसकी सेवा में उपस्थित हो गया।[५४]

४. महेशदास के पुत्र; रतनसिंह का शाही दरबार में सम्मान

यह पहिले ही लिखा जा चुका है कि महेशदास का प्रथम विवाह आम्बेर राज्य के राजावत नवलसिंह लूणकरण[५५] की कन्या कुसुम-कुँअरदे के साथ बाल्यकाल में ही हो चुका था। इसी रानी से महेश दास के ज्येष्ठ पुत्र रतनसिंह का जन्म चैत्र वदि अमावस्या सं० १६७५ वि० (शनिवार मार्च ६, १६१९ ई०) को बलाहेड़ा में हुआ था।[५६]

---

[५४]पाद०, २, पृ० १७६, २१५; गुरूजी०।

[५५]गुरूजी०। रानी० तथा बड़वों की ख्यातों में 'नवलसिंह' नहीं है, उनमें उसका नाम केवल लूणकरण लिखा है।

इस व्यक्ति का नाम नैणसी में नहीं मिलता है।

[५६]मारवाड़०, पृ० १७८; रतन०, पृ० ७; गुरूजी०; राणी०।

जोधपुर वाले मुंशी देवीप्रसादजी के संग्रह में रतनसिंह की जन्मकुण्डली थी, जो रतन० पृ० ७ पर से यहाँ उद्धृत की जा रही है।

महेशदास के कुल मिला कर सात रानियाँ थीं जिनसे छः पुत्र और पाँच पुत्रियाँ हुईं।[५७] महेशदास के दूसरे पुत्र का नाम कल्याण-

उ० घ० ४।२ र० ११।८
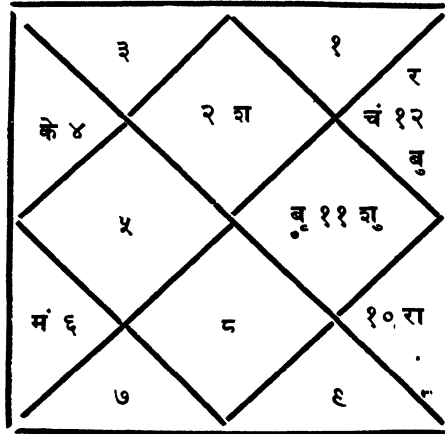
[५७]रतन०, पृ० ६। ख्यातों में विशेषतया सात रानियों का ही उल्लेख मिलता है। गुरूजी० और राणी० में अवश्य आठ रानियों के नाम दिए हैं।

प्रायः महेशदास के पाँच पुत्रों का ही उल्लेख मिलता है, परन्तु वास्तव में उसके छः पुत्र थे।

राणी० में केवल चार पुत्रियों का ही उल्लेख है, परन्तु गुरुजी० तथा बड़वों की ख्यातों में पाँच पुत्रियाँ होना लिखा है। महेशदास की इन पुत्रियों में से एक का विवाह जैसलमेर के रावल सबलसिंह के साथ हुआ। दूसरी का विवाह रामपुरा के राव अमरसिंह के पुत्र मोहकमसिंह के साथ हुआ था, जो अपने पिता की मृत्यु पर सन् १६७२ ई० में रामपुरा की गद्दी पर बैठा। भारतीय इतिहास में सुज्ञात गोपालसिंह चन्द्रावत महेशदास की ही पुत्री का लड़का था। गुरूजी०; राणी०। तीसरी का विवाह बूँदी के रावराजा शत्रुसाल के साथ हुआ था; राव राजा भावसिंह महेशदास के ही नाती थे। गुरूजी० के अनुसार इस पुत्री का नाम कल्याणकुँअर था, किन्तु वंश० में इसका नाम श्यामकुँअर लिखा है, जो

दास[५८] था; इनकी माता जालोर के सकतसिंह सोनगरा[५९] की पुत्री अमोलक दे कुँअर सोनगरी थी। तीसरा पुत्र रायसल[६०] था। बूँदी

अधिक विश्वसनीय जान पड़ता है। वंश० में श्यामकुँअर को दलपत की कनिष्ठा पुत्री लिखा है, जो ठीक नहीं। गुरूजी०; वंश०, ३, पृ० २४५६, २५५६, २७१६।

[५८]प्राचीन ख्यातों के आधार पर ख्यात०, १, पृ० १०७ पर इसका नाम 'कल्याणदास' लिखा है, परन्तु बाद में "कल्याणसिंह" नाम चल निकला होगा। जिससे गुरुजी० आदि में "कल्याणसिंह" नाम ही लिखा मिलता है। रासो० ४७, ७०, १३०।

गुरूजी० में लिखा है कि कल्याणदास को सं० १७१० वि० (१६५३-५४ ई०) में शाही मनसब मिला और उसके साथ ही लोहावद, गुणावद और बारा-बड़ोद के परगने जो आजकल कोटा राज्य के अन्तर्गत हैं, जागीर में मिले थे। परन्तु वारिस० आदि फ़ारसी ग्रंथों में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। कल्याणसिंह का मनसब चार सदी जात या उससे कम का ही होगा, वर्ना वारिस० में दी गई मनसबदारों की सूची में उसका नाम अवश्य होता।

कल्याणसिंह के जीवन का कोई विवरण नहीं मिलता है। उसके वंशज कल्याणसिंहोत कहलाए; और आज भी मेरियाखेड़ी (सीतामऊ राज्य में), तोलखेड़ी (जावरा राज्य में) एवं बारा-बड़ोद (कोटा राज्य के अन्तर्गत) के ठिकानों पर कल्याणसिंहोतों का अधिकार है।

[५९]यह सकतसिंह सोनगरा उदयसिंह का पुत्र तथा अखेराज रणधीरोत का पौत्र था। नैणसी०, १, पृ० १६५।

[६०]गुरूजी० और राणी० में महेशदास के पुत्रों की सूची में रायसल का नाम ही नहीं है; और उन्हीं के आधार पर रतन०, पृ० ६ पर भी रायसल का नाम नहीं लिखा गया है। परन्तु ख्यात०, १, पृ० १०७ पर रायसल को महेशदास का चौथा पुत्र लिखा है। रासो०, पृ० ४७ पर रायसल को महेशदास का तीसरा पुत्र लिखा है। रासो०, पृ० ७० पर पुनः रायसल का नाम महेशदास के पुत्रों की सूची में आता है। तीन बड़वों की ख्यातों में भी रायसल का नाम मिलता है, जिनमें से दो ख्यातों के अनुसार रतनसिंह की जननी ने इसको भी जन्म दिया

के राजसिंह हाड़ा[६१] की लड़की सूरज कुँअर ने चौथे पुत्र फ़तेहसिंह[६२]

था, परन्तु तीसरी ख्यात उसे कल्याणदास का सहोदर भाई बताती है।

रायसल के जीवन का कोई भी हाल नहीं मिलता है।

[६१]गुरूजी० में इस राजसिंह को देवकरणोत लिखा है। कुछ ख्यातों में हाड़ी रानी सूरज कुँअर के पिता का नाम बूँदी के भोजराज का पुत्र श्यामदास मिलता है।

[६२]रासो०, पृ० ४७, ७०, १०३।

गुरूजी० में लिखा है कि फ़तेहसिंह को सन् १६६५ ई० (सं० १७२२ वि०) में ७ सदी का मनसब मिला और साथ में उसे फूलिया परगने के ८० गाँव जागीर में मिले थे। वह महाबत ख़ाँ (महाबत ख़ाँ ख़ानख़ाना के दूसरे पुत्र लहरास्प ख़ाँ) की सेना में तैनात था। यह कथन कई अंशों में ठीक नहीं। सन् १६५८ ई० (१७१५ वि०) में फ़तेहसिंह की मृत्यु हो चुकी थी। सम्भव है कि संवत में दस वर्ष की भूल हो गई हो और ठीक सन् १६५५ ई० (१७१२ वि०) हो। परन्तु जो मनसब उसको मिलना बताया जाता है वह अत्युक्ति ही है क्योंकि वारिस द्वारा दी गई मनसबदारों की सूची में फ़तेहसिंह का नाम नहीं है। ख्यात०, १, पृ० २०७ के अनुसार सन् १६५८ ई० में फ़तेहसिंह का मनसब डेढ़ सदी ज़ात-तीस सवार का था, जो अधिक ठीक जान पड़ता है।

सन् १६५५-५७ ई० तक महाबत ख़ाँ दक्षिण में औरंगज़ेब के साथ था, परन्तु सन् १६५७ ई० में शाहजहाँ ने उसे वापिस बुला लिया। दिसम्बर २०, १६५७ ई० को वह आगरा में शाही दरबार में उपस्थित हुआ और फ़रवरी ४, १६५८ ई० को काबुल का सूबेदार नियुक्त कर वह काबुल भेज दिया गया। सम्भव है कि फ़तेहसिंह भी महाबत ख़ाँ के साथ दक्षिण में रहा हो, परन्तु वहाँसे लौटने पर वह काबुल नहीं गया। धरमत के युद्ध में शाही सेना की ओर से लड़ता हुआ अप्रेल १५, १६५८ ई० (वैशाख कृष्णा ६, १७१५ वि०) को वह मारा गया। औरंग०, १-२, पृ० २८२; ख्यात०, १, पृ० २०७; रासो०, पृ० ११७, ११६, १२७, १३१, १३६।

फ़तेहसिंह की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र केसरीसिंह अपने छोटे भाइयों को लेकर खिलेड़ी गाँव में (जो आज कल धार राज्य में है) जा रहा; वहाँ फ़तेहसिंह

और पाँचवें पुत्र रामचन्द्र[६३] को जन्म दिया था। छठे पुत्र सूरजमल[६४] की माता सरवाड़ मनोहरपुर के गौड़ भोपतसिंह की पुत्री पेप कुँअर थी।[६५]

रतनसिंह महेशदास का ज्येष्ठ पुत्र था, परन्तु वह निश्चिततया

की निजी जागीर थी। केसरीसिंह के वंशजों ने बाद में वर्तमान पाना ठिकाने की, जो आजकल धार राज्य के आधीन है, स्थापना की। आज भी पाना ठिकाना और खिलेड़ी की जागीर केसरीसिंह के वंशजों के अधिकार में है। गुरूजी०।

फ़तेहसिंह के वंशज फ़तेहसिंहोत कहलाए। उनकी संख्या बहुत बड़ी और ईसा की १८ वीं शताब्दी के पिछले पचास वर्षों में मरहठों की असंगठित शासना-व्यवस्था से लाभ उठा कर फ़तेहसिंह के छोटे पुत्रों के वंशजों ने मालवा में अनेकानेक ठिकानों की स्थापना की जिनमें रुणीजा, पचलाना, बोरखेड़ा, मुँगेला, पारदा, बिड़वाल, कोद, सरसी विशेष उल्लेखनीय हैं। सीतामऊ, रतलाम, सैलाना, झाबुआ आदि राज्यों में भी फ़तेहसिंहोतों ने बहुत कुछ सम्मान और कई एक जागीरें पाईं। गुरूजी०।

[६३] रासो०, पृ० ४७, ७०। रामचन्द्र के जीवन का कोई भी विवरण नहीं मिलता है। उसके वंशज रामचन्द्रोत राठौड़ कहलाए। सन् १७९३-४ ई० (सं० १८५० वि०) में रामचन्द्र के एक वंशज को रतलाम राज्य में जागीर मिली, जिससे वर्तमान सरवन ठिकाने की स्थापना हुई। यह ठिकाना आज भी रामचन्द्र के वंशजों के ही अधिकार में है। गुरूजी०।

[६४] रासो०, पृ० ४७।

सूरजमल के जीवन का कोई हाल नहीं मिलता है। उसके कोई पुत्र नहीं था। गुरूजी०।

[६५] गुरूजी० के अनुसार यह रानी राजगढ़ की थी। एक ख्यातमें इसी रानी को शेखावत लिखा है। कुछ ख्यातों के अनुसार सूरजमल महेशदास की दूसरी राजावत रानी का पुत्र था; यह रानी केसरीसिंह की पुत्री तथा दुर्जनसिंह बलभद्रोत की पौत्री थी। केसरीसिंह के लिए देखो—नैणसी, २, पृ० १९।

उसका उत्तराधिकारी न था। उन दिनों ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकारी होने का नियम सदैव नहीं पाला जाता था। लड़ाई-भिड़ाई के इस युग में जब मुग़ल शासकों की सत्ता का प्रबल प्रताप सब दूर फैला हुआ था, उत्तराधिकारी का चुनाव अनेकानेक बातों के आधार पर होता था। उत्तराधिकारी बनने की उपयुक्तता, युद्ध में उसकी वीरता और साहस एवं योद्धाओं का नेतृत्व कर सकने की उसकी योग्यता, उसके प्रति उसके पिता की भावना तथा उस विशिष्ट पुत्र के सम्बन्ध में मुग़ल सम्राट् की धारणा का इस चुनाव पर बहुत प्रभाव पड़ता था। यही कारण था कि जोधपुर, आम्बेर और उदयपुर में भी कई बार ज्येष्ठ पुत्र के रहते हुए भी छोटे पुत्र उत्तराधिकारी बने। अतएव प्रारम्भ में महेशदास के उत्तराधिकारी का प्रश्न भी अनिश्चित ही रहा।

कहा जाता है कि महेशदास जालोर वाली अपनी सोनगरी रानी से अधिक प्रसन्न था एवं उससे उत्पन्न अपने दूसरे लड़के कल्याणदास को ही वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था।[६६]

---

[६६] रतन०, पृ० ९-१०; मारवाड़०, १, पृ० १७८-९।

दन्तकथाओं के आधार पर रतन० (पृ० ९) में कल्याणदास के प्रति महेशदास के इस पक्षपात का एक कारण रतनसिंह और उसकी जननी का अंगवर्ण काला होना तथा साथ ही कल्याणदास और उसकी जननी का अंगवर्ण गौर होना बताया है। रतलाम० में (पृ० ४) भी इसी कारण को दुहराया गया है। रतलाम० के इस कथन का आधार भी दन्तकथाएँ ही हैं, किन्तु वहाँ सारा विवरण इस प्रकार दिया गया है कि उससे भ्रम हो जाना संभव है। ऐसे ही भ्रम में पड़कर रेऊ ने प्राचीन०, ३, पृ० ३९० पर इस कथन का आधार रासो० को बताया है जो ठीक नहीं; रासो० में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

रतन० (पृ० १०, १२) में लिखा है कि कल्याणदास को अपना उत्तराधि-

कहा जाता है कि रतनसिंह बचपन में बहुत ही उद्धत प्रकृति का था। उसका बाल्यकाल बहुत कुछ ननिहाल में ही बीता था। एवं महेशदास उससे अधिक प्रसन्न न था।[६७] तथापि सन् १६४० ई० में जब महेशदास गंगा-स्नान के लिए प्रयाग गया तब रतनसिंह भी उसके साथ था, और ऐसा अनुमान होता है कि प्रयाग से लौट कर लाहौर आते समय रतनसिंह भी महेशदास के साथ ही लाहौर चला आया था।[६८]

कारी बनाने के लिए महेशदास ने शाहजहाँ की भी स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। इस समय तक महेशदास केवल मनसबदार ही था, एवं मनसब के उत्तराधिकार का प्रश्न उठ ही नहीं सकता था। शाही दरबार में रतनसिंह का प्रवेश होने के कोई डेढ़ वर्ष बाद ही महेशदास को जालोर का परगना वंशपरम्परागत जागीर के रूप में मिला था।

[६७] रतन०, पृ० ६। बाल्यकाल में रतनसिंह के जालोर न आने या वहाँ आकर अधिक न ठहरने का उल्लेख रतन० के लेखक ने किया है। यहाँ जालोर से महेशदास के परिवार के निवासस्थान का ही अर्थ समझना चाहिए। रतन० के लेखक को यह ज्ञात न था कि सन् १६४२ ई० में जालोर परगना मिलने से पहिले महेशदास का निवास क्रमशः पीसांगन और जहाजपुर में रहा था।

[६८] गुरूजी०।

कल्याणदास के उत्तराधिकारी नियुक्त होने की सूचना का रतनसिंह के पास जालोर पहुँचना, रतनसिंह का दुखी होकर दिल्ली जाने का इरादा करना, दिल्ली जाने में कल्याणदास की जननीके बाधा डालने के विफल प्रयत्न, रतनसिंह का दिल्ली पहुँच कर जोधपुर के डेरे पर ठहरना, आम्बेर के मिर्जा राजा जयसिंह से मिलना एवं उनसे सहायता का आश्वासन पाना, आदि बातों का रतन०, पृ० १२-१३ पर विस्तृत विवरण दिया है। दन्तकथाओं तथा ख्यातों के आधार पर ही इनका उल्लेख वहाँ किया गया है। रासो० में इनमें से किसी का भी उल्लेख नहीं है। रासो०, पृ० ५१ पर तो रतनसिंह का महेशदास के साथ कहरकोप हाथी देखने

काश्मीर से लौट कर जब नवम्बर ६, १६४० ई० को शाहजहाँ लाहौर पहुँचा तब तक महेशदास भी शाही सेवा में उपस्थित हो गया। आगामी दो वर्षों तक शाहजहाँ लाहौर में ही ठहरा रहा, और महेशदास भी शाहजहाँ की सेवा में वहाँ ही बना रहा। ये दो वर्ष महेशदास के लिए बहुत ही सौभाग्यपूर्ण प्रमाणित हुए; उसका मनसब बढ़ा, ज़मींदारी प्राप्त हुई और उसके पुत्र रतनसिंह का भी शाही दरबार में प्रवेश हो गया, जिससे उसके भावी उत्थान की नींव पड़ी।

जनवरी २२, १६४१ ई० को शाहजहाँ की वर्षगांठ थी, उसने ५०वें वर्ष में पदार्पण किया था; उसी उपलक्ष में उस दिन तुला दान हुआ और उत्सव होने लगे जो कई दिन तक लगातार लाहौर में होते ही रहे।[६९] इसी उत्सव के सिलसिले में एक दिन[७०] शाहजहाँ ने हाथियों की लड़ाई करवाने की आज्ञा दी। कहरकोप नामक एक शाही हाथी, जिस पर शाहजहाँ का विशेष प्रेम था, इस गज-युद्ध के लिए लाया गया। कहरकोप सर्वदा मस्त रहता था और उसको पूरी तरह वश में रखना सम्भव नहीं था। गज-युद्ध के लिए लाते समय वह राह में स्वच्छन्द होकर धूम-धाम करता बाज़ार में होता

जाने का उल्लेख है। अतएव ख्यातों में दिया गया विवरण प्रधानतया कल्पना और अतिशयोक्ति से पूर्ण एवं अविश्वसनीय ही जान पड़ता है।

[६९] पाद०, २, पृ० २२२।

[७०] हाथियों की यह लड़ाई, और रतनसिंह से कहरकोप की यह मुठभेड़ किस दिन हुई यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता है। फ़रवरी ११ को शाहजहाँ ने महेशदास को एक हाथी प्रदान किया तथा फ़रवरी १५ को रतनसिंह को सुनहरी तलवार दी, एवं अनुमान यही होता है कि यह घटना फ़रवरी १० या ११, १६४१ ई० को ही घटी होगी।

हुआ शाही दरबार के स्थान पर जा पहुँचा। हाथियों की लड़ाई देखने को वहाँ बहुत भीड़ एकत्रित थी; महेशदास भी वहाँ उपस्थित था, और उसके साथ उसका ज्येष्ठ पुत्र रतनसिंह भी वहीं एक ओर सीढ़ियों पर खड़ा था। हाथी को शाही दरबार-स्थान की सीढ़ियाँ चढ़ते देख कर रतनसिंह से रहा न गया। उसे पीछे हटाने के लिए अपनी कटार निकाल कर वह आगे बढ़ा। अपने सामने आते हुए रतनसिंह पर हाथी ने हमला किया और उसे सूँड से पकड़ कर धरती से उठा लिया। परन्तु रतनसिंह ने तब भी साहस के साथ हाथी के सिर पर कटार मारी, और अवसर मिलते ही सूँड की पकड़ में से निकल कर फुर्ती के साथ वह हाथी के सिर पर चढ़ बैठा और अपनी कटार से हाथी पर चोटें करता ही गया। अन्त में घबरा कर हाथी लौटा और अवसर देखकर रतनसिंह हाथी पर से कूद पड़ा।[७१]

रतनसिंह की यह वीरता देखकर शाहजहाँ बहुत ही प्रसन्न हुआ, उसको बहुत सराहा और रतनसिंह को महेशदास जैसे वीर पिता का उपयुक्त उत्तराधिकारी माना।[७२] कहरकोप हाथी भी फ़रवरी

---

[७१] रतन०, पृ० १३-१५; रासो०, पृ० ४७-५२।

जिस कटार से रतनसिंह ने कहरकोप का सामना किया था, वह एक साधारण सीधा-साधा शस्त्र है। उसी दिन से वह कटारी इस घराने की एक पूजनीय वस्तु समझी जाने लगी। रतनसिंह के उत्तराधिकारी एवं ज्येष्ठ पुत्र रामसिंह के द्वारा यह पूजनीय कटारी रामसिंह के पुत्र केशवदास के अधिकार में आई और रतलाम राज्य का अन्त होने पर अन्य वंशक्रमागत सम्पत्ति एवं वस्तुओं के साथ यह कटार भी केशवदास के ही अधिकार में रही। यह कटार आज भी सीतामऊ राजघराने के शस्त्रागार में विद्यमान है, एवं शस्त्र-पूजा के समय बड़े आदर के साथ इसकी भी पूजा होती है।

[७२] **ख्यात० और दन्तकथाओं के आधार पर रतन०, पृ० १८ पर शाहजहाँ**

११, १६४१ ई० को महेशदास को प्रदान कर दिया गया।[७३] एवं चार ही दिन बाद फ़रवरी १५ को शाहजहाँ ने रतनसिंह को सुनहरी साज की एक फ़ौजी तलवार प्रदान की।[७४]

इस प्रकार अपनी वीरता, धैर्य और साहस द्वारा रतनसिंह ने शाहजहाँ का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। रतनसिंह की वीरता की ख्याति सर्वत्र फैल गई, और महेशदास ने उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया।[७५]

और रतनसिंह की बातचीत का विवरण दिया है जो चतुरतापूर्ण होते हुए भी बहुत कुछ कल्पनापूर्ण जान पड़ता है। यह संभव है कि इस समय जब शाहजहाँ को ज्ञात हुआ कि रतनसिंह के ज्येष्ठ होते हुए भी महेशदास कल्याणदास को अधिक चाहता है एवं उसे अपना उत्तराधिकारी बनाने को उत्सुक है, शाहजहाँ ने महेशदास को सलाह दी कि वह रतनसिंह जैसे वीर पुत्र को ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करे।

रतलाम०, पृ० ४-५ पर दिया हुआ वृत्तान्त ख्यातों और दन्तकथाओं के ही आधार पर लिखा गया है। रतन० में दिए हुए विवरण से इसमें कोई विशेष उल्लेखनीय विभिन्नता नहीं है।

रासो०, पृ० ५२-५ पर कुम्भकर्ण ने शाहजहाँ और उसकी बेगमों की प्रसन्नता, रतनसिंह के प्रति उनका बर्ताव, एवं रतनसिंह और महेशदास को दिए गये पुरस्कारों का जो वर्णन लिखा है, वह अतिशयोक्ति पूर्ण है, और प्रधानतया कवि-कल्पना के ही आधार पर उसकी रचना हुई है।

[७३] पाद०, २, पृ० २२४। रासो०, पृ० ५३ पर लिखा है कि वह हाथी रतनसिंह को मिला था, जो ठीक नहीं जान पड़ता।

[७४] पाद०, २, पृ० २२५; रासो०, पृ० ५३; रतन०, पृ० १६-२०।

[७५] इस घटना के बाद में दी गई महेशदास की सनदों एवं दान-पत्रों में रतनसिंह का नाम भी मिलता है।

५. महेशदास की मान-वृद्धि एवं उसे जालोर का परगना मिलना

महेशदास का भाग्य-सितारा अब ऊँचा चढ़ने लगा। शाहजहाँ का वह विश्वासपात्र बनने लगा और उसके मनसब में भी निरन्तर वृद्धि होने लगी। अप्रेल १२, १६४१ ई० को उसका मनसव बढ़ा कर अब एक हज़ारी ज़ात–८०० सवारों का कर दिया गया।[७६] इसके कुछ ही माह बाद महेशदास छुट्टी लेकर जहाज़पुर गया और कार्तिक विदी अमावस्या सं० १६९८ वि० (अक्तूबर २४, १६४१ ई०) को सूर्यग्रहण के अवसर पर तीर्थस्थान के लिए वह पुष्कर गया, और इस पर्व पर उसने देवा नामक ब्राह्मण को जहाज़पुर परगने के अन्तर्गत कुछ धरती पुण्यार्थ दी।[७७] पुष्कर में तीर्थ-स्नान के बाद महेशदास पुनः शाहजहाँ की सेवा में लाहौर लौट गया। वहाँ जनवरी ११, १६४२ ई० को तुलादान का दरबार हुआ, जिसकी ख़ुशी में महेशदास का मनसब बढ़ा कर एक हज़ारी ज़ात–एक हज़ार सवारों का कर दिया गया।[७८]

इस समय ईरान का शाह सफ़ी क़न्धार को जीतकर पुनः ईरान के राज्य में लेने का दृढ़ निश्चय कर तैयारियाँ करने लगा। उसने अपने प्रधान सेनापति रुस्तम गुरजी को एक बड़ी सेना लेकर क़न्धार

---

[७६] पाद०, २, पृ० २३०।

[७७] इस धरती-दान का ताम्र-पत्र महामहोपाध्याय डा० गोरीशंकरजी हीराचन्दजी ओझा के संग्रह में विद्यमान है। टीटा (टीटोड़ा) गाँव में १४६ बीघा धरती दान की गई थी। यह "टीटोड़ा" गाँव जहाजपुर से कोई १८ मील दक्षिण में है।

[७८] पाद०, २, पृ० २८१।

के लिए रवाना किया और राह में निशापुर जाकर शाह के आने तक के लिए वहाँ पड़ाव करने का आदेश दिया। इन सब तैयारियों का विवरण सुन कर शाहजहाँ के दरबार में बड़ी हलचल मच गई। शाहज़ादे दारा के प्रधान सेनापतित्व में एक बड़ी सुसज्जित सेना तैयार की गई। सैद ख़ान जहाँ, रुस्तम ख़ाँ बहादुर, मिर्ज़ा राजा जयसिंह और राजा जसवंतसिंह आदि सेनापतियों को इस सेना में नियुक्त किया गया। अन्य सेनानायकों के साथ महेशदास राठौड़ को भी इस सेना के साथ भेजा गया। अप्रेल १०, १६४२ ई० को यह सेना लाहौर से रवाना हुई। रवाना होते समय महेशदास को उसके मनसब के अनुरूप ख़िलअत, घोड़ा और अलम (झंडा) दिए गए।[७२]

सिन्धु नदी पार कर जब यह सेना नीलाब नदी के पास पहुँची तब दारा ने सुना कि ईरान का शाह सफ़ी मई २, १६४२ ई० को ही काशान में मर गया। दारा सेना सहित ग़ज़नी में ठहरा रहा और उसने शाहजहाँ को इस घटना की सूचना दी। यद्यपि दारा का प्रस्ताव था कि अवसर देखकर हिरात और सीस्तान पर आक्रमण कर उन्हें जीत लिया जावे, परन्तु शाहजहाँ ने इसे स्वीकार नहीं

---

[७२] पाद०, २, पृ० २६३-४; दारा०, १, पृ० ३१-३२।

यह अलम (झंडा) हरा या गहरे लाल रंग का होता था; उस पर सुनहरी ज़र का चिह्न और सुनहरी ज़रीन गोट होती थी। एक हज़ार सवार का मनसब प्राप्त होने के बाद ही यह अलम मनसबदार को दिया जाता था। ईर्विन०, पृ० ३१-२, ३४।

महेशदास को गहरे लाल रंग का झंडा मिला था। महेशदास एवं उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त ये झंडे केशवदास को प्राप्त हुए और आज भी वे केशवदास के वंशज, सीतामऊ राजघराने के राजचिह्न हैं।

किया और सेना सहित लौट आने का उसे हुक्म दिया। ग़ज़नी से रवाना होकर सितम्बर २, १६४२ ई० को दारा लाहौर पहुँचा; महेशदास राठौड़ भी दारा की सेना के साथ ही शाहजहाँ की सेवा में वापस लौट आया था।[८०]

शाहजहाँ महेशदास से प्रसन्न था ही, अब उसने महेशदास का मान और पद-वृद्धि करने की सोची। अगस्त ३१, १६४२ ई० को उसने महेशदास का मनसब दुगना कर दिया; वह अब दो हज़ारी ज़ात–दो हज़ार सवारों का मनसबदार बन गया। इस अवसर पर शाहजहाँ को यह भी आवश्यक जान पड़ा कि महेशदास को जागीर भी दी जावे जहाँ उसका परिवार आदि स्थायी तौर पर रह सके। अतएव अपना वतन (निवासस्थान) बनाने के लिए उसे जालोर परगना दिया।[८१] बहुत करके इसी अवसर पर महेशदास के ज्येष्ठ पुत्र रतनसिंह को भी चार सदी ज़ात–दो सौ सवारों का मनसब मिला।[८२] इस प्रकार रतनसिंह की भी गिनती शाही मनसबदारों में हो गई।

---

[८०] पाद०, २, पृ० २६४-३०८; दारा०, १, पृ० ३२-३३; बनारसी०, पृ० २१६, २२०।

[८१] पाद०, २, पृ० ३०८; नैणसी०, १, पृ० १८२; ख्यात०, १, पृ० १०६।

[८२] पाद०, २, पृ० ६३५ पर लिखा है कि सन् १६४७ ई० में जब महेशदास मरा, तब रतनसिंह का मनसब चार सदी-दो सौ सवारों का था। यह मनसब रतनसिंह को कब मिला, इसका कोई भी स्पष्ट उल्लेख किसी भी ऐतिहासिक ग्रन्थ में नहीं मिलता है। रासो०, पृ० ५२-५३ के अनुसार कहरकोप के साथ रतनसिंह की मुठभेड़ के दिन ही हाथी, तलवार आदि के साथ ही रतनसिंह को मनसब और जालोर का क़िला भी मिला। इस आधार पर रतन०, पृ० २०-२१ पर अनुमान किया गया है कि तलवार प्रदान किए जाते समय फ़रवरी १५, १६४१ ई०

अपने इस नए वतन का आवश्यक प्रवन्ध करने और अपनी नई जागीर पर अधिकार करने के लिए महेशदास शाहजहाँ से छुट्टी लेकर जालोर के लिए रवाना हुआ, और वह रतनसिंह को भी अपने साथ ले गया।[८३]

जालोर का यह परगना सिरोही राज्य की उत्तर-पश्चिमी सरहद पर स्थित है। अकबर के शासन काल में यह परगना अजमेर सूबे के अन्तर्गत सिरोही सरकार का ही एक महल माना जाता था। उस समय इस परगने पर बिहारी अफ़ग़ानों का अधिकार था, जिन्हें जोधपुर के राजकुमार गजसिंह ने सन् १६१६ ई० में शाही आज्ञानुसार जालोर से मार भगाया और तब वे अफ़ग़ान पालनपुर में जा बसे। जब गजसिंह जोधपुरका शासक बना तो यह परगना उसको जागीर में दे दिया गया था, एवं उसके जीवन पर्यन्त वह उसी के अधिकार में रहा।[८४] गजसिंह की मृत्यु होने पर सन् १६३८ ई० में यह परगना खालसा किया गया, और सन् १६४२ ई० में महेशदास को दिए जाने

को ही यह मनसब रतनसिंह को मिला होगा। परन्तु यह स्पष्ट है कि जालोर की जागीर उक्त घटना के कोई डेढ़ वर्ष बाद मिली। अतएव यह अधिक सम्भव जान पड़ता है कि महेशदास को जागीर देते समय और उसका मनसब दो हजारी जात–दो हजार सवार का करने के सुअवसर पर ही रतनसिंह को भी शाही मनसब मिला।

[८३] रासो०, पृ० ५९। नवम्बर १, १६४२ ई० को लाहौर से रवाना होकर शाहजहाँ जनवरी ५, १६४३ ई० को आगरा पहुँचा और आगामी दो वर्ष तक वह आगरा में ही रहा। (पाद०, २, पृ० ३१७, ३२०, ४०७)। महेशदास लाहौर से ही जालोर चला गया था, या आगरा पहुँच कर उसने छुट्टी ली, ऐतिहासिक ग्रन्थों में इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता है।

[८४] आईन०, २, पृ० २७६; ख्यात०, १, पृ० १४२, १४३, १५१, १५४, १५६; मारवाड़०, १, पृ० १९४-५; जोधपुर०, १, पृ० ३८२-४।

तक ख़ालसे में ही रहा। जिस समय जालोर परगना महेशदास को मिला उस समय इस परगने की आमदनी लगभग तीन लाख रुपए की रही होगी।[८५] जालोरमें एक सुदृढ़ प्राचीन दुर्ग भी था, जो सुवर्ण-गिरि या सोनगिरि नाम से प्रसिद्ध था।[८६] जालोर परगने के अन्तर्गत सैणा का छोटा सा इलाक़ा भी सम्मिलित था। जालोर से कोई १८ मील दक्षिण में खारी नदी के दक्षिणी तीर पर स्थित सैणा नामक क़स्बे में बोड़ा चौहान बसते थे। जिस समय जालोर का परगना महेशदास को मिला, सैणा के इलाक़े पर नारायणदास बोड़ा के पुत्र कल्याणदास बोड़ा का अधिकार था। उसने महेशदास की आधीनता स्वीकार कर ली और सैणा का भूमिया मान कर महेशदास ने उसे वहाँ ही निर्विघ्न रहने दिया।[८७]

जालोर पहुँच कर महेशदास ने अपनी जागीर के इस परगने पर अपना अधिकार स्थापित किया, और वहाँ आवश्यक प्रबन्ध कर उसने अपने परिवार एवं कुटुम्बियों को भी जालोर बुला लिया। महेशदास के पुत्र, रतनसिंह, रायसल, कल्याणदास, फतेहसिंह और रामचन्द्र के अतिरिक्त कवि कुंभकर्ण के कथनानुसार जो-जो व्यक्ति इस समय जालोर पहुँचे उनमें प्रमुख थे, महेशदास के भाई राजसिंह के पुत्र, नाथ, भावसिंह और विष्णुदास, महेशदास के दूसरे

---

[८५] ख्यात० में विभिन्न समय जालोर परगने की निम्नलिखित आय का उल्लेख मिलता है :—

सन् १६१६ ई० में — रु० ३,८७,७७०-१०-६ (१, पृ० १२३);
सन् १६३० ई० में — रु० २,८७,७७१-१२-६ (१, पृ० १५४);
सन् १६७८ ई० में — रु० ४,८७,५००-०-० (१, पृ० १६७)।

[८६] नैणसी०, १, पृ० १५२; रासो०, पृ० ५६; जोधपुर०, १, पृ० ५४-६।

[८७] नैणसी०, १, पृ० १८२।

भाई जुझारसिंह के पुत्र पृथ्वीराज, अभयराज और रामचन्द्र, सांचोरा चौहान शार्दूल के पुत्र अमरदास और भगवानदास, सांचोरा चौहान वीरवर बल्लू का पुत्र नरपाल, सांचोरा चौहान गोपालदास का पुत्र राम, सांचोरा चौहान अचलदास का पुत्र केहरी और सांचोरा चौहान भीम का पुत्र सूरजमल। ये सब रतनसिंह के साथी थे।[८८]

महेशदास ने जालोर परगने का शासन-प्रबन्ध भी संगठित करने का प्रयत्न किया। अगस्त ८, १६४४ ई० को उसने मुहतो तिलोकसी सदारंग को जालोर परगने का क़ानूनगो नियुक्त किया। जालोर के आसपास पुराने ऊजड़ गाँव पुनः बसाने की ओर भी ध्यान दिया; डिडोरिया नामक गाँव को महेशपुरा नाम देकर पुनः आबाद किया।[८९] इस प्रकार आवश्यक प्रबन्ध करके महेशदास पुनः शाही सेवा में पहुँचने को जालोर से चला। शाहजहाँ इस समय आगरा में था, एवं महेशदास भी आगरा पहुँचा और वहाँ शाहजहाँ की सेवा में बना रहा।

६. अन्तिम वर्ष (१६४५-४७ ई०); मान-वृद्धि, युद्ध एवं मृत्यु

लगभग दो वर्ष तक आगरा में रह कर जनवरी १४, १६४५ ई० को शाहजहाँ वहाँ से लाहौर के लिए रवाना हुआ। महेशदास आगरा में शाहजहाँ की सेवा में तत्पर था, वह भी

---

[८८] रासो०, पृ० ७०।

सांचोरा चौहानों के पारस्परिक सम्बन्धों आदि के लिए देखो—नैणसी०, १, पृ० १७६-१७७।

[८९] जोधपुर आर्कियालाजिकल डिपार्टमेण्ट के संग्रह में प्राप्य सनद; फ़ेह-रिस्त०।
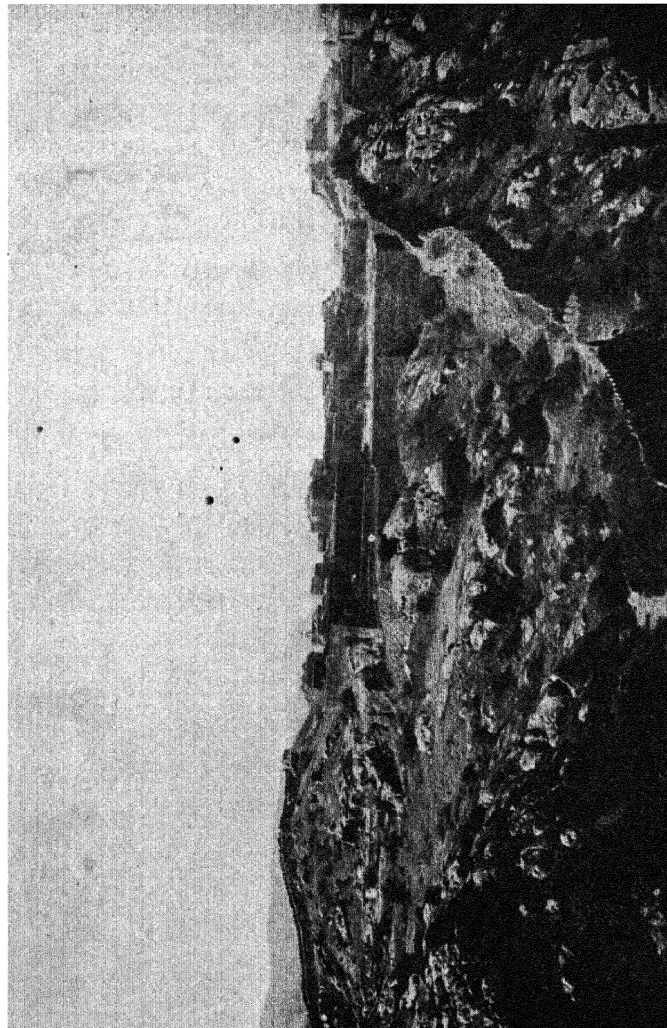
जालोर का किला

(जोधपुर राज्य के पुरातत्त्व-विभाग के सौजन्य से प्राप्त चित्र)

शाहजहाँ के साथ लाहौर की ओर चला। मार्च २० को महेशदास शाहजहाँ के साथ ही लाहौर पहुँचा, और दूसरे दिन मार्च २१ को शाहजहाँ ने महेशदास को लाहौर का क़िलेदार नियुक्त किया और इस नियुक्ति के अनुरूप उसे ख़िलअत भी प्रदान किया।[१०] लगभग एक वर्ष तक महेशदास इसी पद पर बना रहा। काश्मीर यात्रा से लौट कर जब शाहजहाँ अक्तूबर २५, १६४५ ई० को पुनः लाहौर पहुँचा, तब महेशदास लाहौर की क़िलेदारी पर ही नियुक्त था, और वहाँ शाहजहाँ की सेवा में उपस्थित हुआ था।[११] महेशदास ने क़िलेदारी का कार्य बहुत ही योग्यता पूर्वक किया, एवं जनवरी ११, १६४६ ई० को तुलादान के सुअवसर पर लाहौर में ही महेशदास का मनसब पाँच सदी ज़ात बढ़ाकर अब ढाई हज़ार ज़ात–दो हज़ार सवारों का कर दिया गया।[१२]

इधर सन् १६४५ ई० से ही बल्ख़-बुख़ारा में कई एक पारस्परिक झगड़े और गृह-युद्ध उठ खड़े हुए थे। वहाँ के शासक नज़र महम्मद के विरुद्ध विद्रोह होने लगे और उसका पुत्र अब्दुल अज़ीज़ समरक़न्द-बुख़ारा का ख़ान बन बैठा था। नज़र महम्मद अब भी बल्ख़ का शासक था, परन्तु उसे अपने पुत्र और उसके साथियों की तरफ़ से पूरी पूरी आशंका बनी हुई थी, एवं उसने शाहजहाँ की मदद चाही। शाहजहाँ ने इस अवसर को हाथ से जाने न दिया। नज़र महम्मद को सहायता देने के बहाने उसने मध्य एशिया में बल्ख़-बुख़ारा प्रदेश पर मुग़ल सत्ता स्थापित करने का अच्छा अवसर देखा। जनवरी

[१०] पाद०, २, पृ० ४०७, ४१३-४।

[११] पाद०, २, पृ० ४१४, ४७०।

[१२] पाद०, २, पृ० ४८०।

११, १६४६ ई० को नज़र महम्मद का दूत शाहजहाँ की सेवा में उपस्थित हुआ, और तत्काल ही शाहजहाँ ने सहायता देने का वादा कर इस चढ़ाई के लिए सेना तैयार करने का हुक्म दिया।[९३]

शाहज़ादे मुराद को इस चढ़ाई पर जाने वाली सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त किया, और उसके साथ ५०,००० सवार और १०,००० पैदल सिपाही, तोपची आदि नियुक्त हुए। मुग़ल साम्राज्य के प्राय: सब कुशल योद्धा और सेनानायक इस सेना के साथ भेजे गए। राजा विठ्ठलदास गौड़ को इस सेना के हरोल का सेनानायक नियुक्त किया, और अन्य राजपूत सरदारों के साथ महेशदास राठौड़ भी हरोल में जाने के लिए तैनात किया गया। फ़रवरी ६, १६४६ ई० को मुराद यह सेना लेकर लाहौर से रवाना हुआ और महेशदास भी उसी के साथ काबुल के लिए चल पड़ा। राह में कई दिन तक पेशावर में ठहरने के वाद अन्त में मई १५ को मुराद काबुल पहुँचा। राजा विठ्ठलदास, महेशदास आदि अन्य राजपूतों के साथ पेशावर से बंगष के घाटे में होता हुआ काबुल आया और मुराद के साथ आ मिला।[९४]

मुराद के पीछे-पीछे शाहजहाँ भी मार्च २६, १६४६ ई० को लाहौर से काबुल के लिए रवाना हुआ। मई ११ को वह पेशावर पहुँचा। चन्द्र मास के हिसाब से मई १४ को शाहजहाँ की वर्षगाँठ थी एवं उसके उपलक्ष में पेशावर में ही तुलादान हुआ, और इस अवसर पर कई एक अमीरों और सरदारों के मनसव और मान में वृद्धि हुई। महेशदास राठौड़ के मनसब में भी पाँच सदी ज़ात बढ़ा कर अब तीन हज़ारी ज़ात-दो हज़ार सवारों का कर दिया गया; महेशदास को

---

[९३] बनारसी०, पृ० १६१-५; पाद०, २, पृ० ४७६, ५३०-२।

[९४] पाद०, २, पृ० ४८२-५; बनारसी०, पृ० १६५।

नक्क़ारा प्रदान किया गया। यों अब महेशदास की गणना मुग़ल साम्राज्य के प्रधान अमीरों (अमीर-इ-आज़म) में होने लगी।[९५]

शाहजहाँ मई १५, १६४६ ई० को पेशावर से रवाना होकर मई २८ को काबुल पहुँचा। परन्तु उसके काबुल पहुँचने से पहिले ही शाही सेना बल्ख़ के लिए रवाना हो गई थी। मुराद ने राजा विट्ठलदास के सेनानायकत्व में मई २४ को हरोल को रवाना किया, और तीन दिन बाद वह स्वयं भी बाक़ी रही सेना को लेकर काबुल से चल पड़ा। महेशदास विट्ठलदास के साथ हरोल में रवाना हुआ था। हरोल जून २ को गुलबहार पहुँचा और वहाँ राह में पड़ी हुई बर्फ़ को उठवा कर राजा विट्ठलदास ने रास्ता साफ़ करवाया। विट्ठलदास के साथ ही महेशदास जून ६ को तूल के घाटे से गुज़रा। मुग़ल साम्राज्य की सरहद यहाँ समाप्त हो गई।[९६]

अब सारी शाही सेना एक साथ ही बल्ख़ की ओर बढ़ी। जून २५ को कुंदुज़ होता हुआ जुलाई १ को मुराद बल्ख़ के पास जा पहुँचा और दूसरे दिन उसने बल्ख़ पर अधिकार कर लिया। यह सेना नज़र महम्मद की ही सहायता के लिए भेजी गई थी, और नज़र महम्मद भी मुराद से मिलने को तैयार ही बैठा था, किन्तु जब शाही सेना बल्ख़ के पास पहुँची तो नज़र महम्मद डर कर बल्ख़ से भाग गया। मुराद ने यह बात सुनी तो उसने बहादुर ख़ाँ और असालत ख़ाँ को

---

[९५] पाद०, २, पृ० ५००, ५०४-५; इर्विन०, पृ० ६।

इर्विन लिखता है कि विशेष अनुग्रह होने पर ही नक्क़ारा और नौबत बजाने का अधिकार दिया जाता था; दो हज़ार सवार या उससे उच्च मनसब वालों को ही यह अधिकार प्रदान किया जाता था। इर्विन०, पृ० ३०।

[९६] पाद०, २, पृ० ५०६, ५०६, ५०८, ५१३-५१४; बनारसी०, पृ० १६६-७।

नज़र महम्मंद का पीछा करने को भेजा, एवं राजा विठ्ठलदास और तमाम राजपूतों को हरोल समेत अपने पास ही रखा। इस प्रकार महेशदास के भी मुराद के साथ बल्ख में ही रहने का निश्चय हुआ। परन्तु महेशदास राठौड़ रूपसिंह राठौड़, रामसिंह राठौड़, तथा अन्य कई राजपूत सरदार बहादुर ख़ाँ और असालत ख़ाँ के साथ हमदर्दी दिखाने एवं उनके साथ युद्ध में शामिल होकर अपनी वीरता प्रदर्शित करने के लिए बहुत ही उत्सुक थे, अतएव मुराद और अमीर-उल्-उमरा अलीमर्दान ख़ाँ की आज्ञा लिए बिना ही वे असालत ख़ाँ और बहादुर ख़ाँ के साथ शामिल होकर नज़र महम्मद का पीछा करने को चले गए।[१७]

नज़र महम्मद का पीछा करती, और उसके साथियों को गिरफ्तार करती हुई यह सेना जुलाई ६, १६४६ ई० को ग़ोती गाँव पहुँची। वहाँ पता लगा कि ग़ोती से छः कोस की दूरी पर स्थित शेरग़ान नामक क़स्बे में नज़र महम्मद उज़बकों और अलमानों से मिल कर इस सेना का सामना करने की तैयारी कर रहा था। अतएव ग़ोती से उसी दिन सेना आगे बढ़ी, और बहादुर ख़ाँ एवं असालत ख़ाँ ने युद्ध के लिए अपनी सेना को व्यवस्थित किया। महेशदास आदि राजपूतों को हरोल में दाहिनी ओर रखा।

नज़र महम्मद के पास शेरग़ान में १०,००० उज़बक और अलमान थे, मगर जब उन्होंने सुना कि मुग़ल सेना उनकी ओर बढ़ी चली आ रही थी तो उनमें से कई शेरग़ान से निकलकर अंदख़ुद को चल दिए। बाकी रहे सैनिकों को लेकर नज़रमहम्मद शेरग़ान से निकला और सामना करने के लिए मुग़ल सेना की ओर बढ़ा, परन्तु

---

[१७] पाद०, पृ० ५२७, ५४६-५०; बनारसी०, पृ० १६७-६।

मुग़ल सेना के साथ मुठभेड़ होने पर मुग़ल सैनिकों के बाणों और बन्दूक़ों की मार से घबरा कर नज़र महम्मद के साथी भाग खड़े हुए। तब विवश होकर नज़रमहम्मद भी युद्ध से मुहँ मोड़ कर अंदख़ुद को चला गया। शाही सेना ने शेरग़ान पर अधिकार कर लिया। शाही सेना की इस विजय का समाचार जुलाई १२ के दिन शाहजहाँ को काबुल में ज्ञात हुआ। इस सफलता को प्राप्त करने में जिन-जिन अमीरों, सरदारों या सेनानायकों ने हाथ बटाया था, उनके साथ ही साथ महेशदास राठौड़ को भी ख़िलअत मिला और उसके मनसब में ५०० सवार बढ़ा दिए, जिससे उसका मनसब अब तीन हज़ारी ज़ात–ढाई हज़ार सवार का हो गया।[९८]

शेरग़ान–विजय ३ की ये ख़ुशियाँ समाप्त भी न होने पाई थीं कि शाहजहाँ को मुराद का पत्र मिला, जिसमें उसने प्रार्थना की थी कि उसे बल्ख़ से वापस काबुल बुला लिया जावे। शाहजहाँ ने पत्र द्वारा मुराद को समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु मुराद पुनः वापस बुलाए जाने का आग्रह करता ही रहा और शाहजहाँ का उत्तर आने से पहिले ही बहादुर ख़ाँ, असालत ख़ाँ और उनके साथ की सारी सेना को शेरग़ान से वापस बल्ख़ बुला लिया। यों महेशदास पुनः बल्ख़ को लौट आया।

शाहजहाँ ने अन्त में जुलाई ३० को अपने वज़ीर सादुल्ला को बल्ख़ भेजा। अगस्त १० को वहाँ पहुँचकर सादुल्ला ने मुराद को बहुत समझाया, किन्तु वह अपनी जिद से नहीं टला, और सादुल्ला के पहुँचने के दो-तीन दिन बाद ही मुराद बल्ख़ से काबुल के लिए रवाना हो गया। तब तो सादुल्ला खाँ बल्ख़ का शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित

---

[९८] पाद०, २, पृ० ५५०-५५२, ५५४; बनारसी०, पृ० १९९-२००।

करने लगा। अगस्त १७ या १८ के लगभग, शाहजहाँ की आज्ञानुसार सादुल्ला ख़ाँ ने नज़र महम्मद की जो औरतें, बेटे-बेटियाँ और पोते बल्ख़ में थे, उन सबको राजा विट्ठलदास गौड़, महेशदास राठौड़, खलीलुल्ला ख़ाँ, लेहरास्प ख़ाँ आदि के साथ काबुल के लिए रवाना किया। महेशदास और उसके सब साथी अगस्त ३० को काबुल पहुँच कर शाहजहाँ की सेवा में उपस्थित हुए।[९९]

काबुल पहुँचकर महेशदास पुनः शाहजहाँ की सेवा में रहने लगा। सितम्बर १०, १६४६ ई० को शाहजहाँ काबुल से लाहौर के लिए रवाना हुआ; महेशदास भी उसके साथ भारत की ओर लौटा और सम्राट् के साथ ही नवम्बर ९, १६४६ ई० को वह लाहौर पहुँच गया।[१००]

बल्ख़ की इस चढ़ाई में महेशदास ने बड़ी वीरता और साहस का परिचय दिया था। इस पिछले वर्ष भर में उसका मनसब भी बहुत बढ़ गया था। निरन्तर उसकी मान-वृद्धि हो रही थी। संभव था कि सन् १६४७ ई० में होने वाली बल्ख़-बदकशाँ की चढ़ाई में वह पुनः भेजा जाता, परन्तु दुर्भाग्यवश वह दीर्घायु न हो सका। मार्च ६, १६४७ ई० को महेशदास की लाहौर में मृत्यु हो गई।[१०१] लाहौर के क़ाज़ी के बाग़ में ही महेशदास की दाहक्रिया की गई; बाद में उसी स्थान पर एक छत्री भी बनवाई गई थी।[१०२] महेशदास की मृत्यु की सूचना तथा उसकी पाग पहुँचने पर उसकी सातवीं रानी, रामपुरा

[९९] पाद०, २, पृ० ५६४, ५७१; बनारसी०, पृ० २००-२०१।

[१००] पाद०, २, पृ० ५६४, ६०६।

[१०१] पाद०, २, पृ० ६३५।

[१०२] गुरूजी०; राणी०।

के हरिसिंह चन्द्रावत की पुत्री सरस कुँवर चन्द्रावती जालोर में सती हुईं।[१०३]

महेशदास वीर और साहसी था, और पिछले वर्षों में उसकी गणना अनुभवी और युद्ध-प्रिय सेनानायकों में की जाती थी। अपनी ही योग्यता तथा साहस के बल पर मुग़ल साम्राज्य के एक मनसबदार के साधारण सैनिक से बढ़ते २ उसने "अमीर-इ-आज़म" के मान को प्राप्त किया था। मृत्यु के समय उसका मनसब तीन हज़ारी ज़ात—ढाई हज़ार सवारों का था, और सारे मुग़ल साम्राज्य के हिन्दू मनसबदारों में उसका आठवाँ नम्बर था।[१०४] शाहजहाँ का वह बहुत ही विश्वासपात्र था। शाही दरबार में सिंहासन के पास ही एक संदली रहती थी जिस पर शाहजहाँ की तलवार और तीरकश आदि रखे रहते थे; शाही दरबार के समय उस संदली एवं शाही अस्त्र-शस्त्रों की देख-रेख करने का कार्य महेशदास को सौंपा गया था। शाही सवारी के समय भी शाहजहाँ के पीछे कुछ ही गज़ की दूरी पर वह बराबर बना रहता था। अतएव जब शाहजहाँ ने महेशदास की मृत्यु का समाचार सुना तो उसे बहुत खेद हुआ। महेश-दास के सैनिक तितर-बितर न हो जायँ, इसी विचार से शाहजहाँ ने

---

[१०३] रासो०, पृ० ७२।

[१०४] महेशदास से अधिक मान-प्राप्त एवं ज्यादा मनसब वाले सात हिन्दू मनसबदार थे :—

(१) राजा जसवन्तसिंह—जोधपुर, (२) राजा जयसिंह—आम्बेर, (३) राणा जगतसिंह—उदयपुर, (४) राजा विठ्ठलदास गौड़, (५) राजा पहाड़सिंह बुन्देला—ओरछा, (६) शत्रुसाल हाड़ा—बूँदी, और (७) माधोसिंह हाड़ा—कोटा। पाद०, २, पृ० ७२२-३।

महेशदास के उत्तराधिकारी, रतनसिंह राठौड़ को विशेष रूपेण अधिक मनसब दिया ।[१०५]

महेशदास को वतन (निवास-स्थान) के तौर पर जालोर परगना जागीर में प्राप्त हुआ था जो उसी रूप में उसके उत्तराधिकारी के पास भी रहा । इस प्रकार महेशदास ने एक नवीन राज्य की स्थापना की थी, जिसके ही आधार पर आगे चलकर रतनसिंह ने रतलाम के प्रथम राज्य की नींव डाली । महेशदास को मुग़ल साम्राज्य से कभी भी "राजा" या इसी प्रकार का कोई भी ख़िताब नहीं मिला था; फ़ारसी ग्रन्थों में केवल उसका नाम ही लिखा मिलता है । अपने निजी पत्र-व्यवहार और उसके द्वारा दी गई सनदों आदि में वह स्वयं को "महाराज" लिखता था ।[१०६]

यों महेशदास ने अपने पुत्र के कुल की भावी महत्ता और अपूर्व गौरव की नींव डाली । किन्तु युद्धक्षेत्र में शत्रुओं का सामना करते हुए कट-कट कर गिरने वाले, अपने प्राणों की बाज़ी लगा कर जीवन की चौसर खेलनेवाले, सर्वस्व की आहुति देकर स्वर्गीय गौरव-आभा प्राप्त करने वाले, मर कर अमर होने वाले, अनोखे वीरों का महत्व, जीवन भर युद्ध में रत इस सफल साहसी योद्धा के भाग्य में वदा न था। सफलता के इस लाड़िले की मृत्युकालीन इस अनपेक्षित अनहोनी विफलता को देख कर कवि कुंभकर्ण भी सिहर कर कह उठा,—

"निर्भय निसंक छहतीस कुंल, दिल दिलेल रखहु लख ।
अनफेर पित्ति सतसतिरन, मधुकर धर सज्या मरन ॥"[१०७]

---

[१०५] पाद०, २, पृ० ६३५; मा० उ०, ३, पृ० ४४६ ।

[१०६] सनदें०; राजव्यास० ।

[१०७] रासो०, पृ० ७३ ।

और शाहजहाँ ने भी विधि की इस विडम्बना से उदास होकर कहा, "महेशदास जैसे योद्धा को रणक्षेत्र में वीर-गति प्राप्त होनी थी कि वह अनेकों शत्रुओं को तलवार के घाट उतार कर ही सुखनींद सोता।"[१०८] पूरे ग्यारह वर्ष बाद रतनसिंह ने पिता की इस विफलता को क्षिप्रा के तीर पर अपने रुधिर से धोकर उसे एक भूली हुई बात बना दिया।

[१०८] पाब०, २, पृ० ६३५।

खण्ड–२

रतलाम राज्य की स्थापना

एवं

उसका अन्त

(१६४७-१६६४ ई०)

रतनसिंह

अध्याय ४

रतनसिंह[1]

(१६४७-१६५८ ई०)

१. रतनसिंह का जालोर पाना; बल्ख़ की चढ़ाई और कन्धार का प्रथम घेरा; १६४७-१६४६ ई०

मार्च, सन् १६४७ ई० में जब लाहौर में महेशदास की मृत्यु हुई तब उसका ज्येष्ठ पुत्र रतनसिंह जालोर था। इस समय रतनसिंह का मनसब चार सदी ज़ात-दो सौ सवारों का था। शाहजहाँ महेशदास से बहुत ही प्रसन्न था, एवं वह रतनसिंह की वीरता से भी परिचित था। शाहजहाँ चाहता था कि महेशदास की सेना तितर-बितर न हो जावे, अतएव महेशदास की मृत्यु के साथ ही शाहजहाँ ने जालोर का परगना रतनसिंह को दे दिया और रतनसिंह का मनसब बढ़ाकर डेढ़ हज़ारी ज़ात-डेढ़ हज़ार सवार का कर दिया गया।[2] शाहजहाँ ने रतनसिंह को यह भी हुक्म भेजा कि महेशदास की

---

[1] पाद०, वारिस०, कम्बू०, आदि फ़ारसी ग्रन्थों में उसका नाम सिर्फ 'रतन राठौड़' या 'रतन वल्द महेशदास राठौड़' ही लिखा मिलता है। ख्यात०, १, पृ०, १०६, २०७ पर भी इसका नाम सिर्फ 'रतन' दिया है। इससे अनुमान यही होता है कि नाम के साथ 'सिंह' बाद में ही जोड़ा गया।

[2] पाद०, २, पृ० ६३५।

मृत्यु से सम्बद्ध धार्मिक क्रिया-कर्म से निपटने पर अपनी सेना के साथ वह शाही सेना में सम्मिलित हो जावे।[३]

सन् १६४६ ई० में बल्ख-विजय एवं नज़र महम्मद के भाग जाने से ही मध्य एशिया का मामला सुलझा नहीं। अतएव शाहजहाँ ने अपने पुत्र औरंगज़ेब को गुजरात से बुला कर जनवरी २१, १६४७ ई० को उसे बल्ख और बदक्शाँ का सूबेदार नियुक्त किया। फरवरी १० को औरंगज़ेब लाहौर से अपने सूबों के लिए रवाना हुआ; और औरंगज़ेब की सहायता करने और युद्ध-क्षेत्र के निकट रहने के लिए मार्च १५, १६४७ ई० को शाहजहाँ भी लाहौर से रवाना हुआ और अप्रैल २५ को कावुल जा पहुँचा।[४]

अपने पिता महेशदास के क्रिया-कर्म से निपटने पर जालोर में रतनसिंह का राजतिलक हुआ, और तदुपरान्त शीघ्र ही उसे बादशाही सेना में सम्मिलित होने को रवाना होना पड़ा। रतनसिंह का ज्येष्ठ पुत्र रामसिंह इस समय लगभग ९ वर्ष का था; रतनसिंह ने उसे जालोर ही छोड़ा, और वह अपने काका जसवंतसिंह को लेकर अपनी सेना के साथ शाहजहाँ की सेवा में पहुँचने को चला। शाहजहाँ काबुल में था एवं रतनसिंह भी जालोर से सीधा काबुल गया और मई मास (१६४७ ई०) में वहीं शाही दरबार में वह जा पहुँचा।[५]

उधर औरंगज़ेब शाही सेना के साथ अप्रैल ७, १६४७ ई० को

---

[३] रासो०, पृ० ७७।

[४] पाद०, २, पृ० ६२५, ६३२, ६३८, ६७०, ६७८; औरंग०, १-२, पृ० ८५।

[५] रासो०, पृ० ७६-७९; पाद०, २, पृ० ६८४।

काबुल से रवाना होकर कहमर्द होता हुआ मई २५ को बल्ख़ पहुँचा। राह में उज़बेगों ने शाही सेना पर कई बार हमले किए। मई २९ को औरंगजेब बल्ख़ से अकच्या की ओर बढ़ा। नज़र महम्मद का बड़ा लड़का अब्दुल अज़ीज़ खाँ बुख़ारा का शाह था, उसने मुग़लों का सामना करने के लिए एक बड़ी सेना एकत्रित की। अकच्या की ओर बढ़ती हुई मुग़ल सेना को प्रति दिन दुश्मनों की सेना का सामना करना पड़ता था। पशाई पहुँचने पर औरंगज़ेब को बुख़ारा की एक बड़ी सेना के बल्ख़ की ओर बढ़ने की सूचना मिली, एवं औरंगज़ेब बल्ख़ के लिए लौट पड़ा। जून ९ तक प्रति दिन दुश्मनों के साथ युद्ध होता रहा किन्तु वे मुग़ल सेना को विशेष हानि न पहुँचा सके। अन्त में जून ९ को अब्दुल अज़ीज़ ने सन्धि की बातचीत प्रारंभ करने का संदेशा भेजा। जून ११ को औरंगज़ेब भी शाही सेना के साथ बल्ख़ को लौट आया, और सन्धि की शर्तों के बारे में बातचीत प्रारम्भ हुई।[1]

इस चढ़ाई के समय प्रारम्भ से ही औरंगज़ेब सैनिकों की कमी अनुभव कर रहा था, क्योंकि उसकी सेना का एक बहुत बड़ा भाग तलीक़ान, कुन्दुज़, रुस्तुक़, तिरमिज़, आदि स्थानों पर मुग़लों का अधिकार बनाए रखने को उन स्थानों पर नियुक्त था। काबुल पहुँच कर शाहजहाँ ने औरंगज़ेब की सहायता के लिए भेजने को सेना एकत्रित की। मिर्ज़ा राजा जयसिंह के सेनापतित्व में यह सेना जून ४, १६४७ ई० को शाहजहाँ ने काबुल से रवाना की और उसके साथ बीस लाख रुपया भी औरंगज़ेब को भेजा गया। इस सेना के साथ रतनसिंह को भी भेजा गया, और रवाना होने से पहिले उसके मनसब के अनुरूप एक ख़िलअत और घोड़ा उसे प्रदान किया। रतनसिंह का

---

[1] पाद०, २, ६७१-६९४, ७०४; औरंग०, १-२, पृ० ८६-९४।

काका जसवंत सिंह भी इसी सेना के साथ भेजा गया और रवाना होते समय उसे भी एक घोड़ा मिला।[७] परन्तु जयसिंह के साथ रतनसिंह जब बल्ख़ पहुँचा, तब तक वहाँ युद्ध समाप्त हो चुका था, और सन्धि की बातचीत चल रही थी, एवं तत्काल ही वहाँ उसे किसी युद्ध में भाग न लेना पड़ा।

शाहजहाँ की आज्ञानुसार औरंगज़ेब ने नज़र महम्मद के साथ सन्धि कर ली, और कई माह की बातचीत के बाद नज़र महम्मद ने सितम्बर २३ को अपने पोते को औरंगज़ेब के पास भेजा और बीमारी का बहाना बनाकर वह स्वयं नहीं आया। परन्तु सरदी का मौसम आ रहा था और औरंगज़ेब स्वयं भी बल्ख़ से लौट जाने को उत्सुक था, एवं अपने अन्य शाही अफ़सरों की सलाह को मान कर उसने काबुल लौटने का निश्चय किया। बल्ख़ से उत्तर में नियुक्त विभिन्न सैनिक नाकों से शाही सेना को लौटाने के लिए प्रबन्ध किया गया; तिरमिज़ से सादत खाँ को ले आने के लिए जयसिंह भेजा गया, बहुत करके रतनसिंह भी जयसिंह के साथ तिरमिज़ गया होगा।[८]

अक्तूबर १, १६४७ ई० को औरंगज़ेब का पड़ाव बल्ख़ के पास ही मैदान में स्थित जलगाए नामक स्थान में था। उसी दिन औरंगज़ेब ने बल्ख़ का किला, वह सारा प्रदेश और वहाँ संग्रहीत समस्त धान्य आदि नज़र महम्मद के पोतों आदि को सौंप दिया। दूसरे दिन जयसिंह भी तिरमिज़ से लौट कर जलगाए में शाही सेना में

---

[७] औरंग०, १-२, पृ० ८६-८८; पाद०, २, पृ० ६८४।

[८] औरंग०, १-२, पृ० ६४-६६; वारिस०, १, प० ७ ब।

तिरमिज़ बल्ख़ से कोई ३६ मील उत्तर-पूर्व में अक्षु (Oxus) नदी पर ३७° १५′ उत्तर, ६७° १५′ पूर्व में स्थित है।

सम्मिलित हो गया, तथा अक्तूबर ३ को औरंगज़ेब सारी शाही सेना को लेकर जलगाए से काबुल के लिए लौट पड़ा। लौटती हुई इस शाही सेना के लिए औरंगज़ेब ने पूरा २ प्रबन्ध किया। दाहिने पहलू के बचाव के लिए उसने जयसिंह और उसके राजपूत साथियों को नियुक्त किया, जिनमें रतनसिंह भी था।[९]

काबुल लौटते समय की इस यात्रा में शाही सेना को कई एक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अलमानों के दल शाही सेना का पीछा कर निरन्तर लूट-खसोट और हमले कर रहे थे। गज़नियाक की सकड़ी घाटी में से शाही सेना कठिनाई के साथ धीरे-धीरे गुज़री। अक्तूबर ८ को शाही सेना का पिछला हिस्सा जब घाटी से गुज़र रहा था, तब अलमानों की एक बहुत बड़ी फ़ौज उस पर हमला करने को बढ़ी। तब एक ओर से नज़र बहादुर और रतनसिंह ने, और दूसरी ओर से मोतमिद खाँ आदि अफ़सरों ने अलमानों पर हमला किया। इस युद्ध में रतनसिंह दिल खोल कर बड़ी मेहनत से लड़ा और साहस तथा वीरता का उसने पूर्ण परिचय दिया। अलमान रतनसिंह और उसके साथियों का सामना न कर सके और भाग खड़े हुए। कुछ दूर तक पीछा करने के बाद रतनसिंह और उसके साथी लौट आए। अक्तूबर १४ को शाही सेना गज़नी पहुँची।[१०]

---

[९] वारिस०, १, प० ७ ब-८ अ; औरंग०, १,२, पृ० ६६-६७।

[१०] वारिस०, १, प० ८ अ; मा० उ०, ३, पृ० ४४६; ईलियट०, ७, पृ० ८०; औरंग०, १-२, पृ० ६६-६७।

ईलियट० में ग़लती से अल्प-विराम 'केशजी' शब्द के बाद न छप कर 'केशजी' के पहिले छप गया है। रतलाम०, पृ० ५ पर फ़ुटनोट नं० २ में ईलियट के इस उल्लेख का उद्धरण देते हुए वहाँ की छापे की इस भूल को दुहरा कर "महेशदास का पुत्र, केशजी रतनसिंह" लिखा है। 'केशजी' शब्द असल में 'केशगी' होना

सरदी निरन्तर बढ़ती जाती थी, बर्फ़ पड़ने लगी थी। हिन्दू-कुश पार करते समय तो शाही सेना को बर्फ़ से ढकी हुई चोटियों या घाटियों से गुज़रना पड़ा था। अब हज़ारा के लोग भी उज़बकों से मिल कर शाही सेना का पीछा कर लूट-खसोट करने लगे। माल-असबाब ढोने वाले मनुष्य और जानवरों की भी संख्या पर्याप्त न थी, जिससे शाही सेना बहुत धीरे-धीरे लौट रही थी। अक्तूबर २४ को सेना हिन्दूकुश पहुँची। अपनी सेना को यहीं छोड़ कर औरंगज़ेब स्वयं तेज़ी से काबुल के लिए रवाना हुआ और तीन दिन में वहाँ जा पहुँचा।[११]

किन्तु तब तक सारी शाही सेना हिन्दूकुश को भी पार न कर चुकी थी। जयसिंह और उसके राजपूत साथी, जिनमें रतनसिंह और उसके सैनिक भी थे, शाही ख़ज़ाना एवं उसके ज़िम्मेदार अफ़सर ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ, शाही सामान-असबाब तथा बहादुर ख़ाँ के नेतृत्व में आने वाला शाही सेना का अन्तिम विभाग अभी कई मंज़िल पीछे रह गए थे। कड़ी सरदी और निरन्तर बरफ़ पड़ने के कारण शाही सेना के इन दलों को अनगिनित कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। हज़ारा के लोग लूट की आशा से निरन्तर हमले कर रहे थे। रतनसिंह और उसके सैनिकों को भी ये सारी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं और आवश्यकतानुसार दुश्मनों का भी सामना कर उनसे युद्ध करना पड़ा। नवम्बर १०, १६४७ ई० को ही सारी सेना काबुल पहुँच पाई।[१२]

चाहिए, जो अफ़ग़ानों की एक जाति का नाम है। नजर बहादुर इसी केशगी जाति का अफ़ग़ान था। मा० उ०, ३, पृ० ७७७; होड़ीवाला कृत 'स्टडीज़ इन इण्डो-मुस्लिम हिस्ट्री', पृ० ६३६।

[११] वारिस०, १, प० ८ ब; औरंग०, १-२, पृ० ६७-६८।

[१२] वारिस०, १, प० ८ ब-६ अ; औरंग०, १-२, पृ० ६७-६८।

शाहजहाँ तो औरंगज़ेब को सन्धि कर काबुल लौट आने की आज्ञा देकर अगस्त २१,१६४७ ई० को ही काबुल से हिन्दुस्तान को लौट पड़ा था। अक्तूबर २४ को वह लाहौर पहुँचा और दो सप्ताह वहाँ ठहर कर वह दिल्ली होता हुआ जनवरी १, १६४८ ई० को आगरा जा पहुँचा। औरंगज़ेब के काबुल लौटने तक काबुल में ठहरने को शाहजहाँ अपने दूसरे बेटे शुजा को छोड़ आया था; औरंग-ज़ेब के काबुल पहुँच जाने पर शुजा काबुल से रवाना होकर फरवरी ७, १६४८ ई० को शाहजहाँ के पास आगरा लौट आया।[१३]

शाहजहाँ को आशंका थी कि बल्ख़-बुख़ारा की ओर से कहीं काबुल पर आक्रमण न हो जावे एवं उसने औरंगज़ेब को मार्च, १६४८ ई० तक अटक पार ही रखा। और जब यह अंदेशा न रहा तब मार्च १६, १६४८ ई० के बाद उसे मुलतान का सूबेदार नियुक्त कर वहाँ जाने की आज्ञा दी। परन्तु बल्ख़ और बदकशाँ पर चढ़ाई करने के लिए जो सेना भेजी गई थी, काबुल पहुँचते ही वह भारत वापस बुला ली गई। जयसिंह सीधा आम्बेर चला गया, और रतन-सिंह अपने सैनिकों को लेकर जालोर को लौट गया।[१४]

महेशदास की मृत्यु के बाद तत्काल ही रतनसिंह को शाही सेना

इसी घटना को लेकर बिहारी ने निम्नलिखित दोहा लिखा है:—

"यौं दल काढ़े बलक तें तैं जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यों हरि गाई गुवाल॥"

और यह कठिन कार्य पूरा करने में रतनसिंह जयसिंह का प्रधान सहायक था।

[१३] वारिस०, १, प० ४ अ, ६ अ, ६ ब, १० अ; औरंग०, १-२, पृ० १०१।

[१४] वारिस०, १, प० १२ अ; औरंग०, १-२, पृ० १०१।

में सम्मिलित होना पड़ा था, एवं उसे तब समय नहीं मिला था कि जालोर की अपनी जागीर एवं ज़मीदारी में वह अपनी सत्ता पूर्णतया स्थापित कर सके। बल्ख़ की इस चढ़ाई से लौटने पर उसे कुछ समय मिला। सैणा का इलाक़ा भी जालोर के ही अन्तर्गत था; उस समय इसके ताल्लुक़ कोई १२ गाँव और छोटे-मोटे ३०० रहट थे, और आय भी कोई दस हज़ार रुपया सालाना की थी। यह इलाक़ा नारायणदास बौड़ा चौहान के पुत्र कल्याणदास के अधिकार में था। कल्याणदास ने महेशदास की तो आधीनता स्वीकार कर ली थी, और वह सैणा का भूमिया मान लिया गया था।

अब जब रतनसिंह जालोर का अधिकारी हुआ तो उसने बौड़ा चौहानों का अधिकार सैणा से हटा सैणा को पूर्णतया जालोर के अन्तर्गत करने की सोची। वह सैणा गया, और कल्याण से कहा कि "हम आगे चलते हैं तुम जल्दी से आन पहुँचना।" कल्याण थोड़े से साथियों के साथ आया, तब रतनसिंह ने बर्छा मार कर कल्याणदास बौड़ा को ठिकाने लगाया, और सैणा पर अपना अधिकार जमाया। दूसरे चौहान भाग कर सिरोही इलाक़े में जा रहे।[१५] यों रतनसिंह ने बौड़ा चौहानों को हटा कर सैणा पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, परन्तु जिस प्रकार उसने यह कार्य किया वह सर्वथा अनुचित और रतनसिंह के समान वीर योद्धा के अनुरूप न था।

परन्तु रतनसिंह को अधिक समय तक जालोर रहने का अवसर न मिला। भारत की सीमा पर स्थित कन्धार के किले के लिए पिछले डेढ़ सौ वर्षों से मुग़ल सम्राटों और ईरान के शाहों में निरन्तर खींचा-तानी होती रही थी। दोनों ही उस पर अपना आधिपत्य

---

[१५] नैणसी०, १, पृ० १८२-३।

स्थापित करने को उत्सुक थे। सन् १६३८ ई० के फरवरी मास में जब कन्धार के ईरानी किलेदार अलीमर्दान खाँ ने उसे मुग़लों को सौंप दिया था, तब से यह सुप्रसिद्ध किला शाहजहाँ के ही अधिकार में रहा, और इस किले को सुदृढ़ बनाने, वहाँ आवश्यक खाद्य तथा युद्ध सामग्री एकत्रित करने, एवं उसके आधीन बिस्त और ज़मीन दावर को अधिक सुसज्जित बनाने के लिए शाहजहाँ ने कोई कसर छोड़ी न थी।[१६]

इधर ईरान का शाह अब्बास जिसकी उम्र इस समय १६-१७ बरस की ही थी, कन्धार पुनः जीतने के लिए उत्सुक हो उठा, एवं कन्धार पर चढ़ाई के लिए तैयारियाँ होने लगीं। सितम्बर ३०, १६४८ ई० को प्रथम बार शाहजहाँ के पास इन तैयारियों की सूचना पहुँची। शाहजहाँ तब दिल्ली में था। एक बार तो उसने इरादा किया कि वह सीधा काबुल पहुँच जावे और कन्धार जाने वाली सेना काबुल में ही एकत्रित की जावे, परन्तु शाहजहाँ के कई आराम-पसन्द सलाहकारों ने सरदी की मौसम की इस चढ़ाई को ठीक नहीं बताया, एवं वह इरादा पलट गया। किन्तु शाही सेना के विभिन्न सेनानायकों को हुक्म भेजा गया कि वे अपने अपने सैनिकों को लेकर जल्द ही शाही सेना में सम्मिलित हो जावें।

---

[१६] औरंग०, १-२, पृ० ११४-६।

"बिस्त" का किला हेलमन्द और अरग़न्दाब नदियों के संगम पर क़न्धार से ८० मील पूर्व में ३१° ३०′ उत्तर एवं ६४° २०′ पूर्व में स्थित है। दारा०, एवं मोहम्मद अली कृत "गाइड टू अफ़ग़ानिस्तान" में इस स्थान का नाम "बुस्त" लिखा है। किन्तु सर यदुनाथ ने नक़्शे में दिए गये "बिस्त" नाम का ही प्रयोग किया एवं यहाँ भी इसी नाम को स्वीकार किया है।

ऐसा हुक्म मिलने पर रतनसिंह भी अपने सैनिकों को लेकर जालोर से चल पड़ा।[१७]

क़न्धार जाने वाली इस सेना का प्रधान सेनापति औरंगज़ेब नियुक्त किया गया, और वज़ीर सादुल्ला ख़ाँ को भी हुक्म हुआ कि वह भी साथ जावे। सैनिक तैयारियाँ होने लगीं। नवम्बर ९ को शाहजहाँ दिल्ली से लाहौर के लिए चल पड़ा, और दिसम्बर १८ को लाहौर पहुँचा। कन्धार जाने वाली सेना एकत्रित हो रही थी; कई ताईनाती सैनिक अमीर अभी तक शाही सेना में सम्मिलित नहीं हुए थे, एवं क़न्धार यात्रा के लिए भी नित नए मनसूबे होते थे। अन्त में जनवरी १६, १६४९ ई० को शाहजहाँ के पास क़न्धार से एक ख़त पहुँचा, जिससे उसे ज्ञात हुआ कि दिसम्बर १६, १६४८ ई० को शाह अब्बास ने क़न्धार पहुँच कर किले का घेरा डाल दिया। शाहजहाँ ने उसी दिन सेना को जल्द से जल्द क़न्धार के लिए रवाना होने का हुक्म दिया। अन्य राजपूत सेनापतियों के साथ ही रतनसिंह भी इस चढ़ाई पर जाने के लिए नियुक्त हुआ, और उसका काका जसवंतसिंह भी क़न्धार भेजा गया। जनवरी २२ को सादुल्ला ख़ाँ अपने इन सेनापतियों को लेकर लाहौर से रवाना हुआ। रवाना होते समय रतनसिंह को उसके मनसब के अनुरूप ख़िलअत और चाँदी की ज़ीन के साथ एक घोड़ा दिया गया; जसवन्तसिंह राठौड़ को भी उसके उपयुक्त ख़िलअत मिली।[१८]

औरंगज़ेब तब मुलतान में था; उसे हुक्म हुआ कि वह वहाँ से

---

[१७] वारिस०, १, प० २० ब-२१ अ; औरंग०, १-२, पृ० ११६-११७, १२२।

[१८] वारिस०, १, प० २२ अ, २३ अ-२३ ब; कम्बू, ३, पृ० ७२; औरंग०, १-२, पृ० १२२-३।

सीधा ही क़न्धार के लिए रवाना हो जावे । वह सादुल्ला ख़ाँ से भेरा में आ मिला । वहाँ से बंगष, कोहाट, जमरूद और जलालाबाद की राह वह मार्च २५ को काबुल पहुँचा । सादुल्ला ख़ाँ सारी शाही सेना को लेकर पेशावर की राह काबुल गया; और रतनसिंह भी उसी के साथ रहा । घास-दाने की कमी और बरफ़ पड़ने के कारण राह में शाही सेना को कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं । काबुल पहुँचते-पहुँचते यह ज्ञात हो गया कि ईरान के शाह ने फ़रवरी ११ को क़न्धार के क़िले पर अधिकार कर लिया । शाहजहाँ स्वयं भी मार्च ५ को लाहौर से काबुल के लिए चल पड़ा और ताकीद करने लगा कि औरंगज़ेब जल्द ही जाकर क़न्धार के क़िले का घेरा लगावे और उसे पुनः जीत ले ।[१९]

अप्रैल १८ को शाही सेना ग़ज़नी पहुँची; घास-दाने की कमी के कारण आगे बढ़ना संभव न था । परन्तु शाहजहाँ ताकीद कर रहा था एवं कोई पन्द्रह दिन ग़ज़नी ठहरने के बाद शाही सेना क़न्धार के लिए रवाना हुई । अब दुश्मन दूर न थे अतएव शाही सेना सात हिस्सों में संगठित की गई; राजपूत राजा विठ्ठलदास के नेतृत्व में रखे गए और अन्य राजपूत सवारों के साथ रतन राठौड़ भी शाही सेना के हरोल में रहा । शाही सेना मई १४ को क़न्धार के सामने जा पहुँची; सेना के पीछे रहे हिस्से को लेकर औरंगज़ेब भी मई १६ को क़न्धार आ मिला ।[२०]

इस प्रकार मई १६ को क़न्धार का पहला घेरा प्रारम्भ हुआ ।

---

[१९] **वारिस०, १, प० २४ अ, २६ अ, २७ ब; औरंग०, १-२, पृ० १२०, १२३ ।**

[२०] **वारिस०, १, प० २७ ब, २८ ब; औरंग०, १-२, पृ० १२२ ।**

यह सेना प्रधानतया क़न्धार के क़िले में घिरे हुए मुग़ल दल की सहायता के लिए भेजी गई थी, एवं घेरा लगाने और क़िले को तोड़ने योग्य बड़ी-बड़ी तोपें आदि सेना के साथ न थीं। पुनः तुर्कों का निरन्तर सामना करते-करते क़िलों का घेरा लगाने और घेरे का सामना करने में ईरानी पूर्णतया चतुर हो गए थे। अतएव मुग़ल सेना को क़न्धार के क़िले के विरुद्ध कोई विशेष सफलता न मिली। रतनसिंह भी शाही सेना के साथ ही क़न्धार के सामने ही बना रहा।[२१]

उधर जून मास में कलीच ख़ाँ को शाही सेना के एक दल के साथ बिस्त के क़िले के पास नियुक्त किया था। अगस्त ९ को कलीच खाँ को सूचना मिली कि ईरानियों की सेनाएँ क़न्धार की मदद के लिए उधर बढ़ रही थीं, एवं वह बिस्त से पीछे हट आया। यह सूचना पाने पर औरंगज़ेब ने अगस्त ११ को रुस्तम खाँ के नेतृत्व में राठौड़ सैनिकों का एक बड़ा दल और अन्य सेना कलीच खाँ की सहायता के लिए भेजी। रतनसिंह और उसके सैनिक भी इस दल में भेजे गए। कलीच खाँ और रुस्तम खाँ ने मिल कर शाहमीर नामक स्थान पर अगस्त २५ को ईरानियों का सामना किया। ईरानियों की संख्या कोई तीस हज़ार थी और यह सेना चार मील की दूरी में फैली हुई थी। मुग़ल सैनिकों की संख्या बहुत ही कम थी, परन्तु ईरानियों का सामना करने के लिए उन्हें ठीक तौर पर संगठित किया था। रुस्तम खाँ ने रतनसिंह और उसके अन्य राठौड़ साथियों तथा उन सबके सैनिकों को हरोल में रखा। पीछे एक ओर रुस्तम खाँ स्वयं रहा और दूसरी ओर कलीच खाँ को रखा। दोपहर के एक घण्टे बाद से लड़ाई शुरू हुई और पूरे तीन घण्टे तक भयंकर मार-काट

---

[२१] वारिस०, १, प० २८ ब, ३४ ब; औरंग०, १-२, पृ० १२७-१२९।

होती रही। ईरानी सेनापति ने क़सम खाई थी कि वह मुग़ल सेना को हरा कर ही पानी पिएगा। कई बार ईरानी सवारों ने बड़े ज़ोर-शोर से हमले किए, परन्तु उनकी कुछ न चली और अन्त में उन्हें पीछे हटना ही पड़ा। इसी समय धूल की आँधी आई और उसकी आड़ में ईरानी रणक्षेत्र छोड़कर लौट गए। विजयी मुग़ल सेना ने दूसरे दिन ईरानियों का पीछा किया, परन्तु ईरानी कुष्क-इ-नख़ुद क़स्बे को रात ही ख़ाली कर गए थे। बीस मील तक पीछा करने के बाद भी जब ईरानियों का पता न लगा तो मुग़ल सैनिक लौट आए और क़न्धार में औरंगज़ेब की सेना में सम्मिलित हो गए।[२२]

शाहमीर के इस युद्ध में मुग़ल सेना की विजय का समाचार सुन कर शाहजहाँ बहुत ही प्रसन्न हुआ; काबुल में खुशियाँ मनाई गईं और इस युद्ध में वीरता दिखाने वाले सेनापति और योद्धा अगस्त ३१, १६४९ ई० को पुरस्कृत किए गए। रतनसिंह का मनसब भी पाँच सदी ज़ात और सौ सवारों से बढ़ाया गया। अब रतनसिंह का मनसब दो हज़ारी ज़ात-सोलह सौ सवारों का हो गया।[२३]

परन्तु शाहमीर के युद्ध की इस विजय का क़न्धार के घेरे पर कोई भी असर नहीं पड़ा। इस घेरे की पूर्ण विफलता स्पष्ट हो गई थी, एवं अगस्त माह में ही शाहजहाँ ने औरंगज़ेब को हुक्म भेज दिया था कि वह घेरा उठा कर लौट आवे। औरंगज़ेब के ग़ज़नी पहुँचने तक दारा को काबुल ठहरने की आज्ञा देकर अगस्त २८ को शाहजहाँ काबुल से भारत के लिए रवाना हो गया। शाहजहाँ की आज्ञा मिलते

---

[२२] **वारिस०, १, प० ३५ ब, ३६ अ-३७ ब; औरंग०, १-२, पृ० १२६-१३१।**

[२३] **वारिस०, १, प० ३८ अ।**

ही सितम्बर ५,१६४९ ई० को औरंगज़ेब क़न्धार का घेरा उठाकर भारत को लौट पड़ा। रतनसिंह और उसके सैनिक भी औरंगजेब के साथ भारत के लिए चल पड़े। अपनी सारी सेना लेकर औरंगजेब लाहौर पहुँचा और नवम्बर १० को शाहजहाँ की सेवा में उपस्थित हुआ; रतनसिंह भी औरंगजेब के साथ था। दिसम्बर ७ को शाहजहाँ दिल्ली के लिए रवाना हो गया।[२४] औरंगज़ेब मुलतान को लौट गया, और सारी शाही सेना जो क़न्धार के लिए एकत्रित की गई थी लाहौर से ही बिखरने लग गई थी। रतनसिंह और उसके सैनिक भी पुनः जालोर को लौट गए।

२. क़न्धार के दूसरे और तीसरे घेरे, तथा चित्तौड़ पर चढ़ाई; १६५०-१६५४ ई०

शाहजहाँ जनवरी ४, १६५० ई० को दिल्ली पहुंच गया और एक वर्ष के लगभग वहीं रहा। फरवरी ११, १६५१ ई० को वह काश्मीर जाने के लिए दिल्ली से रवाना हुआ। राह में लाहौर डेढ़ महीना ठहर कर जून ३ को वह काश्मीर जा पहुँचा; किन्तु इस बार शाहजहाँ का दिल काश्मीर में न लगा और अगस्त ८ को वहाँ से लौट पड़ा और सितम्बर १६, १६५१ ई० को वह लाहौर आ गया।[२५] इस अरसे में रतनसिंह कहाँ था और क्या कर रहा था, इसका कोई विवरण नहीं मिलता है; अनुमान यही होता है कि क़न्धार के पहिले घेरे से लौटने के बाद वह जालोर में ही अपना निजी कार्य

---

[२४] **वारिस०, १, प० ३४ अ, ३७ ब-३८ अ, ३९अ-३९ब; औरंग०, १, पृ० १२९, १३१-२।**

[२५] **वारिस०, १, प० ४० अ, ४९ अ, ४९ ब, ५१ अ, ५२ अ, ५३अ, ५४ अ।**

करता रहा होगा। मार्च १२, १६५० ई० के दिन रतनसिंह ने अपने पिता द्वारा नियुक्त राजव्यास रघुनाथ को एक नई सनद दी और जालोर परगने में उसकी निजी आय का प्रबन्ध किया।[२६] सन् १६५१ ई० के बरसात के दिनों में रतनसिंह ने माधो भारती नामक सन्यासी को खारा नामक गाँव दिया।[२७] इसी के कुछ माह बाद सितम्बर १६५१ ई० में शाहजहाँ के लाहौर पहुँचने पर रतनसिंह भी जालोर से वहाँ चला गया। जनवरी २०, १६५२ ई० को शाहजहाँ की साल-गिरह थी, जिसके उपलक्ष में तुलादान हुआ और इनाम दिए गए; रतनसिंह को भी इस दिन एक झंडा मिला।[२८]

शाहजहाँ को क़न्धार के पहिले घेरे में मुग़ल सेना की विफलता बहुत खटकी; एवं शाही सेना के वहाँ से लौटते ही शाहजहाँ ने औरंगजेब को दूसरा घेरा लगाने की तैयारी करने का हुक्म दिया। इन दो बरसों में इस चढ़ाई के लिए पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया, बड़ी-बड़ी तोपें ढाली गईं, लड़ाई का सामान एकत्रित किया गया, और मुलतान से क़न्धार जाने वाली राह के बलूची ख़ानों से मैत्री की गई। कोई ५० या ६० हज़ार सैनिकों की सेना इस चढ़ाई के लिए एकत्रित

---

[२६] राजव्यास०। जालोर परगने में वसूल की जाने वाली किसी चुंगी की सारी ग्रामदनी रघुनाथ व्यास को दी गई। यह सनद "रेसीरी घाटी" के मुक़ाम पर लिखी गई।

[२७] फ़ेहरिस्त०। इस गाँव की सनद बाद में ग्रगस्त २०, १६५४ ई० को लिखी गई थी। सन् १६५६ ई० में बदला-बदली के समय जब जालोर परगना खालसा हुग्रा तब यह गाँव भी जब्त हो गया था। सन् १६५७-५८ ई० में जालोर परगना जोधपुर के महराजा जसवन्तसिंह के ग्रधिकार में ग्राया, तब उन्होंने यह गाँव पुनः उसी सन्यासी को दे दिया।

[२८] वारिस०, १, प० ५८ ग्र।

की गई; इनमें से कोई १० या १२ हज़ार गोलन्दाज़ और बरक़न्दाज़ (तोड़ेदार बन्दूकों वाले) थे। अनेकानेक उच्च मनसबदारों और सेनानायकों के साथ ही रतनसिंह को भी इस चढ़ाई पर जाने के लिए नियुक्त किया गया।[२९]

औरंगज़ेब सन् १६५२ ई० के प्रारम्भ में मुलतान में ही था। उसे हुक्म हुआ कि इस चढ़ाई पर रवाना होने के लिये फरवरी १६, १६५२ ई० का शुभ मूहूर्त निकला है, एवं उसी दिन वह मुलतान से ही सीधा क़न्धार के लिए रवाना हो जावे। प्रधान शाही सेना भी सादुल्ला खाँ के सेनापतित्व में लाहौर से फरवरी १६ को रवाना की गई। रतनसिंह को मिर्ज़ा राजा जयसिंह के नेतृत्व में हरोल में रखा गया। लाहौर से रवाना होते समय अन्य सेनानायकों के साथ ही रतनसिंह को भी उसके मनसब के अनुरूप ख़िलअत और चाँदी की ज़ीन के साथ एक घोड़ा भी मिला।[३०]

शाही सेना को लेकर सादुल्ला खाँ लाहौर से रवाना हो कर ख़ैबर के दर्रे में होता हुआ काबुल पहुँचा और वहाँ से ग़ज़नी की राह क़न्धार की ओर बढ़ा। रतनसिंह और उसके सैनिक भी सादुल्ला खाँ के साथ ही थे। औरंगज़ेब मुलतान से चोटियाली और पिशिन होता हुआ, क़न्धार के पास ही मई २, १६५२ ई० को शाही सेना में

---

[२९] आदाब०, १, प० ३ अ, ४ अ, ५अ, ७ अ, १० अ, ११ अ, ६६ ब; वारिस०, १, प० ६१ ब; औरंग०, १-२, पृ० १३३-५।

[३०] वारिस०, १, प० ६०अ-ब, ६४अ; आदाब०, १, प० ६अ; औरंग०, १-२, पृ० १३४। कम्बू०, ३, पृ० १४० के अनुसार इस अवसर पर रतनसिंह को घोड़े के साथ सोने की ज़ीन मिली, परन्तु वारिस०, १, प० ६०ब पर चाँदी की ज़ीन का ही उल्लेख मिलता है।

जा मिला। उसी दिन शाही सेना ने क़न्धार के किले का घेरा डाला।[३१]

शाहजहाँ भी फ़रवरी १६, १६५२ ई० को लाहौर से रवाना होकर शाही सेना के पीछे-पीछे अप्रैल ३ को काबुल आ पहुँचा, और यहाँ से क़न्धार के घेरे की कार्यवाही का वह स्वयं ही संचालन करने लगा। सवा तीन माह तक औरंगज़ेब एवं सादुल्ला खाँ क़न्धार के किले का घेरा लगाए रहे। मुग़ल गोलन्दाज़ न तो अपने कार्य में कुशल ही थे और न अच्छे निशानेबाज़ ही, एवं ईरानी गोलन्दाज़ों के सामने उनकी कुछ न चली। ईरानी गोलन्दाज़ बहुत कुशल तोपची ही न थे परन्तु बहुत ठीक निशाना भी लगाते थे। शाहजहाँ का हुक्म था कि जहाँ तक किले का परकोटा न टूटे किले पर कोई भी हमला न किया जावे, और परकोटे को तोड़ना मुग़ल गोलन्दाज़ों के बस की बात न थी। इस घेरे के समय रतनसिंह और उसके सैनिक किस स्थान पर नियुक्त थे, किस किस युद्ध या हमले में उन्होंने भाग लिया, आदि का कोई विशेष विवरण नहीं मिलता है।[३२]

अन्त में शाहजहाँ की आज्ञानुसार जुलाई ९, १६५२ ई० को

---

[३१] वारिस०, १, प० ६४ अ; आदाब०, १, ६अ-११ब; औरंग०, १-२, पृ० १३४-१३५।

[३२] वारिस०, १, प० ५६ब, ६३बं, ६५ब; आदाब०, १, प० १३ब, १८अ-ब, १६अ, १७ब; औरंग०, १,-२, पृ० १३६-१४८।

रासो० में रतनसिंह के कन्धार के प्रथम दो घेरों में सम्मिलित होने का उल्लेख है परन्तु वहाँ इन युद्धों और घेरों का केवल कवित्वपूर्ण विवरण ही दिया है, किन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख उसमें नहीं मिलता है। रासो०, पृ० ८०-८१; रतन०, पृ० २५-२७।

बड़ी ही अनिच्छापूर्वक घेरा उठा कर औरंगज़ेब क़न्धार से चल पड़ा, और रतनसिंह तथा उसके सैनिक भी शाही सेना के साथ वापस लौट पड़े। सारी शाही सेना को लेकर सादुल्ला खाँ आदि काबुल के लिए रवाना हुए और जुलाई ३० को वहाँ पहुँच गए। औरंगज़ेब का इरादा पिशिन, चोटियाली और मुलतान की राह लौटने का था, परन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि राह की बलूची जातियाँ मुग़लों का विरोध करने को उतारू हैं, पिशिन और दुकी के स्थानों के सैनिकों को साथ लेकर अन्त में वह भी काबुल को ही लौटा और अगस्त ७ को शाहजहाँ के दरबार में समुपस्थित हुआ। जुलाई १४, १६५२ ई० को ही औरंगज़ेब को दक्षिणी सूबों की सूबेदारी मिल चुकी थी, एवं वह अगस्त १६ को दक्षिण के लिए वह रवाना हुआ।[११]

शाहजहाँ ने औरंगज़ेब को लौट आने का हुक्म दिया, परन्तु दो बार की इन विफलताओं का उसे बहुत ही खेद था, एवं शाहज़ादा दारा शिकोह ने, जो उस समय काबुल था, आगामी वर्ष पुनः कन्धार को जीतने के लिए चढ़ाई करने का प्रस्ताव किया। शाहजहाँ ने दारा शिकोह के प्रस्ताव को स्वीकार कर उसे ही आगामी चढ़ाई का प्रधान सेनापति नियुक्त किया और जुलाई १४, १६५२ ई० को मुलतान तथा काबुल के सूबे दारा को दिए गए एवं आगामी चढ़ाई के लिए तैयारियाँ करने की उसे आज्ञा हुई। अगस्त ६ को शाहजहाँ काबुल से दिल्ली के लिए रवाना हुआ, किन्तु दारा शिकोह को वह काबुल में ही छोड़ गया, एवं क़न्धार के दूसरे घेरे से लौटी हुई शाही

---

[११] **वारिस०, १, प० ६६अ, ६६ब; आदाब०, १, प०, १८ब; औरंग०, १-२, पृ० १४४-५, १५१।**

सेना भी दारा के पास काबुल में ही रहने दी। यों रतनसिंह और उसके सैनिक भी कन्धार से लौटने पर दारा के साथ हो गए।[३४]

कुछ समय बाद सर्दी का मौसम आने लगा तो दारा सारी शाही सेना को लेकर काबुल से लाहौर चला आया और क़न्धार की अगली चढ़ाई के लिए तैयारियाँ करने लगा। रतनसिंह और उसके सैनिक भी दारा के साथ ही लाहौर आए। अन्त में जब दारा के साथ इस चढ़ाई पर जाने वाले सेनानायकों और मनसबदारों की नियुक्ति होने लगी तो रतनसिंह और उसके सैनिक भी तीसरी बार क़न्धार पर घेरा डालने के लिए नियुक्त किए गए और फ़रवरी ११, १६५३ ई० को शुभ मुहूर्त के समय दारा शिकोह के साथ ही लाहौर से क़न्धार के लिए रवाना हुए।[३५]

दारा और शाही सेना मुलतान, दुकी और पिशिन होते हुए अप्रेल २३ को पंजमुन्द्रा के दर्रे में से गुज़रे। घेरा डालने का मुहूर्त अप्रेल २५ का निश्चित था एवं दारा ने रुस्तम ख़ाँ को कुछ सेना लेकर मुहूर्त के शुभ दिन ही घेरा प्रारम्भ करने को आगे भेजा। दारा स्वयं शाही सेना के साथ जब क़न्धार पहुँचा तो दूसरा मुहूर्त देख कर अप्रेल २८ को ही ठीक तौर पर घेरा डाला गया। रतनसिंह शाही सेना के साथ ही क़न्धार पहुँचा, और प्रारम्भ में किसी कार्य विशेष के लिए उसकी नियुक्ति नहीं की गई।[३६]

---

[३४] **वारिस०, १, प० ६६अ-ब, ६७अ, ६७ब, ६९ब; लताइफ़०, प० ७अ; दारा०, १, पृ० ३४-७।**

[३५] **वारिस०, १, प० ७०ब, ७४ब; लताइफ़०, प० ८ब, ९ब; दारा०, १, पृ० ३७-४१।**

[३६] **वारिस०, २, प० ७४अ-७४ब; लताइफ़०, प० ९ब-१३अ; दारा०, १, पृ० ४१-४४।**

क़न्धार का घेरा प्रारम्भ हुआ; विभिन्न सेनानायकों ने आज्ञानुसार अपने-अपने स्थानों पर खाइयाँ खोद कर सैनिक नियुक्त किए; क़िला लेने के लिए प्रयत्न होने लगे और यदा-कदा दोनों सेनाओं के सैनिकों में मुठभेड़ भी होने लगी। इस समय यह आवश्यक जान पड़ा कि क़न्धार के आधीन बिस्त और अन्य क़िलों को भी जीत लिया जावे, जिससे क़न्धार को जीतने में बहुत कुछ मदद मिले। एवं मई १३, १६५३ ई० को दारा ने रुस्तम ख़ाँ को १५,००० सैनिकों के साथ बिस्त की ओर रवाना किया; रतनसिंह और उसके सैनिक भी रुस्तम ख़ाँ के साथ भेजे गए। मई २१ को यह सेना बिस्त पहुँची और मई ३१ को बिस्त के क़िलेदार मेहदी क़ुली ने आत्मसमर्पण कर दिया। मेहदी क़ुली की सहायता से रुस्तम ख़ाँ ने गिरिशक का क़िला भी अधिकार में कर लिया। आगामी दो माह में रुस्तम ख़ाँ ने ज़मीन दावर के प्रदेश पर भी कई एक हमले किए। किन्तु अगस्त के अन्त में रुस्तम ख़ाँ और उसके सैनिकों को क़न्धार बुलाना आवश्यक जान पड़ा। सितम्बर २ को रुस्तम ख़ाँ गिरिशक से बिस्त लौट आया। परन्तु सितम्बर ८ को पुनः दारा का हुक्म रुस्तम ख़ाँ को पहुँचा कि वह बिस्त में ही ठहरा रहे। अन्त में सितम्बर २५ को रुस्तम ख़ाँ को लौट आने का हुक्म मिला, तब दारा की आज्ञानुसार बिस्त के क़िले को तोड़-फोड़ कर रुस्तम ख़ाँ क़न्धार लौट आया। रतनसिंह और उसके सैनिक भी रुस्तम ख़ाँ के साथ ही लौटे। इस प्रकार क़न्धार के इस घेरे के अवसर पर रतनसिंह और उसके सैनिक क़न्धार से दूर रुस्तम ख़ाँ के साथ ही रहे और क़न्धार के घेरे में भाग लेने का उन्हें अवसर नहीं मिला। बिस्त के क़िले को जीतने या ज़मीन दावर के प्रदेश की चढ़ाइयों में रतनसिंह

ने क्या भाग लिया था, इसका कोई विशेष विवरण नहीं मिलता है ।[३७]

परन्तु रुस्तम ख़ाँ जब क़न्धार पहुँचा, तब तक क़न्धार का यह तीसरा घेरा भी पूर्णतया विफल हो चुका था। दारा का इरादा था कि घेरे को कुछ दिन और डाले रहे, परन्तु शाहजहाँ की आज्ञानुसार दारा को घेरा उठाने का निश्चय करना ही पड़ा। रुस्तम ख़ाँ के पहुँचने के दूसरे दिन ही दारा शाही सेना को लेकर पिशिन, दुकी की राह मुलतान को लौटा। रतनसिंह और उसके सैनिक भी दारा के साथ लौट पड़े। मुलतान होता हुआ दारा नवम्बर २२, १६५३ ई० को लाहौर और दिसम्बर २५ को दिल्ली पहुँचा। क़न्धार के घेरे की इस विफलता के होते हुए भी शाहजहाँ ने अगले दिन दारा और उसकी सेना का बड़े आदर, सम्मान एवं प्यार के साथ स्वागत किया। दारा की सिफ़ारिश के अनुसार अपनी अगली सालगिरह के सुअवसर पर शाहजहाँ ने क़न्धार की इस चढ़ाई पर गए हुए कई सेनानायकों को मनसब आदि प्राप्त हुए, किन्तु इन सूचियों में रतनसिंह का नाम नहीं था।[३८]

इन पिछले दो बरसों में रतनसिंह क़न्धार की इन दो चढ़ाइयों में ही लगा रहा था, एवं अब थोड़ा अवसर पाकर कुछ माह के लिए

---

[३७] वारिस०, २, प० ७५अ, ७६अ-७६ब, ७९अ; लताइफ़०, प० २३ब, २५ब, ३०अ, ३५ब, ४०ब, १४१अ-ब, १४२ब, १४३ब, १४५ब, १७०अ; दारा०, १, पृ० ४६-४९, ५८-६१, ९३-९४ फु० नो०।

[३८] वारिस०, २, प० ७९अ, ८१अ, ८२ब; लताइफ़०, प० १६८ब-१७०ब; दारा०, १, पृ० ९१-९७।

रतनसिंह के तीसरी बार क़न्धार जाने का उल्लेख रासो० में नहीं है।

वह जालोर को लौट गया, परन्तु सन् १६५४ ई० की बरसात शुरू होते-होते उसे पीछे दिल्ली चले आना पड़ा।

इधर कुछ बरसों से उदयपुर के महाराणा ने अपनी पिछली सन्धि की शर्तों के विरुद्ध चित्तौड़ के क़िले की दीवालों की मरम्मत करवाना प्रारम्भ कर दिया था, और अक्तूबर, १६५२ ई० में गद्दी पर बैठने के बाद उदयपुर का नया महाराणा राजसिंह तो इस ओर बहुत ही प्रयत्नशील हुआ। क़न्धार के मामले में उलझे रहने के कारण शाहजहाँ ने तब इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था, किन्तु अब अवसर मिलने पर शाहजहाँ ने इस मामले को उठाया। सितम्बर ४, १६५४ ई० को वज़ीर सादुल्ला ख़ाँ एक बड़ी सेना के साथ चित्तौड़ भेजा गया; रतनसिंह और उसके सैनिक भी सादुल्ला ख़ाँ के साथ चित्तौड़ के विरुद्ध भेजे गए। सादुल्ला ख़ाँ को हुक्म हुआ कि चित्तौड़ के क़िले की दीवालों की मरम्मत करने के काम को वह रोक दे और यदि महाराणा सामना करे तो युद्ध भी किया जावे। शाहजहाँ स्वयं भी सितम्बर २४ को दिल्ली से अजमेर के लिए रवाना हुआ; दारा शिकोह भी शाहजहाँ के साथ था।[१९]

महाराणा ने इस बार लड़ाई करना उचित न समझा। उसने अपने वकील भेज कर दारा शिकोह के द्वारा शाहजहाँ से क्षमा चाही। बादशाह ने उदयपुर के युवराज को शाही दरबार में भेजने और पुरानी शर्तों की पाबन्दी पर जोर देकर मुंशी चन्द्रभाण को महाराणा के पास भेजा। महाराणा ने अपने राजपूतों को भी चित्तौड़ से हटा लिया, एवं जब अक्तूबर २७ को सादुल्ला ख़ाँ शाही सेना के साथ

---

[१९] वारिस०, २, प० ९०ब, ९१अ; वीर०, २, पृ० ४०१-४०२; उदय०, २,पृ० ५२५, ५३२-५३३; दारा०, १, पृ० १६७-८।

चित्तौड़ पहुँचा उसने क़िले को ख़ाली पाया। वह पन्द्रह दिन तक चित्तौड़ ठहरा रहा और वहाँ क़िले के कंगूरों और बुरज़ों को तोड़-फोड़ डाला। तब उसे शाहजहाँ का हुक्म मिला कि चित्तौड़ का क़िला नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जा चुका था, महाराणा ने माफ़ी भी माँग ली थी एवं उसका अपराध क्षमा कर दिया गया। अतएव आज्ञानुसार क़िले को ख़ाली कर सादुल्ला ख़ाँ शाही सेना को लेकर नवम्बर १० के लगभग चित्तौड़ से लौट पड़ा, और रतनसिंह तथा उसके सैनिक भी शाही सेना के साथ ही चित्तौड़ से रवाना हुए।[४०]

शाहजहाँ भी अक्तूबर २७ को अजमेर पहुँचा था। नवम्बर १४ को वह अजमेर से आगरा के लिए लौट पड़ा और आठ दिन बाद चित्तौड़ से लौट कर सादुल्ला ख़ाँ शाहजहाँ की सेवा में आ उपस्थित हुआ। रतनसिंह और उसके सैनिक अब शाहजहाँ के साथ ही उत्तरी भारत को चले और दिसम्बर १७, १६५४ ई० को आगरा पहुँचे। राह में शिकार खेलता हुआ शाहजहाँ अगले माह दिल्ली पहुँचा। आगामी डेढ़ वर्ष तक शाहजहाँ ने दिल्ली में ही निवास किया।[४१]

३. रतलाम राज्य की स्थापना (१६५६ ई०); रतलाम परगने का पूर्व-वृत्तान्त एवं मध्य मालवा की तत्कालीन परिस्थिति

जनवरी, १६५५ ई० में रतनसिंह और उसके सैनिक शाहजहाँ के साथ दिल्ली पहुँचे। अपने पिता महेशदास की मृत्यु के बाद सन्

---

[४०] वारिस०, २, प० ९३अ; वीर०, २, पृ० ४०२-४१३; उदय०, २, पृ० ५३३-४; दारा०, १, पृ० १६९-१७१।

[४१] वारिस०, २, प० ९२अ, ९२ब, ९३ब, ९४अ, ९४ब; दारा०, १, पृ० १७१।

१६५० ई० और १६५१ ई० को छोड़ते हुए कोई भी बरस ऐसा न बीता, जिसमें रतनसिंह को अधिकतर बाहर ही रहना न पड़ा हो। अतएव अब कुछ अवसर पाकर सन् १६५५ ई०. के प्रारम्भ में रतनसिंह जालोर गया। इन पिछले आठ वर्षों में रतनसिंह और उसके सैनिकों को निरन्तर शाही सेना के साथ रहना ही पड़ा, जिससे उसे काफ़ी ख़र्चा उठाना पड़ा। पुनः जालोर से बाहर रहने के कारण रतनसिंह को अपनी जागीर के परगने की ओर पूरा-पूरा ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिला। जालोर की पूरी-पूरी आमदनी भी वसूल नहीं हो रही थी। यदा-कदा जब कभी रतनसिंह जालोर पहुँच पाता था, वह नए गाँव बसा कर उन्हें आबाद करने का प्रयत्न करता था,[४२] परन्तु इन थोड़े से प्रयत्नों से जालोर परगने की आमदनी जैसी चाहिए वैसी नहीं बढ़ रही थी। उस परगने की ज़मीन प्रधानतया मैदान होते हुए भी रेतीली ही है। वहाँ उन्हालू और सियालू दोनों ही फ़सलें हो सकती हैं, किन्तु उन्हालू (रबी) फ़सल विशेषतया कुओं की मदद से ही हो पाती है। अतएव निजी देख-रेख और पर्याप्त प्रयत्नों के अभाव में इस परगने की आमदनी बहुत ही घट गई थी। उधर व्यय बहुत बढ़ गया था, एवं रतनसिंह की माली हालत बहुत अच्छी न थी। इसलिए इस बार रतनसिंह ने स्वयं जालोर जाकर बाक़ी रही वसूली करने और आमदनी को बढ़ाने

---

[४२] फेहरिस्त० में रतनसिंह द्वारा नए बसाए गये निम्नलिखित गांवों का उल्लेख मिलता है:–

(१) रतनपुरा–सं० १७०८ वि० (१६५१-२ ई०);

(२) ऊण;

(३) जोगणी–सं० १७१० वि० (१६५३-४ई०);

(४) गोधण।

के लिए अनेक प्रयत्न किये, किन्तु उसे विशेष सफलता नहीं मिली।

सन् १६५५ ई० के अन्तिम महीनों में रतनसिंह वापस दिल्ली शाहजहाँ की सेवा में उपस्थित हो गया। जनवरी ११, १६५६ ई० को शाहजहाँ की सालगिरह के उपलक्ष में तुलादान हुआ; इस अवसर पर रतनसिंह को बहुत ही अच्छी खिलअत दी गई।[४३]

परन्तु इस प्रकार की खिलअतों से ही रतनसिंह की आर्थिक कठिनाइयाँ हल नहीं हो सकती थीं। अवसर पाकर उसने जालोर परगने की आमदनी का ठीक-ठीक ब्यौरा और अपनी सारी आर्थिक कठिनाइयों का सच्चा-सच्चा विवरण शाहजहाँ की सेवा में निवेदन करवाया। दारा शिकोह रतनसिंह से प्रसन्न था एवं रतनसिंहने उसके सामने भी अपनी आर्थिक परिस्थिति व्यक्त कर दी। दारा शिकोह ने भी शाहजहाँ की सेवा में रतनसिंह के पक्ष में बहुत कुछ निवेदन किया। अन्त में शाहजहाँ ने यही उचित समझा कि रतनसिंह को जालोर परगने के बदले में दूसरे कोई परगने दे दिए जावें, जिनकी आमदनी से रतनसिंह का ख़र्चा चल सके और उसकी आर्थिक परिस्थिति भी सुधर जावे।

यह बातचीत चल ही रही थी, उसी समय मार्च या अप्रेल, १६५६ ई० में पृथ्वीराज राठौड़ की मृत्यु हो जाने से मालवा सूबे में उसकी जागीर के अन्य परगनों के साथ ही रतलाम परगना भी खालसा हो गया था। रतलाम परगने का राठौड़ वीरों से पर्याप्त सम्वन्ध रहा था, एवं शाहजहाँ ने रतनसिंह को यही रतलाम परगना, जिसकी आय बावन लाख दाम की थी, वतन के रूप में वंशपरम्परागत दे दिया, और मनसब के अनुरूप आमदनी पूरी करने को मालवा में

---

[४३] वारिस०, २, प० १०३ब।

हो बदनावर, तीतरोद, आगर, कोठडी-पड़ावा, बड़ोद, आलोट, आदि परगने एवं गड़गुचा, रामगढ़, नहारगढ़ आदि के आसपास जागीर दी, जो व्यक्तिगतरूपेण ही रतनसिंह के अधिकार में आई।

परगनों की इस बदला-बदली का शाही हुक्म होते ही रतनसिंह शाहजहाँ से छुट्टी लेकर दिल्ली से रवाना हुआ। मार्च या अप्रेल, १६५६ ई० में ही रतनसिंह को जालोर के बदले में मालवा के ये नए परगने प्राप्त हुए थे, अतएव सं० १७१२ वि० (सन् १६५५-५६ ई०) की उन्हालू (रबी) फ़सल का लगान आदि एकत्रित करवा कर मई, १६५६ ई० में जालोर छोड़ कर रतनसिंह रतलाम चला गया, और अपने नए परगनों तथा जागीर पर अधिकार कर वहाँ के शासन को सुव्यवस्थित करने में लग गया। रतनसिंह अपने युवा पुत्रों और कई एक साथियों आदि को लेकर रतलाम चला आया था। अपने इस नए वतन में पूर्ण व्यवस्था होने तक अपनी स्त्रियों तथा अन्य कुटुम्बियों आदि को उसने जालोर ही रहने दिया। सन् १६५८ ई० के प्रारम्भ में ही उन्हें रतलाम बुलवाया गया।[४४]

रतनसिंह को वंशपरम्परागत जागीर में प्राप्त रतलाम परगना अकबर के समय से ही मालवा सूबे की उज्जैन सरकार के अन्तर्गत रहा था। अकबर के समय में भी यह परगना राजपूतों के ही अधिकार

---

[४४] जोधपुर राज्य की ख्यात (जोधपुर राज्य के संग्रह में प्राप्य) पृ० ८६; रासो०, पृ० ८२; गुरूजी०।

रतलाम परगने की प्राप्ति, परगनों की इस बदला-बदली का कारण, इस घटना के सन्-संवत्, नई जागीर की आय, आदि का जो विवरण यहाँ दिया गया है वह प्रचलित कथाओं, ख्यातों या विश्वासों से बहुत ही भिन्न है। किन आधारों एवं किन कारणों से उपर्युक्त निर्णय किया गया है, इसके लिए आगे देखो–"परिशिष्ट १–रतलाम आदि परगने मिलने सम्बन्धी प्रश्नों की विवेचना"।

में था, एवं यहाँ प्रधानतया सोढ़िये राजपूतों की ही बस्ती थी। जहाँगीर के शासनकाल में यह परगना कई बरस तक जोधपुर के महाराजा सूरसिंह की जागीर में रहा।[४५] सन् १६१९ ई० में सूरसिंह की मृत्यु होने पर यह परगना ख़ालसा हो गया और बारह-तेरह वर्ष तक ख़ालसा ही रहा। ख्यातों के अनुसार सन् १६३१ ई० के बाद यह परगना पृथ्वीराज राठौड़ के अधिकार में आया और उसकी मृत्यु तक उसीके अधिकार में रहा। कहा जाता है कि सन् १६३५ ई० के लगभग पृथ्वीराज ने रतलाम शहर का वर्तमान सूरजपोल दरवाज़ा बनवाया था। दिसम्बर, १६५५ ई० में पृथ्वीराज राठौड़ शायस्ता ख़ाँ के साथ ही गोलकुण्डा पर चढ़ाई करने में औरंगजेब की मदद के लिए मालवा से दक्षिण भेजा गया। फ़रवरी, १६५६ ई० में गोलकुण्डा पहुँचने के कुछ ही समय बाद पृथ्वीराज वहीं मर गया। पृथ्वीराज की मृत्यु होने पर अन्य परगनों के साथ रतलाम परगना भी ख़ालसा हो गया, और मार्च या अप्रेल, १६५६ ई० में यही परगना रतनसिंह को वंशपरम्परागत जागीर के रूप में मिल गया। पृथ्वीराज राठौड़ का ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह अब शाही मनसब-दार बना और उसे जागीर में मालवा सूबा के अन्तर्गत नौलाई (बड़नगर) का परगना दिया गया, किन्तु जगतसिंह तो रतलाम

---

[४५] आईन०, २, पृ० १९८; ख्यात०, १, पृ० १२३,१४६।

ख्यातों और दन्तकथाओं के आधार पर ही रतन० (पृ० २७-२८) एवं कई एक अन्य ग्रंथों में लिखा है कि रतनसिंह ने ही रतलाम शहर बसाया, एवं उक्त शहर की स्थापना की अनेकानेक कपोल-कल्पित तिथियाँ भी बताई जाती हैं। किन्तु ये सारे कथन अनैतिहासिक तथा पूर्णतया अविश्वसनीय हैं। रतलाम नगर अकबर के समय भी विद्यमान था, यह आईन० (२, पृ० १९८) से साबित है।

परगना चाहता था, एवं रतनसिंह को रतलाम परगना मिलने पर वह बहुत ही असन्तुष्ट हुआ। शाही सत्ता के सामने उसकी कुछ भी चलना संभव न था, किन्तु इन भारमलोत राठौड़ों के विरोध से रतनसिंह को मालवा में अपनी सत्ता स्थापित करने में पर्याप्त कठिनाई उठानी पड़ी होगी।[४६]

---

[४६] गुरूजी०; वारिस०, २, प० १०६ ब, १११ ब।

पृथ्वीराज राठौड़ की संक्षिप्त जीवनी के लिए देखो--मा० उ०, १; पृ० ४२६-४३१। यह जीवनी परिशिष्ट २ में उद्धृत की गई है।

ख्यातों के अनुसार रतलाम, नौलाई (बड़नगर), बेतमा, आदि पाँच परगने पृथ्वीराज राठौड़ के अधिकार में थे, इनमें से कोई भी परगना उसे वंशपरम्परागत रूपेण नहीं मिला था, यह अनुमान होता है। पृथ्वीराज की मृत्यु की सूचना आने पर पृथ्वीराज की दो स्त्रियाँ नौलाई (बड़नगर) में सती हुईं। गुरूजी०।

सन् १६५८ ई० में जगतसिंह राठौड़ का मनसब सात सदी ज़ात-तीन सौ सवारों का था (वारिस०, २, प० १२७ ब)। उसके बाद के जीवन का कोई विवरण नहीं मिलता है। ख्यातों के अनुसार जगतसिंह का दूसरा लड़का मानसिंह श्यामूगढ़ के युद्ध में दाराशिकोह की ओर से लड़ता हुआ मई २६, १६५८ ई० को मारा गया।

पृथ्वीराज राठौड़ के छोटे भाई रामसिंह का मनसब पाँच सदी ज़ात-दौ सौ सवारों का था (वारिस०, २, प० १२६ ब)। उसका पुत्र उदयसिंह धरमत (फतेहाबाद) के युद्ध में औरंगज़ेब के विरुद्ध लड़ता हुआ अप्रेल १५, १६५८ ई० को मारा गया (ख्यात०, १, पृ० २०८)। पृथ्वीराज के छोटे लड़के केसरीसिंह का मनसब छः सदी ज़ात-दो सौ सवारों का था (वारिस०, २, प० १२८ ब)।

ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत बड़नगर के पास खण्डवा और बड़गारा ठिकाने तथा बागली के पास बरखेड़ा ठिकाना, धार राज्य में बदनावर के पास माँगलिया ठिकाना, एवं वर्तमान रतलाम राज्य के अन्तर्गत इशरथुणी तथा बेड़छाँ ठिकाने आज भी पृथ्वीराज राठौड़ के वशंजों के अधिकार में है। गुरूजी०; तारीख़ जागीरदारान (ग्वालियर), २, पृ० ४१५-६, ४४६-४६।

रतनसिंह को मालवा में जब यह नई जागीर प्राप्त हुई, उस समय इतिहास-प्रसिद्ध शायस्ता ख़ाँ मालवा का सूबेदार था; फ़रवरी ५, १६५५ ई० को वह इस पद पर नियुक्त किया गया था। मालवा निरन्तर अधिकाधिक समृद्ध होता जा रहा था; अकबर के समय से तब तक मालवा की आमदनी ६५ प्रतिशत से भी अधिक बढ़ गई थी। ख़ानजहाँ लोदी के विद्रोह के बाद मालवा में कोई बड़ा विद्रोह नहीं हुआ, जिससे कि प्रान्त की शान्ति भंग हो। सन् १६३०-३१ ई० के दुर्भिक्ष के बाद इस प्रकार की किसी भी दुर्घटना ने मालवा की आर्थिक समृद्धि को धक्का नहीं पहुँचाया।[४७]

रतनसिंह द्वारा स्थापित इस नए रतलाम राज्य के आसपास मालवा में और भी कई एक राजपूत राज्य थे। उत्तर में रतलाम की सीमा से लगा हुआ देवलिया का राज्य था, जहाँ रावत हरीसिंह शासन करता था।[४८] देवलिया से पश्चिम में बाँसवाड़ा का गुहिल राज्य था; रावल समरसी इस समय वहाँ का शासक था। ये दोनों ही राज्य मेवाड़ के साथ निरन्तर होने वाली कशमकश में ही लगे हुये थे। बांसवाड़ा और रतलाम की सीमा पर रामावत राठौड़ अपना आधिपत्य स्थापित करनेका बहुत कुछ प्रयत्न कर रहे थे। जोधपुरके संस्थापक राव जोधा के पुत्र वरसिंह के छोटे बेटे तेजसिंह के इन वंशजों ने अन्त में वर्तमान कुशलगढ़ ठिकाने की स्थापना की। किन्तु इस समय तक उनको विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी थी।[४९]

---

[४७] वारिस०, २, प० ६६ अ; मा० उ०, २, पृ० ६६३-६६४; मोरलेण्ड कृत 'फ़ाम अकबर टू औरंगजेब', पृ० २६३, ३२३।

[४८] नैणसी०, १, पृ० १६३।

[४९] उक्त तेजसिंह के प्रपौत्र रामसिंह के वंशज ही रामावत राठौड़ कहलाए। कुशलगढ़ घराने के जो विवरण गेजेटियरों तथा बाँसवाड़ा राज्य के इतिहास

रतलाम से दक्षिण-पश्चिम में झाबुआ का राठौड़ राज्य था। ख्यातों के अनुसार इस राज्य के संस्थापक केशवदास का पौत्र महासिंह इस समय झाबुआ में शासन कर रहा था। केशवदास को प्राप्त सारे परगने पहिले ही ज़ब्त हो चुके थे। महासिंह को सन् १६४९ ई० के बाद ही झाबुआ आदि कुछ परगने पुनः प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है।[५०]

तीतरोद, कोठड़ी-पड़ावा, आदि, रतनसिंह के उत्तरी परगनों से लगा हुआ गंगधार का झाला राज्य था। कोठड़ी-पड़ावा सरकार के अन्तर्गत यह परगना जहाँगीर के शासन काल में ही नरहरदास झाला को प्राप्त हुआ होगा। सन् १६३० ई० में बीड़ में ख़ानजहाँ

में अब तक प्रकाशित हुए हैं, वे इतने असम्बद्ध और परस्पर विरोधी हैं कि उनके ही आधार पर किसी भी बात को ऐतिहासिक सत्य मानना सम्भव नहीं। प्रधानतया ख्यातों के ही आधार पर दिए गए इन विवरणों में कई अनैतिहासिक बातें भर दी गई हैं। उनमें दिए गये सन्-संवतों की भी ठीक-ठीक जाँच की जाना आवश्यक है।

कुशलगढ़ घराने को रतलाम राज्य की ओर से खेड़ा की जागीर दी गई थी। सन् १६५६ ई० में रतनसिंह को रतलाम परगना मिलने के बाद ही रामावतों को खेड़ा की यह जागीर दी गई होगी। पृथ्वीराज राठौड़ द्वारा दी गई किसी भी जागीर को निभाना रतनसिंह या उसके उत्तराधिकारियों के लिए अनिवार्य नहीं था, अतएव सम्भव नहीं जान पड़ता है।

कुशलगढ़ के ठाकुर को रतलाम राज्य की ओर से खेड़ा की जागीर कब दी गई, इस प्रश्न की विवेचना रामसिंह राठौड़ के शासन-विवरण के अन्तर्गत आगे की गई है।

[५०] गुरूजी०। झाबुआ स्टेट गजेटियर (पृ० ३) के अनुसार झाबुआ आदि परगने महासिंह को सन् १६३४ ई० में प्राप्त हुए, एवं सन् १६४८ ई० में उसने झाबुआ को अपनी राजधानी बनाया।

लोदी का सामना करते समय नरहरदास वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया। तब नरहरदास के पुत्र रावत दयालदास झाला को शाही मनसब और गंगधार का परगना मिला। दयालदास रतनसिंह के साथ ही कई एक चढ़ाइयों और युद्धों में भाग ले चुका था। सन् १६५६ ई० में दयालदास का मनसब नौ सदी ज़ात-पाँच सौ सवार का था। दयालदास के साथ ही उसका छोटा भाई राघोदास भी शाही मनसबदार था।"[५१]

इस प्रकार मालवा में आकर रतनसिंह ने स्वयं को अपने ही भाई-बन्धों, सगे-सम्बन्धियों तथा पुराने परिचित साथियों के बीच पाया।

४. बीजापुर पर चढ़ाई और वहाँ से लौटना; १६५६-५७ ई०

मई, १६५६ ई० के लगभग रतनसिंह जालोर छोड़ कर मालवा चला आया, और वहाँ अपने नए वतन रतलाम परगने और मालवा में प्राप्त अन्य नई जागीर पर उसने अपना अधिकार स्थापित कर वहाँ का शासन-प्रबन्ध संगठित करने में लग गया। रतनसिंह स्वयं जालोर छोड़ कर चला आया था, किन्तु रतलाम में पूरा-पूरा प्रबन्ध न हो जावे वहाँ तक उसने अपने छोटे-छोटे बाल-बच्चों, स्त्रियों तथा अन्य कुटुम्बियों को जालोर में ही रहने दिया। रतनसिंह के साथ

---

[५१] आईन०, २, पृ० २०६; नैणसी०, २, पृ० ४७२-३; पाद०, १, पृ० ३२३-४; १ (खण्ड २), पृ० ३२३, ३२५; २, पृ० ७४२; वारिस०, २, प० १२६ ब।

वर्तमान झालावाड़ राज्य के आधीन इसी गंगधार परगने के अन्तर्गत कूंडला ठिकाने पर आज भी दयालदास झाला के वंशजों का अधिकार है।

उसके नवयुवा उत्तराधिकारी रामसिंह एवं द्वितीय पुत्र रायसिंह भी रतलाम चले आए थे। रतनसिंह का छोटा भाई फतेहसिंह, एवं उसके काका राजसिंह के तीनों पुत्र भी रतनसिंह के साथ ही थे। सांचोरा चौहान वीर शार्दूल के पुत्र, अमरदास और भगवानदास, तथा उन्हीं के अन्य सांचोरा भाई-भतीजे भी रतनसिंह के साथ रतलाम चले आए। रतनसिंह के राजपुरोहित, राजव्यास, वीरवर ओझा एवं चारण-बारहठों ने रतनसिंह के साथ ही रतलाम आना उचित समझा।[५२] शासन-संगठन के इस कार्य में रतनसिंह आगामी ७-८ माह तक उलझा रहा। यह कार्य वह पूरा भी नहीं कर पाया था कि सन् १६५६ ई० के दिसम्बर माह में उसे अपनी सेना लेकर दक्षिण जाने का हुक्म मिला।

गोलकुण्डा का भूतपूर्व वज़ीर, मीर जुमला, इस समय दिल्ली में शाहजहाँ का प्रधान मंत्री और दक्षिणी भारत के मामलों में उसका एकमात्र सलाहकार था। दक्षिणी भारत की राजनैतिक तथा सामरिक परिस्थिति से पूर्णतया परिचित यह व्यक्ति, दक्षिण में औरंगज़ेब की आक्रमणपूर्ण नीति का पक्षपाती था। ऐसे समय लगभग तीस वर्ष के शान्ति एवं समृद्धिपूर्ण शासन के बाद नवम्बर ४, १६५६ ई० को बीजापुर के शासक मुहम्मद आदिल शाह की मृत्यु हो गई और उसका एकमात्र अठारह-वर्षीय पुत्र अली आदिलशाह बीजापुर के सिंहासन पर बैठा। इस अवसर से लाभ उठाकर मुग़ल सत्ता बढ़ाने के उद्देश्य से नवम्बर २६, १६५६ ई० के दिन शाहजहाँ ने औरंगज़ेब को आज्ञा दी कि वह बीजापुर पर चढ़ाई कर वहाँ के शासन-सम्बन्धी मामले को ठीक तरह तय कर दे। औरंगज़ेब इस समय दक्षिणी सूबों का

[५२] गुरूजी०; रासो०, पृ० १०२-३।

सूबेदार था। शाहजहाँ ने उसकी सहायता के लिए मीर जुमला एवं कई एक सेनापतियों को एक बड़ी सेना लेकर दक्षिण भेजा। रतनसिंह राठौड़ का नाम भी इस सेना के साथ जाने वाले सेनानायकों में लिखा गया, परन्तु अन्य कई सेनानायकों के समान वह भी इस समय शाही दरबार में उपस्थित न था। अतएव उसके पास रतलाम हुक्म पहुँचा कि वह अपने सैनिकों को लेकर दक्षिण के लिए रवाना हो।[५३]

बहुत कुछ शाही सेना और कई एक सेनानायकों को लेकर मीर जुमला जनवरी १८, १६५७ ई० को औरंगाबाद जा पहुँचा। किन्तु शाहजहाँ का हुक्म मिलने तथा लगातार ताकीद किए जाने पर भी कई एक शाही सेनानायक अब तक अपनी जागीरों में ही ठहरे हुए थे और फ़रवरी १९, १६५७ ई० से पहिले उनका औरंगाबाद पहुँचना सम्भव नहीं था, अतएव औरंगज़ेब इन पिछड़े हुए शाही सेनानायकों की राह न देखकर जनवरी १८ को ही औरंगाबाद से चल पड़ा और मार्च २ को उसने बीदर के किले को जा घेरा।[५४] रतनसिंह औरंगज़ेब की सेना में कब सम्मिलित हुआ था यह कहा नहीं जा सकता है, परन्तु बीदर के घेरे के समय उसका शाही सेना में आ सम्मिलित होना निश्चित ही है।

सत्ताईस दिन के घेरे के बाद मार्च २९ को बीदर किले के संर-

---

[५३] वारिस०, २, प० ११८ ब; आदाब०, १, प० ६० ब, ९० ब, ९२ ब, ११८ अ; औरंग०, १-२, पृ० २१७, २३४-२३७।

कम्बू० (३, पृ० २३६) में इस शाही फ़रमान की तारीख़ १८ रबी-उल्-अव्वल (दिसम्बर २५, १६५६ ई०) दी है, जो ठीक नहीं।

[५४] आदाब०, १, प० ६२ अ, ९२ अ, १०९ ब, ११० अ, ११८ ब; २, प० १४५ ब, १४६ अ, १९६ ब; औरंग०, १-२, पृ० २३८।

क्षकों ने आत्मसमर्पण कर दिया। किन्तु इन्हीं दिनों आदिल शाह के सेनानायक गुलबर्गा के पास ही एक बहुत बड़ी बीजापुरी सेना एकत्रित और सुसज्जित कर रहे थे। अप्रेल, १६५७ ई० के प्रारम्भिक दिनों में एक बार तो इसी सेना का कोई दो हज़ार सवारों का एक दल बीदर से छः मील की दूरी पर आ पहुँचा और वहाँ से शाही बंजारों के बैल हाँक ले गया। इस घटना की सूचना मिलते ही इन सवारों के दल के विरुद्ध मुअज़्ज़म ख़ाँ, दिलेर ख़ाँ, रतनसिंह, आदि सेनानायक भेजे गए। उन्होंने बीजापुरी सवारों को मार भगाया और वे बैलों को छुड़ा लाए[55]।

किन्तु बीजापुरी सेना पर हमला कर उसे भी तितर-बितर कर देना आवश्यक था, एवं औरंगज़ेब ने महाबत ख़ाँ के सेनापतित्व में कई एक अनुभवी सेनानायकों और कोई १५,००० अच्छे सवारों का एक दल बीदर से रवाना किया कि वे कल्याणी से लेकर गुलबर्गा तक का सारा बीजापुरी प्रदेश पूर्णतया उजाड़ कर बरबाद कर दें। रतनसिंह और उसके सैनिक भी इस सेना के साथ भेजे गए। बीदर से कल्याणी होती हुई यह सेना दक्षिण की ओर बढ़ी। राह में अप्रेल १२, १६५७ ई० को बीजापुर के सुप्रसिद्ध सेनापति ख़ान मुहम्मद, अफ़ज़ल ख़ाँ, दिलेर ख़ाँ के पुत्र, आदि के नेतृत्व में कोई २०,००० बीजापुरी सैनिकों के दल से इस सेना की मुठभेड़ हो गई। अपने हरोल को लेकर महाबत ख़ाँ बीजापुरी सेना की ओर बढ़ा। बीजापुरी सैनिक मुग़ल सेना पर दूर-दूर से ही तीर चलाते रहे और प्रधानतया मुग़ल सेना के दाहिने भाग पर आक्रमण किया। अपने इन साथियों की सहायता करने के उद्देश्य से रतनसिंह राठौड़ और भोजराज

---

[55] कम्बू०, ३, पृ० २५२; औरंग०, १-२, पृ० २४२-३।

महाबत ख़ाँ की आज्ञा लिए बिना ही अपने सैनिकों को लेकर बीजापुरी सेना के मध्य भाग पर टूट पड़े और वीरतापूर्वक लड़ने लगे। किन्तु इस हमले से भी विशेष लाभ नहीं हुआ। ऐसे युद्धों में अतीव कुशल बीजापुरी सैनिक रतनसिंह के इस हमले से चतुरतापूर्वक अलग होकर जिधर विशेष युद्ध हो रहा था, मुग़ल सेना के उसी दाहिने भाग की ओर जा पहुँचे। महाबत ख़ाँ चतुर सेनानी था; सारी परिस्थिति को समझ कर अन्त में अपने सैनिकों को लेकर उसने स्वयं बीजापुरी सेना पर बड़े ज़ोरों से हमला किया। बीजापुरी सेना इस हमले का सामना न कर सकी; वह भाग खड़ी हुई। इस भागती हुई सेना का महाबत ख़ाँ ने कोई चार मील तक पीछा किया।[५६]

किन्तु महाबत ख़ाँ ने अब अधिक आगे बढ़ना ठीक न समझा; अपनी सारी सेना को लेकर अप्रेल १४ के दिन वह लौट कर भाल्की चला आया। कैल्याणी और बीदर के बीच कोई विशेष बाधा नहीं रह गई थी, एवं अप्रेल २७ को औरंगज़ेब सेना लेकर कल्याणी की ओर बढ़ा और एक सप्ताह में उस किले को जा घेरा। यह घेरा महीनों चलता रहा; बीजापुरी सेना ने घेरा डालने वाली मुग़ल सेना की कठिनाइयाँ बढ़ाने का भरसक प्रयत्न किया, दो घमासान लड़ाइयाँ भी हुईं, परन्तु इनमें रतनसिंह के भाग लेने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अन्त में अगस्त १, १६५७ ई० को कल्याणी के किलेदार नें आत्मसमर्पण कर दिया और यों कोई बारह सप्ताह के घेरे के बाद यह किला औरंगज़ेब के अधिकार में आया।[५७] बीजापुर के इन

---

[५६] कम्बू०, ३, पृ० २५२-३; औरंग०, १-२, पृ० २४३-४।

[५७] कम्बू०, ३, पृ० २५४-२६१; आदाब०, १, प० ११३ अ, १३६ अ; २, प० १४६ ब, १५६ ब; औरंग० १-२, पृ० २४४-२५०।

किलों की ज़ीत का विवरण जब शाहजहाँ को ज्ञात हुआ तो उसने अपने विजयी सेनापतियों को इनाम दिए। आदिलख़ानियों के साथ इन युद्धों में अच्छा परिश्रम करने के उपलक्ष में रतनसिंह के मनसब में चार सौ सवार बढ़ा कर उसका मनसब दो हज़ारी ज़ात-दो हज़ार सवारों का कर दिया।[५८]

परन्तु कल्याणी का घेरा समाप्त भी नहीं हुआ था कि औरंगज़ेब को शाहजहाँ का हुक्म मिला कि वह आदिलशाह के साथ संधि कर ले। औरंगज़ेब ने कल्याणी का किला लिए बिना सन्धि की बातचीत करना उचित नहीं समझा, किन्तु एक बार कल्याणी का किला हस्तगत हो जाने के बाद उसके लिए दूसरा कोई चारा नहीं रह गया था। बीदर और कल्याणी किले जीतने के बाद बीजापुर पर अधिकार कर लेना कुछ ही सप्ताहों का काम था, परन्तु उसी समय औरंगज़ेब को विवश होकर सन्धि की बात प्रारम्भ करनी पड़ी। इसी समय महाबत ख़ाँ, राव शत्रुसाल हाड़ा एवं अन्य शाही सेनानायकों के पास दिल्ली से शाही फ़रमान पहुँचे कि बीजापुर की चढ़ाई में औरंगज़ेब की सहायतार्थ भेजी गई सारी सेना को साथ लेकर वे शाही दरबार में लौट आवें। इन फ़रमानों के पहुँचते ही महाबत ख़ाँ, राव शत्रुसाल, आदि सेनानायक यह सेना लेकर सितम्बर, १६५७ ई० के तीसरे सप्ताह के लगभग औरंगज़ेब की आज्ञा लिए बिना ही दक्षिण से उत्तरी भारत के लिए रवाना हो गए। शाही आज्ञानुसार रतनसिंह को भी अपने सैनिक लेकर उनके साथ दक्षिण से चल देना पड़ा। महाबत ख़ाँ और राव शत्रुसाल दिसम्बर २०, १६५७ ई० को आगरा पहुँच कर शाही दरबार में उपस्थित हुए। रतनसिंह राठौड़

---

[५८] कम्बू०, ३, पृ० २६२; मा० उ०, ३, पृ० ४४७।

भी उन्हीं के साथ आगरा पहुंच कर शाही दरबार में हाज़िर हुआ ।[५९]

५. धरमत (फ़तेहाबाद) का युद्ध एवं रतनसिंह की मृत्यु (अप्रेल १५, १६५८ ई०); उसकी रानियों का सती होना

इधर कुछ महीनों से मुग़ल साम्राज्य के भाग्याकाश में विद्रोह और गृह-कलह के घने बादल घिरने लगे थे। बूढ़े मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ का स्वास्थ्य सन् १६५७ ई० के गरमी के दिनों से ही गिरने लगा था; सितम्बर ६, १६५७ ई० को वह दिल्ली में सख़्त बीमार पड़ गया और एक सप्ताह तक दारा और कुछ उच्च पदाधिकारियों के अतिरिक्त किसी ने भी शाहजहाँ को नहीं देखा, एवं शाहजहाँ की मृत्यु की झूठी ख़बर सब दूर फैल गई, और सुदूर प्रान्तों तक यह समाचार अधिकाधिक विकृत रूप में पहुँचा। इधर शाहजहाँ की बीमारी जब घटी और उसका स्वास्थ्य कुछ सुधरने लगा तब उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र दारा को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर शासन-सम्बन्धी अपने सारे अधिकार उसे सौंप दिए ।[६०]

दारा अपनी सत्ता को सुदृढ़ एवं सुसंगठित बनाने के लिए बहुत ही उत्सुक एवं प्रयत्नशील हुआ, अतएव उसने दरबार में रहने वाले अन्य शाहज़ादों के वकीलों एवं दूसरे ख़बर-नवीसों पर कड़ी

---

[५९] कम्बू०, ३, पृ० २६२-३, २६६, २७०; आदाब०, २, प० १४६ ब, १५७ ब; आ० ना०, पृ० २६; ज़फ़र०, पृ० १७-१८; औरंग०, १-२, पृ० २५०-२५२, २८१-२८२, ३१८-३१६; रासो०, पृ० १०१-२।

[६०] आ० ना०, पृ० ८०-८१; कम्बू०, ३, पृ० २६४-२६५, २७५; औरंग०, १-२, पृ० २७७-२८१।

देख-रेख और बाहर जाने वाले समाचारों पर पूरी पाबन्दियाँ लगा दीं। किन्तु उन सब प्रयत्नों का परिणाम पूर्णतया विपरीत ही हुआ। शाही दरबार से आने वाले सच्चे समाचारों पर भी अब कोई विश्वास नहीं करता था; सुदूर प्रान्तों में कोई भी यह मानने को तैयार न था कि बीमार शाहजहाँ पुनः स्वस्थ हो गया। सच्चे विश्वस्त समाचारों के अभाव में अनहोनी झूठी-झूठी ख़बरें और भी अधिक फैलने लगीं। शाहजहाँ को सचमुच मरा जान कर मुग़ल साम्राज्य के राज्य-सिंहासन के लिए निकट भविष्य में होने वाले गृह-युद्ध की अनिवार्य सम्भावना के कारण सर्वत्र भय, आशंका और अस्थिरता की भावना उत्पन्न हो गई, एवं सारे साम्राज्य में अशान्ति और अराजकता उभड़ने लगी।[११]

सुदूर प्रान्तों में अन्य शाहज़ादों ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया, और मुग़ल सिंहासन के लिए युद्ध की पूरी-पूरी तैयारियाँ करने लगे। शाहज़ादा मुराद इस समय गुजरात में था; नवम्बर २०, १६५७ ई० को वह अहमदाबाद में शाही तख़्त पर बैठा और स्वयं को सम्राट् घोषित किया। कुछ ही सप्ताह बाद बंगाल में शाहज़ादा शुजा भी सिंहासनारूढ़ हुआ और अपनी सुसज्जित सेना लेकर बिहार की ओर बढ़ा। उधर सुदूर दक्षिण में औरंगज़ेब भी कुछ समय से इस अवश्यम्भावी गृह-युद्ध की तैयारी कर रहा था। दारा ने ये सारी बातें शाहजहाँ को व्यक्त कीं, और शाहजहाँ ने विवश होकर अपने छोटे शाहज़ादों का सामना करने के लिए शाही सेनाएँ भेजने की आज्ञा दी। दारा ने शायस्ता ख़ाँ को मालवा की सूबेदारी से अलग कर

---

[११] ईश्वर०, प० ६ अ; आ० ना०, पृ० २८; कम्बू०, ३, पृ० २७५; रासो०, पृ० ८७; औरंग०, १-२, पृ० २८७-८।

उसे दिल्ली बुला भेजा और जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। एक बड़ी सेना लेकर जसवन्तसिंह दिसम्बर १८, १६५७ ई० को आगरा से मालवा के लिये रवाना हुआ। आठ दिन बाद शाहज़ादा मुराद के स्थान पर क़ासिमख़ाँ गुजरात का सुबेदार नियुक्त किया गया, और दिसम्बर २६ को क़ासिम ख़ाँ भी एक बड़ी सेना लेकर मालवा की राह गुजरात के लिए आगरा से चल पड़ा।[६२]

रतनसिंह दिसम्बर २० को बीजापुर की चढ़ाई से वापस आगरा लौटा तो उसे राह में मालवा के लिए रवाना होती हुई शाही सेना मिली। रतनसिंह एक अनुभवी वीर योद्धा था, वह महाराजा जसवन्तसिंह का चचेरा भाई होता था, उसे मालवा में जागीर भी थी, एवं जसवन्तसिंह ने इस बात का विशेष आग्रह किया कि रतनसिंह और उसके सैनिक भी मालवा जाने वाली शाही सेना में नियुक्त किए जावें। शाही दरबार में इस प्रस्ताव के स्वीकृत होने में कोई देरी न लगी। दिसम्बर २०, १६५७ ई० को जब रतनसिंह आगरा पहुँच कर शाही दरबार में उपस्थित हुआ, तब उसे तत्काल ही जसवन्तसिंह की सेना में सम्मिलित होने के लिए बिदा कर दिया गया। आगरा से रवाना होते समय उसके मनसब के उपयुक्त क़ीमती ख़िलअत और अन्य पुरस्कार दिए गए। अन्य शाही राजपूत मनसबदारों के साथ ही रतनसिंह भी जसवन्तसिंह की सेना में नियुक्त किया

---

[६२] ईश्वर०, प० १०अ, ११ ब, १८ अ-ब; आ० ना०, पृ०२६, ३२-३३; कम्बू०, ३, पृ० २७६, २८४-५; औरंग०, १-२, पृ० २८३-२८५, २८६।

गया, एवं रतनसिंह अपने सैनिकों को लेकर जल्द ही आगरा से चल पड़ा।[६३]

जसवन्तसिंह के साथ भेजी गई शाही सेना धीरे-धीरे मालवा की ओर बढ़ रही थी, किन्तु वह स्वयं कोई दो तीन हज़ार सवारों को साथ लेकर जनवरी २७, १६५८ ई० को तेज़ी से सीधा उज्जैन जा पहुँचा।[६४] रतनसिंह को स्पष्टरूपेण यह देख पड़ रहा था कि शीघ्र ही भयंकर गृह-युद्ध प्रारम्भ होगा, और कुछ काल के लिये ही क्यों न हो, असीम अराजकता सर्वत्र फैलेगी। इस मारकाट में से कौन जीवित बच निकलेगा और इस गृह-कलह का परिणाम क्या होगा, यह कौन जानता था? एवं शाही सेना में सम्मिलित होने से पहिले वह आगरा से सीधा रतलाम गया। रतनसिंह ने अपनी जागीर एवं राज्य का शासन-प्रबन्ध और तत्सम्बन्धी सारा कार्य अपने ज्येष्ठ पुत्र रामसिंह को, जिसकी वय इस समय १९ वर्ष से अधिक की ही थी, सौंप दिया। रासो-कार के अनुसार रतनसिंह ने शुभ मुहूर्त देख कर रामसिंह का राज्य-तिलक भी कर दिया। रतलाम के शासन-प्रबन्ध की इस प्रकार ठीक व्यवस्था कर रतनसिंह पूर्णतया निश्चिन्त हो गया। शुभ मुहूर्त पर रतलाम से उज्जैन के लिए रवाना होने का उसने निश्चय किया। रतनसिंह चाहता था कि वीर सांचोरा चौहान शार्दूल के पुत्र, उसके पुराने साथी, अमरदास और भगवानदास, रतलाम रह

---

[६३] रासो०, पृ० १०१।

रासो० (पृ० १०१) के आधार पर रतन० (पृ० ३७) में लिखा है कि आगरा से रवाना होते समय जिस प्रकार के ख़िलअ़त और इनाम जसवन्तसिंह को दिए गए वैसे ही ख़िलअ़त और इनाम रतनसिंह को भी मिले। परन्तु यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं जान पड़ता है; कवि की अत्युक्ति मात्र है।

[६४] आ० ना०, पृ० ३३; ख्यात०, १, पृ० २०६; औरंग०, १-२, पृ० ३१०।

कर ही रामसिंह की सेवा तथा सहायता करें। किन्तु दोनों चौहान वीरों ने समर-यात्रा पर जाते हुए अपने सुप्रसिद्ध नेता एवं स्वामी का साथ छोड़ना उचित नहीं समझा; वे दोनों रतनसिंह के साथ हो गए। रतनसिंह का दूसरा पुत्र रायसिंह भी, जिसकी वय इस समय १६-१७ वर्ष से अधिक की न थी, हठ करके रतनसिंह के साथ ही उज्जैन के लिए रवाना हुआ।[६५]

उज्जैन पहुँच कर जसवन्तसिह शाहज़ादों की गतिविधि का पता लगाने का कुछ-कुछ प्रयत्न करता रहा। ओरंगज़ेव स्वयं तो फ़रवरी ५, १६५८ ई० तक औरंगाबाद से रवाना नहीं हुआ, किन्तु उसने जनवरी २५ को ही अपने ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद सुल्तान को सेना लेकर बुरहानपुर भेजा। मुहम्मद सुलतान ने बुरहानपुर जाकर ऐसा प्रबन्ध किया कि औरंगज़ेब एवं उसकी सेना सम्बन्धी कोई भी समाचार नर्मदा पार न पहुँचने पावें। फ़रवरी १८ को औरंगज़ेब स्वयं बुरहानपुर जा पहुँचा और एक माह तक वहीं टिका रहा।[६६]

---

[६५] रासो०, पृ० १०२, १०४, १०७-११२, ११३।

रासो० (पृ० ११०) के अनुसार यह राज्य-तिलक बसन्त के शुभ मुहूर्त पर किया गया है। यहाँ 'बसन्त' का क्या अर्थ लिया जाना चाहिए। यह एक विचारणीय बात है। बसन्त पंचमी, जनवरी २८, १६५८ ई० के दिन थी। उस दिन यह हो सकना सम्भव नहीं जान पड़ता है। यहाँ 'बसन्त' से बसन्त ऋतु का ही अर्थ लेना चाहिए।

यदि यह राज्य-तिलक किया गया हो तो वह रतनसिंह का अपना निजी प्रबन्ध ही था; उसका मुग़ल साम्राज्य या मुग़ल सूबेदार से कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता था।

[६६] आ० ना०, पृ० ४२-४६; ज़फ़र०, पृ० १७-२२; औरंग०, १-२, पृ० ३४४-३४५।

उधर औरंगज़ेब ने मुराद को सलाह दी थी कि वह गुजरात से मालवा की ओर बढ़े। फ़रवरी २५ को अहमदाबाद से मुराद ससैन्य मोड़ासा की राह मालवा की ओर रवाना हुआ। गुजरात की सरहद पार कर मार्च १४ को मुराद मालवा में मन्दसौर शहर तक जा पहुँचा। मुराद के मालवा की ओर बढ़ने की सूचना पाकर जसवन्तसिंह उज्जैन से सेना लेकर उत्तर में बाँसवाड़ा की राह की ओर बढ़ा और खाचरोद से ६ मील की दूरी पर जाकर मुराद की राह रोकने के लिए तैयारी करने लगा। मुराद जब जसवन्तसिंह से कोई ३६ मील दूर था, उसे ज्ञात हुआ कि जसवन्तसिंह की सेना अधिक शक्तिशाली थी, एवं उसने जसवन्तसिंह का सामना करना उचित न समझा और वह जल्द ही वापस गुजरात की ओर लौट पड़ा, और औरंगज़ेब के उत्तर की ओर बढ़ने के समाचार की बाट देखता रहा। अप्रेल ४ को मुराद दोहद में टिका हुआ था। जसवन्तसिंह को औरंगज़ेब के बारे में अब तक कोई भी ख़बर न मिली थी। मुराद के पीछे हटने का ठीक-ठीक कारण भी जसवन्तसिंह की समझ में नहीं आ पाया। अप्रेल ३ तक वह खाचरोद ही ठहरा रहा और तब वहाँ से रवाना हो कर अप्रेल ५ के लगभग वह वापस उज्जैन पहुँचा। इसी समय रतनसिंह ससैन्य रतलाम से रवाना होकर उज्जैन में जसवन्त-सिंह की सेना में आ मिला। जसवन्तसिंह ने पूरे सम्मान के साथ रतनसिंह का स्वागत किया।[६७]

मुराद भी दोहद से दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ा। वह चाहता था कि उत्तर की ओर बढ़ती हुई औरंगज़ेब की सेना की राह से वह बहुत

---

[६७] आ० ना०, पृ० ५६-५७; ज़फ़र०, पृ० २२-३; फ़ैयाज़०, पृ० ५८५, ५८६-५८९; ईश्वर०, प० १७ अ, १९ अ; ख्यात०, १, पृ० २०६; रासो०, पृ० १२०; वचनिका०, पृ० ८; औरंग०, १-२, पृ० ३१०-३११, ३४८।

अधिक दूरी पर न पड़ जावे। दोहद से झाबुआ की घाटी पार करता हुआ वह मण्डलपुर पहुँचा।[१८] यहीं मुराद को अप्रेल १३ के दिन औरंगज़ेब का दूत मिला। औरंगज़ेब मार्च २० को बुरहानपुर से रवाना होकर १९ मील उत्तर-पूर्व में माण्डवा नामक स्थान पर पहुँचा। वहाँ से उत्तरी भारत जाने वाली दो विभिन्न राहें फटती थीं। एक राह तो उत्तर-पूर्व की ओर मुड़ कर हण्डिया के पास नर्मदा पार करती थी। किन्तु औरंगज़ेब ने इसे छोड़ कर उत्तर-पश्चिमी राह ली। सात पड़ाव के बाद वह अकबरपुर के पास नर्मदा के तीर पर पहुँचा। अप्रेल ३ को औरंगज़ेव ने बिना किसी विशेष विरोध का सामना किए ही नर्मदा को पारकर मालवा में प्रवेश किया। वहाँ से माण्डू के क़िले के पास वाली घाटी की राह वह मालवा के पठार पर चढ़ा और धार होता हुआ देपालपुर की ओर बढ़ा। औरंगज़ेब को अब ज्ञात हुआ कि मुराद ससैन्य देपालपुर से अधिक दूर नहीं था, एवं उसने मुराद को लाने के लिये दूत भेजा जो मण्डलपुर में मुराद के पास पहुँचा था। अप्रैल १४ को देपालपुर के तालाब के पास ही औरंगज़ेब और मुराद की सेनाएँ सम्मिलित हो गईं और तत्काल ही पूर्ण उत्साह के साथ दोनों उज्जैन की ओर बढ़ीं।[१९]

---

[१८] ईश्वर०, प० १७ अ।

नक़्शे में मण्डलपुर नामक कोई गाँव नहीं मिलता है। इससे मिलते-जुलते नाम के दो स्थान 'बरमण्डल' और 'मुण्डला' अवश्य नक़्शे में पाए जाते हैं। ये स्थान देपालपुर से क्रमशः २६ मील और ७ मील पश्चिम में हैं। सर यदुनाथ सरकार के मतानुसार मण्डलपुर बहुत करके 'बरमण्डल' ही होगा। औरंग०, १-२, पृ० ३११।

[१९] आ० ना०, पृ०, ५०, ५२, ५५-६; कम्बू०, ३, पृ० २८५-६; ईश्वर०, प० १७ ब; ज़फ़र०, पृ० २६-२७; औरंग०, १-२, पृ० ३४५-६, ३११-१२।

औरंगज़ेब मालवा की ओर बढ़ रहा था। परन्तु जब तक वह मालवा में न आ घुसा, जसवन्तसिंह को उसकी सेना सम्बन्धी कोई भी समाचार नहीं प्राप्त हो पाए। खाचरोद से लौट कर अप्रेल ५ के लगभग जब वह उज्जैन पहुँचा, तब तक औरंगज़ेब की सेना की गति-विधि से वह पूरी तरह अनभिज्ञ था। किन्तु एकाध दिन के बाद तो लगातार समाचारों का ताँता बँध गया। अप्रेल ६ या ७ को माण्डू के क़िलेदार का पत्र जसवन्तसिंह के पास पहुँचा, जिसमें उसने औरंगज़ेब के नर्मदा पार कर माण्डू की घाटी की राह आगे बढ़ने के समाचार लिखे थे। औरंगज़ेब की आगे बढ़ने वाली सेना के डर के मारे धार से भाग खड़े होने वाले सैनिकों ने भी उज्जैन पहुँच कर इन्हीं समाचारों की पुष्टि की।

इसी समय औरंगज़ेब का ब्राह्मण दूत, कविराय, भी उज्जैन आ पहुँचा; उसने जसवन्तसिंह को औरंगज़ेब का सन्देश कह सुनाया। औरंगज़ेब ने जसवन्तसिंह को शान्तिपूर्वक जोधपुर लौट जाने की सलाह दी थी और यह आग्रह किया था कि वह उसकी राह न रोके। औरंगज़ेब ने यह भी कहलाया था कि वह केवल शाहजहाँ से मिलने जा रहा था, एवं युद्ध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। परन्तु जसवन्तसिंह ने औरंगज़ेब की सलाह नहीं मानी और वापस कहला भेजा––"मुझे शाहजहाँ की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। इस समय वापस लौट जाना मेरे लिए अपमानजनक एवं कलंक-कारक होगा।" जसवन्तसिंहने इस प्रकार औरंगज़ेब के प्रस्ताव को ठुकरा दिया।[७०]

---

[७०] आ० ना०, पृ० ५६-५८, ६०; ज़फ़र०, पृ० २७; ईश्वर०, प० १६ अ; औरंग०, १-२, पृ० ३४४, ३४८-९।

अन्त में अप्रेल १२ को जसवन्तसिंह सारी शाही सेना लेकर उत्तर की ओर बढ़ते हुए औरंगज़ेब की राह रोकने और आवश्यकता पड़ने पर उससे युद्ध भी करने को तत्पर हो कर उज्जैन से निकला। गुजरात का नया सूबेदार, कासिम खाँ भी अपनी शाही सेना लेकर जसवन्तसिंह के साथ चला। जसवन्तसिंह की सेना में अनेकानेक उच्च पदाधिकारी राजपूत शाही मनसबदार थे, जो अपनी-अपनी सेना लेकर जसवंतसिंह के साथ उज्जैन से चले। कोटा का महाराव मुकुन्दसिंह हाड़ा, शाहपुरा का सुजानसिंह सिसोदिया, रणथंभोर का अर्जुन गौड़, राजा रायसिंह सिसोदिया और राजा देवीसिंह बुन्देला विशेषरूपेण उल्लेखनीय थे। रतनसिंह, उसके वीर साथी और सैनिक भी जसवन्तसिंह की सेना के साथ बढ़े। जसवन्तसिंह शाही सेना के साथ दक्षिण-पश्चिमी दिशा में चला और उज्जैन से कोई १४ मील दूर गम्भीर नदी के पूर्वी तट पर स्थित धरमत गाँव के सामने ही जाकर उसने अपना पड़ाव डाला।[७१] यहीं अप्रेल १४ को जसवन्त-

---

आ० ना० के अनुसार कविराय केवल औरंगज़ेब का ही सन्देश लेकर जसवन्तसिंह से उज्जैन में मिला था। परन्तु वचनिका० (पृ० १३-१८), रासो० (पृ० १२१-२) एवं ख्यात० (१, पृ० २०६) के अनुसार उक्त सन्देश औरंगज़ेब और मुराद दोनों ने भिजवाए थे। वचनिका० और ख्यात० के अनुसार तो यह सन्देश युद्ध से एक ही रात पहिले धरमत के युद्धक्षेत्र में भेजा गया था। इन सब कथनों में आ० ना० का कथन ही अधिक ठीक और विश्वसनीय है।

[७१] धरमत (फ़तेहाबाद) २५° उत्तर, ७५° ४३′ पूर्व में स्थित है। यह गाँव देपालपुर से १२ मील उत्तर में, उज्जैन से १४ मील दक्षिण-पश्चिम में और फ़तेहाबाद-चन्द्रावतीगंज रेलवे स्टेशन से कोई एक मील उत्तर में है।

ख्यात० (१, पृ २०६) में लिखा है—"उज्जैन से चार या पाँच कोस आगे गाँव चौर नारायणा है; वहाँ महाराज (जसवन्तसिंह) ने डेरा किया।

सिंह ने सुना कि औरंगज़ेब और मुराद की सेनाएँ सम्मिलित हो गईं, तथा यह सम्मिलित सेना धरमत से केवल एक ही पड़ाव की दूरी पर थी। उसी दिन सन्ध्या होते-होते तो शत्रु-सेनाएँ भी धरमत आ पहुँचीं और उन्होंने भी गम्भीर नदी के पूर्वी तट पर धरमत के पास ही डेरा डाला। औरंगज़ेब ने अगले दिन जसवन्तसिंह के साथ युद्ध करने का निश्चय किया।[७२]

इस समय रतनसिंह के साथ उसका दूसरा पुत्र रायसिंह भी था। उसकी वय १६-१७ वर्ष से अधिक की न थी, किन्तु जब रतनसिंह रतलाम से उज्जैन के लिए ससैन्य रवाना हुआ, वह हठ कर रतनसिंह के साथ ही उज्जैन आया। रतनसिंह ने बहुत प्रयत्न किया कि क्षिप्रा-स्नान के बाद रायसिंह को रतलाम वापिस भेज दे, किन्तु रायसिंह लौट कर नहीं गया, तथा बहुत कुछ कह-सुनने के बाद भी वह शाही सेना के साथ धरमत आया एवं रतनसिंह के अन्य सेनानायकों के साथ

उस ही गाँव में शाहज़ादों (औरंगज़ेब और मुरादबख़्श) का भी डेरा हुआ।" सम्भव है धरमत के पास ही चौर नारायणा नाम का दूसरा गाँव हो, जिससे जसवन्तसिंह का पड़ाव अधिक पास होने से उस गाँव के नाम का ख्यात० में उल्लेख किया गया। परन्तु इस गाँव का नाम नक़्शे में नहीं मिलता है।

[७२] आ० ना०, पृ० ५६-५७, ६०; कम्बू०, ३, पृ० २८६; ईश्वर०, प० १६; औरंग०, १-२, पृ ३४६, ३४७।

धरमत के युद्ध का यह विवरण लिखने में रासो० एवं वचनिका० से ज्ञात महत्त्वपूर्ण घटनाओं तथा ऐतिहासिक तथ्यों का यथास्थान समावेश किया गया है। रासो० एवं वचनिका० के ऐतिहासिक महत्त्व आदि की विवेचना के लिए देखो "परिशिष्ट ३—धरमत (फ़तेहाबाद) के युद्ध के विवरण सम्बन्धी दो हिन्दी आधारग्रन्थ और उनका ऐतिहासिक महत्त्व"।

युद्ध में भाग लेने को तत्पर हुआ।[७३] रतनसिंह का छोटा भाई फतेहसिंह भी इस समय रतनसिंह के साथ था। फतेहसिंह शाही मनसबदार था और रतनसिंह के साथ धरमत आने से पहिले बरसों वह महाबत खाँ के साथ दक्षिण में शाही सेना के संग रह चुका था। इस बार फतेहसिंह शाही सेना के साथ धरमत आया, और युद्ध में अपने वीर भ्राता रतनसिंह के साथ बना रहा।[७४] रतनसिंह के अन्य सेनानायक एवं योद्धा साथियों में प्रधानतया उल्लेखनीय थे—सांचोरा वीर अमरदास और भगवानदास चौहान, बारहठ जसराज और ब्राह्मण परशुराम ओझा। अमरदास और भगवानदास, सांचोरा वीर शार्दूल के पुत्र, और रतनसिंह राठौड़ के पितामह दलपत के मामा सांचोरा मेहकरण के प्रपौत्र थे।[७५] ये दोनों भाई रतनसिंह के बहुत विश्वासपात्र थे, और इसी कारण रतलाम से रवाना होते समय

---

[७३] रासो०, पृ० ११२-११३, ११८-१२०; वचनिका०, पृ० २६।

[७४] गुरूजी०; ख्यात०, १, पृ० २०७।

[७५] अमरदास और भगवानदास, दोनों भाइयों में कौन बड़ा और कौन छोटा था, इस प्रश्न को लेकर प्रायः विवाद होता है (पंचेड़ ठिकाने का इतिहास, पृ० ६४)। ये वाद-विवाद ईसा की १८वीं शताब्दी के बाद ही प्रारम्भ हुए। इन भ्राताओं के समकालीन कवि कुम्भकर्ण कृत 'रतनरासो' के आधार पर इस प्रश्न का निश्चितरूपेण उत्तर दिया जा सकता है। रासो० में लिखा हैः—

"तिहि समय अमर भगवान वृंद,
अग्रज अनुज सादूल नन्द।" (पृ ७०);

और "तत सुभट अमर वट चहुवान,
तत अनुज उग्र भगवान ठांन।" (पृ० ११७)।

इन वीरों की मृत्यु के कोई बीस ही वर्ष बाद लिखे गए काव्य के इन उद्धरणों से यह बात निर्विवादरूपेण साबित है कि अमरदास बड़ा और भगवानदास छोटा भाई था।

रतनसिंह ने अपने पुत्र रामसिंह की सहायतार्थ इन दोनों भाइयों को रतलाम ही छोड़ना चाहा था, किन्तु वे दोनों रतनसिंह को छोड़ कर पीछे न रहे। इस युद्ध में भी वे अन्त तक बराबर रतनसिंह के ही साथ बने रहे। जसराज बारहठ, रोड़िया खाँप का चारण, रतनसिंह के दरबार का राजकवि एवं उसका विश्वस्त सलाहकार था। परशुराम ओझा, श्रीमाली ब्राह्मण होते भी एक वीर योद्धा था; युद्ध के समय रतनसिंह का निजी झण्डा लेकर उसी की सेना के आगे नेतृत्व करता था। धरमत के युद्ध में सम्मिलित होकर उसने वीरगति प्राप्त की। रतनसिंह के दरवार का राजकवि खड़िया जगा भी इस समय सेना के साथ धरमत के युद्ध-क्षेत्र में आ पहुँचा था।[७६] इस युद्ध में रतनसिंह की निजी सेना कितनी थी, इसका ब्यौरा कहीं भी नहीं मिलता है।

अप्रेल १४ को जब शत्रु-सेनाओं ने आकर शाही सेना के सामने ही डेरा डाला, तब तो जसवन्तसिंह पुनः किंकर्तव्य-विमूढ़ होने लगा। आगरा से रवाना होते समय शाहजहाँ ने जसवन्तसिंह को आज्ञा दी थी कि जहाँ तक हो सके शाहज़ादों को किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचे, और जब दूसरा चारा रह ही न जावे तभी वह उनके साथ युद्ध करे।[७७] अतएव उसी दिन सन्ध्या समय जसवन्तसिंह ने अपने सारे राजपूत सेनानियों को एकत्रित कर उनकी सलाह पूछी। शाहज़ादों के साथ युद्ध करने के पक्ष में ही सब की राय हुई। रतनसिंह ने जसवन्तसिंह के सम्मुख यह प्रस्ताव भी रखा कि शाही सेना का

---

[७६] रासो०, पृ० १०३, १३२; वचनिका०, इण्ट्रोडक्शन, पृ० ३-४; गुरूजी०।

[७७] कम्बू०, ३, पृ २८४; मासूम०, प० ४६ ब; मनुची०, १, पृ० २५८; बरनियर०, पृ० ३७, ३८।

सेनापतित्व रतनसिंह को सौंप दे जिससे जसवन्तसिंह को इस युद्ध में भाग न लेना पड़े, किन्तु जसवन्तसिंह ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया।[७८] इसी समय आसकरण नींबावत ने प्रस्ताव किया कि वह ४,००० सवारों को लेकर आधी रात के समय शत्रु की सेना पर हमला करे और तोपचियों को मारकर शत्रु की सारी तोपें छीन ले, जिससे आगामी दिन युद्ध के समय दुश्मन को हराना कठिन न हो। किन्तु क्षत्रिय-सुलभ सरलता के साथ जसवन्तसिंह ने यह कह कर इन्कार कर दिया कि रात्रि के समय आक्रमण करना या ऐसी ही तदबीरों से लाभ उठाना राजपूतों की नीति से विरुद्ध एवं क्षत्रियों की वीरता को बट्टा लगाने वाला कार्य है।[७९]

उसी रात को रतनसिंह के डेरे पर राजपूतों का सहभोज हुआ, एवं उसके बाद रतनसिंह का दरबार जुड़ा, जिसमें उसने अपने सेना-नायकों, प्रधान सरदारों तथा अन्य वीर साथियों को युद्ध के लिए उत्साहित किया। राजपूत और चारण वीरों ने रतनसिंह के निश्चय को सराहा, तथा आगामी दिन युद्ध में रतनसिंह के साथ ही मर मिटने को वे उतारू हो गये।[८०]

अप्रेल १५, १६५८ ई० का प्रातःकाल हुआ। दोनों तरफ़ से सेनाएँ तैयार होने लगीं। किन्तु दोनों ओर के सेनानायकों ने एक बार पुनः समझौते के लिए प्रयत्न किया। औरंगज़ेब ने आज़म शिकोह को भेजा, और जसवन्तसिंह ने अपने वकील को प्रेरित किया, किन्तु कोई नतीजा नहीं निकला। जसवन्तसिंह को विश्वास था कि

---

[७८] **वचनिका०, पृ० १४-१६।**

[७९] **ईश्वर०, प० २० अ; औरंग०, १-२, पृ० ३५४-३५५।**

[८०] **वचनिका०, पृ० १६-२८।**

शाहज़ादे शाही सेना का सामना न कर लौट जावेंगे, किन्तु अब उसने जाना कि उसे शत्रुओं का सामना करना ही होगा, वे किसी भी प्रकार पीछे हटने वाले न थे।[८१]

अन्त में सूर्योदय के कोई दो घण्टे बाद युद्ध प्रारम्भ हो गया।[८२] जसवन्तसिंह ने जिस स्थान पर शाही सेना को युद्ध के लिए खड़ा किया था, वह स्थल मैदान होते हुए भी युद्ध-विद्या की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त था। मैदान काफ़ी चौड़ा न था, सारी धरती ऊँची-नीची थी, दोनों ओर खाइयाँ थीं और कहीं कहीं कुछ दलदल भी। "ऐसा प्रतीत होता था कि जसवन्तसिंह की सेना एक टापू पर स्थित घेरे का सामना करने को तत्पर थी।"[८३]

अपनी सेना की व्यूह-रचना करने में जसवन्तसिंह को कई एक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सारे मुसलमान सवार और सैनिक प्रधानतया क़ासिम ख़ाँ की कमान में थे। हिन्दुओं में भी अलग-अलग राजपूत घरानों के सैनिक प्रायः अपने वंश-नायक की ही

---

[८१] आ० ना०, पृ० ५८, ६४; ज़फ़र०, पृ० २७-२८; कम्बू०, ३, पृ० २८६; ईश्वर०, प० १६ अ, २० अ; मासूम०, प० ४६ ब-४७ ब; औरंग०, १-२, पृ० ३५०-३५१।

[८२] आ० ना०, पृ० ६४; औरंग०, १-२, पृ० ३५६। रासो० (पृ० १२५) के अनुसार युद्ध दिन के मध्याह्न में प्रारम्भ हुआ, किन्तु यह ठीक नहीं है। आ० ना० का कथन अधिक विश्वसनीय है।

[८३] कम्बू०, ३, पृ० २८६; फ़ैयाज़० पृ० ५६०।

ज़फ़र० (पृ० २८, ३०) के अनुसार जसवन्तसिंह ने अपनी सेना के सामने कोई २०० गज तक ख़ूब पानी छिड़कवाया था, जिससे वहाँ सब दूर कीचड़ हो गया। जसवन्तसिंह का ख़याल था कि इस कीचड़ के कारण शत्रुओं के आक्रमण का वेग कम हो जावेगा। औरंग०, १-२, पृ० ३५६-३५७।

अधीनता में लड़ते थे, एवं राजपूत सैनिकों के विभिन्न दलों को जमाने में इस बात का भी पूरा-पूरा विचार रखना पड़ता था। अतएव जसवन्तसिंह ने हरोल में एक ओर क़ासिम ख़ाँ को मुसलमान सैनिकों के साथ नियुक्त किया। हरोल में ही दूसरी ओर मुकुन्दसिंह हाड़ा के नेतृत्व में सारे हाड़ा सैनिक तथा कोटा की सेना नियुक्त की गई। दयालदास झाला, सुजानसिंह सिसोदिया और अर्जुनसिंह गौड़ भी अपने सैनिकों को लेकर मुकुन्दसिंह हाड़ा के साथ ही थे। सुजानसिंह बुन्देला और अमरसिंह चन्द्रावत भी अपने-अपने सैनिकों के साथ इसी हरोल में थे। इफ़्तिख़ार ख़ाँ और उसके मुसलमान सैनिक हरोल के बाएँ तरफ़ थे, तथा रायसिंह सिसोदिया अपने सैनिकों के साथ हरोल की दाहिनी ओर डटा हुआ था। हरोल के पीछे बीच में जसवन्त सिंह ने रतनसिंह और उसके सैनिकों को रखा और उसके बाद वह स्वयं अपने राठौड़ वीरों के साथ खड़ा था। शाही डेरों और सामान की रक्षा का भार देवीसिंह बुन्देला, मालोजी एवं परसोजी को सौंपा गया था।[८४]

तोपों की गड़गड़ाहट और बन्दूक़ों के चलने के साथ ही युद्ध प्रारम्भ हुआ। दोनों ओर से सेनाएँ धीरे धीरे बढ़ने लगीं। फिर तो एकबारगी नक़्क़ारे बजने लगे और दोनों सेनाएँ भिड़ गईं। राजपूत सवार एक ही स्थान पर एकत्रित थे एवं शत्रु की इस गोलाबारी से उनमें से बहुत से मारे जाने लगे। युद्ध-क्षेत्र का स्थान खुला हुआ न होने के कारण उन्हें पूरी-पूरी स्वच्छन्दता न प्राप्त थी। इस तरह शत्रुओं की गोलियों का शिकार होते रहना राजपूत सेनानायकों को

---

[८४] आ० ना०, पृ० ६४; ज़फ़र०, पृ० २८; ईश्वर०, प० २० अ; रासो०, पृ० १२२; औरंग०, १-२, पृ० ३५२-३, ३५८-३५९।

रुचिकर न हुआ, एवं उन्होंनें शत्रु की तोपों पर हमला करने का निश्चय किया। "राम ! राम !" की जयध्वनि करते हुए मुकुन्दसिंह हाड़ा ने अपने भाइयों और हाड़ा वीरों को लेकर शत्रुओं की ओर घोड़े दौड़ा दिए । दयालदास झाला, अर्जुन गौड़, सुजानसिंह सिसोदिया एवं उनके साथी कई एक राजपूत सेनानायकों ने भी अपने सवारों के साथ मुकुन्दसिंह का साथ दिया। किन्तु इस समय रतनसिंह इस हमले में न था; वह जसवन्तसिंह के साथ ही बना रहा और वहीं शत्रुओं से लड़ता रहा।[८]

शत्रुओं की तोपें चल रही थीं, किन्तु मुकुन्दसिंह हाड़ा और उसके साथियों ने उनका कुछ भी विचार नहीं किया। राजपूत सवार तोप के गोलों की मार से निरन्तर मरते जा रहे थे, फिर भी वे बढ़ते ही गए। शाहज़ादों की सेना में तोपख़ाने का सरदार मुर्शिद कुली ख़ाँ मारा गया, तोपचियों के छक्के छूट गए, और उन्हें हरा कर तोपों की पंक्ति में होते हुए राजपूत सवार शत्रुओं की सेना में हरोल के सामने के दल पर टूट पड़े। इस हमले को रोकने के प्रयत्न में इस दल का सेनानायक ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ मारा गया, किन्तु राजपूतों का आक्रमण किसी भी प्रकार नहीं रोका जा सका । आगे बढ़ते हुए वे हरोल में ही जा घुसे। यहाँ औरंगज़ेब के चुने हुए योद्धा एकत्रित थे। बड़ी घमासान लड़ाई हुई। तलवारें चलने लगीं; योद्धाओं के रुधिर से सारी ही धरती लाल चुनड़ी सी रंग गई। औरंगज़ेब ने देखा कि इस हमले की सफलता या विफलता पर ही युद्ध का नतीजा

---

[८] **आ० ना० (पृ० ६४) के अनुसार इस हमले में रतनसिंह भी गया था; किन्तु रासो० (पृ० १२६) में उसके जाने का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इस प्रश्न पर रासो० का कथन अधिक विश्वसनीय है।**

निर्भर है, एवं वह अपने चुने हुए साथियों को लेकर इन आक्रमण-कारियों के दल के पीछे जा पहुँचा। जसवन्तसिंह ने अपने इन विजयी सफल राजपूत सवारों की सहायता करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। औरंगज़ेब ने तो अब उस सम्भावना को ही निर्मूल कर दिया। ये राजपूत वीर चारों ओर से घिर गए। उनकी संख्या निरन्तर घटती जा रही थी, और उन पर चारों ओर से हमले हो रहे थे। राजपूत सवारों के हमले का ज़ोर कम हो गया, और ये घिरे हुए राजपूत योद्धा अब घायल शेर की तरह दुश्मनों पर टूट पड़े। मुकुन्दसिंह हाड़ा की आँख में तीर लगा, जिससे वह मर कर गिर पड़ा। उसका भाई किशोरसिंह हाड़ा बुरी तरह घायल होकर गिरा। सुजानसिंह सिसोदिया, अर्जुनसिंह गौड़, दयालदास झाला और अन्य सारे राजपूत सेनानायक लड़ते हुए एक-एक कर मारे गए।[८६] इस प्रकार राजपूतों के इस प्रलयंकारी आक्रमण का अन्त हुआ।

अब तक दोनों सेनाएँ सब दूर उलझ चुकी थीं और चारों ओर मारकाट मची हुई थी। औरंगज़ेब के तोपची पुनः अपनी तोपों पर आ डटे थे और शत्रु की तोपें फिर जसवन्तसिंह एवं उनके सैनिकों पर गोले उगल रही थीं। रतनसिंह और उसके सेनानायक

---

[८६] आ० ना०, पृ० ६४; ईश्वर०, प० २० अ; ज़फ़र०, पृ० ३०-३१; कम्बू०, ३, पृ० २८६-७; औरंग०, १-२, पृ० ३६०-३६३; रासो०, पृ० १२६-१२७।

आ० ना० के अनुसार रतनसिंह भी मुकुन्दसिंह हाड़ा आदि अन्य आक्रमण-कारी सेनानायकों के साथ ही इसी समय मारा गया। रासो० एवं वचनिका० (पृ० ४६-४७) के अनुसार रतनसिंह युद्ध के अन्त में ही मारा गया था। इस प्रश्न पर वचनिका० एवं रासो० के कथन अधिक विश्वसनीय हैं।

भी वीरता के साथ लड़ रहे थे। परन्तु मुकुन्दसिंह हाड़ा आदि आक्रमणकारियों के मारे जाने के बाद जब औरंगज़ेब की सेना का विजयी हरोल शाही सेना की ओर बढ़ा, तब तो शाही सेना में यत्र-तत्र भगदड़ मचने लगी। रायसिंह सिसोदिया, सुजानसिंह बुन्देला और अमरसिंह चन्द्रावत अपने सैनिकों के साथ युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर भाग खड़े हुए, जिससे शाही सेना के दाहिने पक्ष पर शत्रुओं का सामना करनेवाला कोई भी न रहा। उधर मुराद ने बहुत से सैनिकों के साथ शाही सेना के पड़ाव पर हमला किया। देवीसिंह बुन्देला तो मुराद के साथ हो गया और दोनों मरहठे सेनानायक भाग खड़े हुए। वहाँ से मुराद सीधा युद्ध-क्षेत्र को लौटा, और शाही सेना के बाएँ पहलू पर टूट पड़ा। इस पहलू पर इफ़्तिख़ार ख़ाँ शाही सेनानायक था। मुराद के इस हमले का उसने साहसपूर्वक सामना किया, किन्तु अन्त में वह लड़ता हुआ मारा गया और शाही सेना का यह पहलू भी सुरक्षित नहीं रहा।[८७]

युद्ध-क्षेत्र के मध्य में जसवन्तसिंह अपने वीर राठौड़ योद्धाओं के साथ डटा हुआ पूर्ण उत्साह के साथ लड़ रहा था। उसके सामने कुछ ही आगे रतनसिंह राठौड़ भी अपने सेनानायकों तथा वीर साथियों के साथ शत्रुओं का संहार कर उन्हें पीछे हटा रहा था। जसवन्तसिंह को इस युद्ध में दो घाव भी लगे, उसका एक पैर तीर लगने से काफ़ी ज़ख़्मी हो गया, फिर भी वह पूरे उत्साह के साथ अपने सैनिकों को लड़ने के लिए प्रेरित कर रहा था। किन्तु अब युद्ध की परिस्थिति बदलने लगी थी। शाही सेना के हरोल वाले सारे

---

[८७] आ० ना०, पृ० ६४; ईश्वर०, प० २० अ; रासो०, पृ० १२६; औरंग०, १-२, पृ० ३६४।

राजपूत मर मिटे थे। हरोल के दूसरे भाग ने, जो कासिम खाँ के सेनापतित्व में था, अब तक युद्ध में विशेष भाग नहीं लिया था; और अब औरंगज़ेब को ससैन्य आक्रमण के लिए अपनी ओर आगे बढ़ते देख कर कासिम खाँ अपने सैनिकों के साथ युद्ध-क्षेत्र से भागने के लिए उतारू हो रहा था। सारी शाही सेना में घबराहट फैलने लगी, जिससे खलबली मची हुई थी।

ऐसी परिस्थिति में एक राजपूत सेनापति के लिए यही रास्ता खुला था कि वह प्राणों का मोह छोड़ कर शत्रुओं के घने समूह पर टूट पड़े और वीरतापूर्वक लड़ता हुआ लाशों के ढेर पर कट मरे। और जसवन्तसिंह यही करना भी चाहता था। शाही सेना की हार अब स्पष्टतया देख पड़ने लगी थी। और जसवन्तसिंह एवं उसके वीर साहसी सैनिकों पर आक्रमण करने के लिए सामने से औरंगज़ेब, बाँई तरफ से मुराद और दाहिनी ओर से सफ़शिकन ससैन्य तेज़ी के साथ आगे बढ़ रहे थे। इस युद्ध का अब एक ही परिणाम हो सकता था; जसवन्तसिंह के लिए विजयी होना अब असम्भव था, किन्तु अब भी वह वीरों को प्रिय रण-क्षेत्र पर एक योद्धा की मृत्यु को अपना सकता था। जसवन्तसिंह चाहता था कि वह अपने साथी सवारों के साथ घोड़े दौड़ा कर आगे बढ़ते हुए शत्रु-दलों से भिड़ जावे और लड़ता हुआ खेत रहे। किन्तु उसके राठौड़ वीर साथी और सेनानायक सोच रहे थे कि 'मुग़ल शाहज़ादे एक दूसरे के रुधिर के प्यासे होकर आपस में भले ही कट मरें, किन्तु राठौड़ वंश का सिरमौर तथा जोधपुर राज्य की सारी आशाओं का एकमात्र केन्द्र उन शाहज़ादों के इसी आपसी कलह में क्यों व्यर्थ जान गँवाए'। राठौड़ वीर रिणमल जोधा ने इन राजपूत सेनानायकों को पुकार कहा—"किसी भी प्रकार से हो राजा (जसवन्तसिंह) को बचाना चाहिए। हम तो युद्ध

में शत्रु का सामना करते हुए कट मरें, किन्तु 'ओछी वाढ़ो, जसराज काढ़ो'। जसवन्तसिंह को युद्ध-क्षेत्र से ले जाओ।" इस समय रतनसिंह ने भी जसवन्तसिंह को कहा सुना, एवं अन्त में राठौड़ वीर आसकरण और महेशदास सूरजमलोत ने जसवन्तसिंह के घोड़े की बागें पकड़ लीं और उसे खींच कर युद्ध-क्षेत्र से बाहर ले चले। इस प्रकार युद्ध-क्षेत्र छोड़ते समय जसवन्तसिंह ने युद्ध-क्षेत्र में लड़ती हुई बाक़ी रही शाही सेना का सेनापतित्व रतनसिंह को सौंपा।[८८]

अपने इने-गिने साथियों तथा कुछ सैनिकों के साथ जसवन्तसिंह तो जोधपुर की ओर चला, और यहाँ धरमत के युद्ध-क्षेत्र में रतनसिंह राठौड़ बाकी बची शाही सेना के साथ अपने जीवन का अन्तिम युद्ध करने को शाहज़ादों की आगे बढ़ती हुई शत्रु-सेनाओं की ओर बढ़ा। शाही सेना बहुत कुछ कट-मरी थी, कुछ युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर भाग गई थी। अब रतनसिंह के साथ रह गए थे मुट्ठी भर सेनानायक और कुछ सैनिक। उसके निजी सेनानायकों और सैनिकों के अतिरिक्त जोधपुर की सेना के भी कुछ वीर सेनानियों ने इस समय रतनसिंह का साथ दिया। जसवन्तसिंह से प्राप्त शाही सेनापति के सारे सम्मान चिह्नों को साथ लेकर रतनसिंह ने शत्रुओं का सामना किया।[८९]

---

[८८] आ० ना०, पृ० ६४; जफ़र०, पृ० ३०-३१; ईश्वर०, प० २०-अ; फ़ैयाज़०, पृ० ५६०; कम्बू०, ३, पृ० २८७; बरनियर०, पृ० ३६; मनुची०, १, पृ० २५६; वचनिका०, पृ० ४६-४७; रासो०, पृ० १३३; ख्यात०, १, पृ० २०७; औरंग०, १-२, पृ० ३६४-३६६; मारवाड़०, १, पृ० २२२-३।

[८९] रासो०, पृ० १३३; वचनिका०, पृ० ४७; गुरूजी०।

फ़ारसी आधार-ग्रन्थों एवं प्रधानतया उन्हीं के आधार पर लिखित औरंग०, (१-२) में इस घटना का कोई भी उल्लेख नहीं है।

युद्ध समाप्त-प्राय था, और रतनसिंह का यह युद्ध बुझते हुए दीपक की अन्तिम ज्योति थी। रतनसिंह का भाई फतेहसिंह, रतनसिंह का द्वितीय पुत्र रायसिंह एवं सांचोरा चौहान वीर अमरदास तथा भगवानदास रतनसिंह के साथ ही लगे हुए थे। जसराज बारहठ अब भी राठौड़ सेनानायक एवं उसके राजपूत सैनिकों को लड़ मरने के लिए उत्साहित कर रहा था। प्राणों का मोह छोड़ कर रतनसिंह अलौकिक वीरता तथा अद्वितीय साहस के साथ शत्रुओं पर टूट पड़ा। रतनसिंह के कई घोड़े बारी-बारी से घायल हो कर गिरे, परन्तु हर बार वह किसी दूसरे घोड़े पर सवार होकर पुनः युद्ध में जुट गया। अब एक-एक कर उसके वीर साथी कट-कट कर गिरने लगे। फतेहसिंह मारा गया, भगवानदास और अमरदास घायल होकर गिर पड़े। रायसिंह भी घायल होकर गिरा, किन्तु उसे ज्यादा घाव नहीं लगे थे एवं उसे तत्काल ही रण-क्षेत्र से उठाकर ले गए। जसराज बारहठ भी कट मरा। फिर भी रतनसिंह लड़ता ही रहा। अन्त में घावों से जर्जरित होकर रतनसिंह भी गिर पड़ा। युद्ध का अन्त हो गया। शाही सेना पहिले ही तितर-बितर हो चुकी थी। रतनसिंह और उसके साथियों के मरते ही कोई विरोध नहीं रह गया। औरंगज़ेब और मुराद ने विजय के नक़्क़ारे बजाए, एवं औरंगज़ेब ने आज्ञा दी कि इस विजय के स्मारक-स्वरूप इस युद्ध-क्षेत्र पर फ़तेहाबाद नाम का एक नया कसबा बसाया जावे, तथा वहाँ एक मसजिद और एक सराय बना कर उनके आसपास बाग़ लगाया जावे। इस प्रकार धरमत गाँव के पास ही वर्तमान फ़तेहाबाद कसबे की नींव पड़ी।[१०]

---

[१०] **वचनिका०, पृ० ४८-७४; रासो०, पृ० १३४-१३६। इन दोनों में वचनिका० में दिया हुआ विवरण अधिक प्रामाणिक है।**

यों धरमत के युद्ध में वीरतापूर्वक लड़ता हुआ रतनसिंह खेत रहा। इस युद्ध में उसे छब्बीस तीर लगे थे और सारे शरीर पर तलवार के अस्सी घाव भी। इन्हीं से जर्जरित और लोहूलुहान होकर वह अचेत धरती पर गिरा। कहा जाता है कि सांचोरा चौहान वीर अमरदास और भगवानदास भी रतनसिंह के पास ही घायल पड़े थे। तीनों के शरीर से बहुत रुधिर बह रहा था; ये रुधिर धाराएँ बह कर एक ही ओर जा रही थीं जहाँ उनके आपस में मिल जाने की पूरी पूरी-सम्भावना थी। विभिन्न वंशीय होने के कारण ये दोनों चौहान वीर चाहते थे कि उनका रुधिर रतनसिंह के रक्त के साथ न मिलने पावे, एवं घायल पड़े-पड़े दोनों चौहान वीर उन रुधिर धाराओं के बीच धूलि की पालि बनाने लगे। कुछ होश आने पर मरणासन्न रतनसिंह ने उनके इस प्रयत्न को देखा और कहा––"क्यों पालि बाँधते हो? अपना रुधिर मिलने दो। आज इस युद्ध-क्षेत्र पर तुम्हारा और मेरा रुधिर मिल कर एक हो गया। भविष्य में तुम्हारे और मेरे वंशज भाई-भाई के समान रहेंगे तथा उनके आपस में कभी भी शादी-सम्वन्ध नहीं होंगे। और जो कोई इस रूढ़ि का उल्लंघन करेंगे, उनका वंश कभी भी नहीं चलेगा।" मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए रतनसिंह के उक्त वचनों का पालन आज भी उसके तथा दोनों चौहान वीरों के वंशज करते हैं।

फारसी आधार-ग्रन्थों में रतनसिंह के इस अन्तिम युद्ध का कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता है। आ० ना०, पृ० ६४; जफ़र०, पृ० ३१-३२; ईश्वर०, प० २४ अ; कम्बू०, ३, पृ० २८७। इन्हीं अस्पष्ट उल्लेखों के ही आधार पर औरंग० (१-२, पृ० ३६६) में जसवन्तसिंह के युद्ध-क्षेत्र छोड़ते समय शाही सेना के कुछ बचे-खुचे सैनिक दलों के विरोध का उल्लेख है। सम्भव है ये अस्पष्ट उल्लेख रतनसिंह के इसी युद्ध के प्रति उपेक्षापूर्ण संकेत हों। औरंग०, १-२, पृ० ३६९-३७०।

उस वीर के वे अन्तिम शब्द अब तक मिथ्या प्रमाणित नहीं हुए।[९१]

शाही सेना के हजारों वीर मारे गए और उनसे भी अधिक घायल हुए। रतनसिंह के प्रायः सारे महत्वपूर्ण सेनानायक खेत रहे और उसका दूसरा पुत्र रायसिंह घायल हुआ। सेनानायकों के अतिरिक्त रतनसिंह के दल में से कोई पचास राजपूत और चारण भी मारे गए।[९२] रतनसिंह का निजी झण्डा लेकर उसके सैनिक दल का नेतृत्व करनेवाला वीर परशुराम ओझा भी इसी युद्ध में खेत रहा।[९३] रतनसिंह के दल के कुल कितने व्यक्ति घायल हुए इसका कोई ब्यौरा प्राप्त नहीं

---

[९१] गुरूजी०; रतन०, पृ० ४८-४६; रतलाम०, पृ० ७; प्राचीन०, ३, पृ० ३६३-४।

अमरदास के वंशज रतनसिंह के ज्येष्ठ पुत्र रामसिंह के वंशजों के साथ रहे, और केशवदास के साथ ही वे भी रतलाम छोड़कर सीतामऊ चले आए। सीतामऊ राज्य के अन्तर्गत दोपाखेड़ा, महुवा, आदि ठिकाने आज भी अमरदास के ही वंशजों के अधिकार में हैं।

भगवानदास के वंशज भी पहिले तो रामसिंह और उसके पुत्रों के साथ रहे, किन्तु रतलाम का परगना केशवदास से छूटने पर, उन्होंने केशवदास को छोड़ दिया, और वे रतनसिंह के पाँचवें पुत्र छत्रसाल के साथ हो गए। ईसा की १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब छत्रसाल को रतलाम का परगना नए सिरे से मिला और इस प्रकार वर्तमान द्वितीय रतलाम राज्य की स्थापना हुई, तब छत्रसाल ने भगवानदास के इस वंशज को नई जागीर दी। रतलाम राज्य के अन्तर्गत पंचेड़ ठिकाना आज भी भगवानदास के इन्हीं वंशजों के अधिकार में है।

[९२] रतनसिंह के दल में से मारे गए वीरों की सूचियाँ ख्यात० (१, पृ० २०७, २२३) में दी हुई हैं जो आगे 'परिशिष्ट ४' में उद्धृत की गई हैं।

[९३] रासो०, पृ० १०३, १३२; गुरूजी०। इस परशुराम ओझा के वंशज आज भी सीतामऊ राजघराने के पूज्य नेगी हैं, और राजकीय जुलूस के अवसर पर सीतामऊ राज्य का झंडा लेकर जुलूस का नेतृत्त्व करते हैं।

है। केवल रतनसिंह के निजी नक़्क़ारा बजाने वाले के घायल होने का उल्लेख मिलता है। इस युद्ध में उसका दाहिना हाथ कट गया था, तथापि वह अपने बाएँ हाथ से बाईं तरफ का नक़्क़ारा लगातार बजाता ही रहा। उसी दिन से रतनसिंह के वंशजों द्वारा स्थापित राज्यों में केवल बायाँ नक़्क़ारा ही बजाया जाता है।[९४]

युद्ध समाप्त होने के कुछ समय बाद रणक्षेत्र में ही रतनसिंह की मृत्यु हो गई। यत्र-तत्र बिखरे हुए तीर और भालों को एकत्रित कर वीरोचित चिता रची जाकर युद्ध-क्षेत्र में जहाँ रतनसिंह धरती पर गिरा था, वहीं उसकी दाह-क्रिया की गई। उसकी अस्थियों और भस्म को उज्जैन के पुण्य तीर्थ पर क्षिप्रा में बहा दिया, एवं रतनसिंह के इस अपूर्व आत्मत्याग की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए रतनसिंह के उत्तराधिकारी रामसिंह ने रतनसिंह के दाहस्थान पर एक पूजनीय स्मारक—एक चौंतरा बनवा दिया। समय, आँधी और पानी की मार ने इस स्मारक को बहुत कुछ तोड़-फोड़ डाला था, एवं रतनसिंह की मृत्यु के पूरे ढाई सौ वर्ष बाद रतनसिंह के वंशजों ने उसी चौंतरे के स्थान पर श्वेत संगमरमर की एक नई सुन्दर भव्य छतरी बनवाई।[९५]

---

[९४] राणी०। अन्य ख्यातों और पुरानी पोथियों में भी यही विवरण मिलता है।

'पंचेड़ ठिकाने के इतिहास' में इसी बात का दूसरा ही कारण बताया है। रतनसिंह के 'ख़ास नक़्क़ारे की मादा (दाहिनी तरफ़ का नक़्क़ारा) गिर गई और नक़्क़ारा निकाम हो गया, जिससे अब तक मादा नहीं बजाते, केवल नर मात्र (बाएँ तरफ़ का नक़्क़ारा) ही बजाया जाता है।' (पृ० ७२)। किस आधार पर यह उल्लेख किया गया है, यह ज्ञात नहीं; किन्तु कोई विश्वसनीय ज्ञात ऐतिहासिक आधार-ग्रंथ इस कथन का समर्थन नहीं करते हैं।

[९५] यह नई छतरी बनवाने के आयोजन में सैलाना का स्वर्गीय राजा
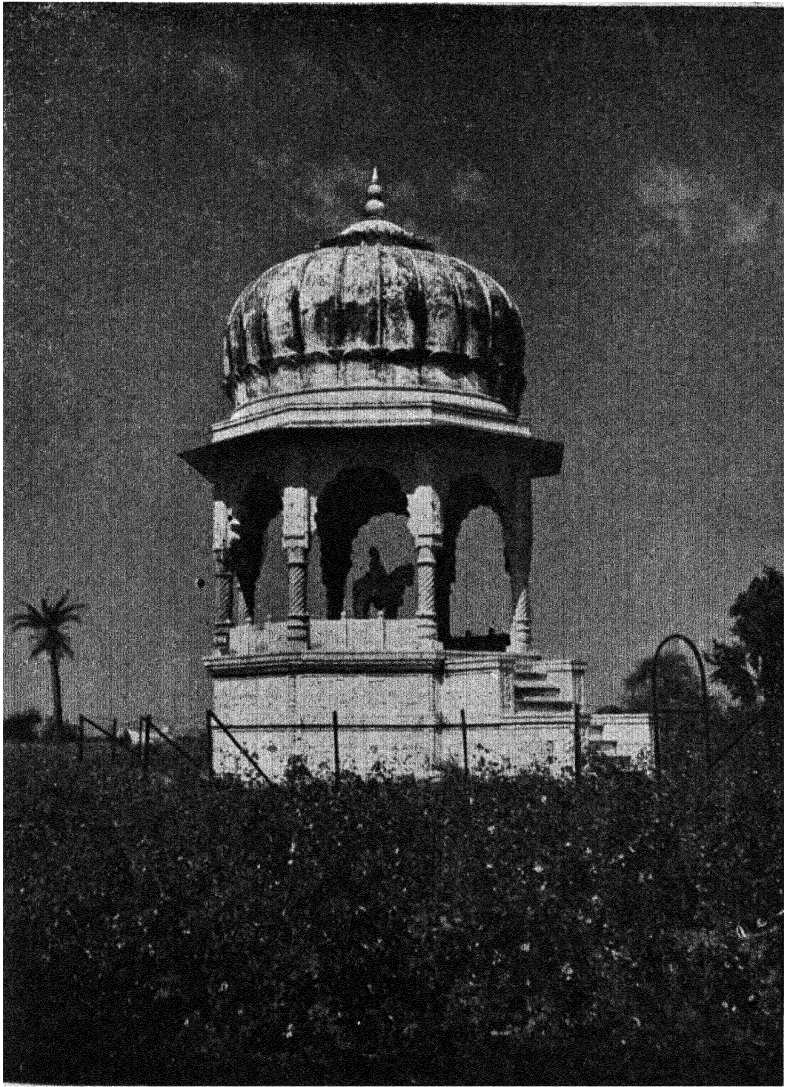
रतनसिंह की छत्री — धरमत के युद्ध-क्षेत्र में

इस युद्ध में मारे जाने वाले अन्य सेनानायकों के समान रतनसिंह के भाई फतेहसिंह[९९] तथा उसके दूसरे वीर साथियों की भी दाह-क्रिया या

जसवन्तसिंह अग्रणी हुआ। उसी की देख-रेख में यह छतरी बनवाई गई और इसके निर्माण के व्यय का भार वर्तमान रतलाम, सीतामऊ एवं सैलाना राज्यों ने उठाया। इस छतरी की देख-रेख, उसकी सफाई तथा पूजा के लिए तीनों राज्यों की ओर से पूरा-पूरा प्रबन्ध है। रतलाम से फ़तेहाबाद जानेवाली रेलवे लाइन से यह छतरी देख पड़ती है। सर यदुनाथ के शब्दों में यह छतरी इस स्थान की सबसे महत्त्वपूर्ण तथा दर्शनीय वस्तु है। औरंग०, १-२, पृ० ३७१।

[९९] स्थानीय किम्वदन्ती के आधार पर गुरूजी० ने लिखा है कि फ़तेहसिंह की दाहक्रिया कोद में की गई थी, एवं उसी स्थान पर आज भी उसका स्मारक एक चौंतरा बना हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह कथन कहाँ तक सत्य हो सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

बदनावर परगने के अन्तर्गत, बदनावर से १२ मील दक्षिण में, यह कोद कस्बा स्थित है। रतनसिंह की मृत्यु के कोई सौ वर्ष बाद ही फतेहसिंह के दूसरे पुत्र हरीसिंह के वंशज ने यहाँ वर्तमान कोद ठिकाने की स्थापना की थी। फ़तेहाबाद के इस युद्ध के समय बदनावर परगने के साथ ही यह स्थान भी रतनसिंह की व्यक्तिगत जागीर में था। उस समय कोद का फतेहसिंह के साथ निजी तौर पर कोई विशेष सम्बन्ध नहीं हो सकता था।

रतनसिंह, मुकुन्दसिंह हाड़ा, अर्जुनसिंह गौड़, आदि बड़े-बड़े शाही मनसबदारों की दाह-क्रिया फ़तेहाबाद में ही हुई। उस समय फ़तेहसिंह जैसे डेढ़ सदी के मनसबदार के शव को दाह-क्रिया के लिए फ़तेहाबाद से पूरे ३४ मील दूर कोद के समान एक अज्ञात एवं पूर्णतया असम्बद्ध स्थान पर ले गए होंगे, यह सर्वथा एक अनहोनी बात जान पड़ती है। एवं उक्त किम्वदन्ती तथा गुरूजी का तत्सम्बन्धी कथन पूर्णतया अविश्वसनीय है। फ़तेहसिंह की दाह-क्रिया भी फ़तेहाबाद में युद्धक्षेत्र पर हुई होगी। अतएव कोद का वह चौंतरा फ़तेहसिंह की दाह-क्रिया-स्थान का स्मारक नहीं हो सकता है।

फ़तेहसिंह की मृत्यु के पूरे सौ साल से भी अधिक बाद, कोद ठिकाने की

तो युद्ध-क्षेत्र में ही की गई अथवा उन्हें पास ही गंभीर नदी के किनारे जला दिया। इस युद्ध में से बच-निकलने वाले सैनिक अपने-अपने घरों को लौट गए। घायल रायसिंह को रतलाम ले गए, जहाँ कुछ दिनों बाद वह ठीक हो गया।

मार्च, १६५८ ई० में उस दिन रतलाम से बिदा लेकर गया हुआ रतनसिंह अपनी राजधानी को वापस नहीं लौटा। गम्भीर नदी के तट पर अवन्तिका-क्षेत्र में वह खेत रहा। रतनसिंह का भौतिक शरीर पुनः पंचतत्वों में जा मिला। उसकी यशःकाय सारे भारत में व्याप्त हो गई। वहाँ से वापस आई केवल रतनसिंह के सिर की रक्तरंजित पाग। जालोर छोड़कर मई, १६५६ ई० में जब रतनसिंह अपने नए वतन रतलाम चला आया था, तब कुछ काल के लिए उसने अपनी स्त्रियों और छोटे बच्चों को जालोर ही रहने दिया। सन् १६५८ ई० के प्रारम्भ में रतनसिंह ने उन्हें रतलाम बुलवा भेजा था। जालोर से रवाना होकर वे अब तक रतलाम नहीं पहुँच पाए थे। एवं सांडनी-सवार उस पाग को लेकर रतनसिंह की रानियों के पास उसे पहुँचाने के लिए रवाना हुए।

रतनसिंह की पहली रानी बेदला के चौहान संग्रामसिंह की पौत्री हररूप दे कुंअर थी।[९७] रतनसिंह के उत्तराधिकारी ज्येष्ठ

स्थापना के अनन्तर ही, फ़तेहसिंह के वंशजों ने अपने उक्त वीर पूर्वज तथा उसके इस युद्ध में मारे जाने की स्मृति में फ़तेहसिंह के स्मारक स्वरूप इस चौंतरे को बनवाया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

[९७] गुरूजी०; रतन०, पृ० ५२।

राणी० में इस रानी का नाम बदन कुंवर लिखा है। उन दिनों कितने ही राजपूत घरानों में यह प्रथा प्रचलित थी कि कभी-कभी विवाह के बाद ससुराल में बधू का नाम बदल दिया जाता था। यही कारण है कि पुरानी पोथियों और ख्यातों में दिये गए रानियों के नामों में कई बार ऐसी विभिन्नता पाई जाती है।

पुत्र रामसिंह को इसी रानी ने जन्म दिया था। रतनसिंह के दूसरे वीर पुत्र रायसिंह की माता कछवाही राजावति गुणरूप दे कुँअर थी। आम्बेर के सुप्रसिद्ध राजा मानसिंह के छोटे भाई माधोसिंह के पौत्र प्रेमसिंह के दूसरे लड़के मोहकमसिंह की यह पुत्री थी।[९८] तीसरी रानी देवल्या की सिसोदनी मनोहर कुँअर, रतनसिंह के तीसरे पुत्र नाहरसिंह की माता थी।[९९] चौथी रानी कछवाही राजावति अतिरूप दे कुँअर थी। आम्बेर के राजा मानसिंह के पौत्र पुरुषोत्तमसिंह की यह पुत्री थी।[१००] इस रानी के कोई भी सन्तान नहीं हुई। रतनसिंह की पाँचवीं रानी कछवाही शेखावति सुखरूप दे कुँअर थी। रायसल शेखावत के पौत्र तोडरमल के लड़के पुरुषोत्तम की यह पुत्री थी।[१०१] इस रानी से रतनसिंह के पाँच

बड़वों की ख्यातों में इस रानी के पिता का नाम खेमकरण या खुमानसिंह दिया है।

[९८] राणी०; वचनिका०, पृ० ७९; नैणसी०, २, पृ० १६।

गुरूजी के आधार पर रतन० (पृ० ५२) में इस रानी को उणियारा की नरूकी होना बताया है, जो भ्रमपूर्ण है।

[९९] राणी०; गुरूजी०; रतन०, पृ० ५२।

[१००] वचनिका०, पृ० ७९; नैणसी०, २, पृ० १५। गुरूजी० के आधार पर रतन० (पृ० ५२) में इस रानी का नाम सुखरूप कुंवर लिखा है। उसी आधार पर रतन० में इस रानी के पिता का नाम मोहकमसिंह लिखा है, जो ठीक नहीं; दुर्जनसिंह के किसी भी पुत्र का नाम मोहकमसिंह नहीं था। नैणसी०, २, पृ० १५।

राणी० में इस रानी को उणियारा की नरूकी होना बताया है, जो भ्रमपूर्ण है।

[१०१] वचनिका०, पृ० ७९; नैणसी०, २, पृ० ३५-३६।

गुरूजी० के आधार पर रतन०(पृ० ५२) में इस रानी का नाम अतिरूप दे कुंवर दिया है। गुरूजी० इस रानी को अमरसर की होना बताते हैं, परन्तु राणी० में उसे मनोहरपुर की होना लिखा है।

पुत्र हुए—करण, छत्रसाल, अखेराज, पृथ्वीराज और जैतसिंह। इसी रानी से रतनसिंह के दो पुत्रियां, बने कुंअर और महा कुंअर भी हुईं।[१०२] छठवीं रानी सिरोही की रैणसुख दे कुंअर थी। वह सिरोही के राव लाखा के वंशज पृथ्वीराज देवड़ा के पुत्र चाँदा की लड़की थी।[१०३] उसके चार पुत्र हुए–किशनसिंह, सूरसिंह, धीरतसिंह और सकतसिंह।[१०४] कहीं २ इन छः रानियों के अतिरिक्त दो और रानियों का भी उल्लेख मिलता है।[१०५] रतनसिंह की चार उपपत्नियाँ भी थीं।[१०६] रतनसिंह की पाग के साथ सती होने वाली चार रानियों के अतिरिक्त दूसरी कोई रानियाँ उस समय जीवित थीं या नहीं, यह बात निश्चित रूपेण ज्ञात नहीं है।

रतनसिंह के कई पुत्रियाँ भी थीं। पहली पुत्री प्रताप कुंअर का विवाह जैसलमेर के रावल सबलसिंह के ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह के साथ हुआ

---

[१०२] गुरूजी०; राणी०; रतन०, पृ० ७२।

[१०३] वचनिका०, पृ० ७६; नैणसी०, १, पृ० १४५-६।

गुरूजी० के आधार पर रतन० (पृ० ५२) में इस रानी का नाम सुख दे कुंवर लिखा है। राणी० में इस रानी का नाम रतन कुंवर दिया है।

राणी० में इसे नोमाज की होना लिखा है।

[१०४] राणी०; गुरूजी०; रतन०, पृ० ५२।

[१०५] गुरूजी० के आधार पर रतन० (पृ० ५२) में भी रतनसिंह के सिर्फ़ छः रानियाँ होना लिखा है। राणी० में निम्नलिखित दो और रानियों के नाम दिए हैं:—

(१) देवड़ी सुखरूप दे कुंवर, नाहर खाँ के गांव मीसलपुर की;

(२) भट्याणी राजल दे कुंवर, गोपीनाथ की पुत्री।

[१०६] राणी०। गुरूजी० में इसका कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु वचनिका० (पृ० ८०) में तीन उपपत्नियों के भी सती होने का लिखा है।

था। अपने पिता की मृत्यु के बाद यह अमरसिंह जैसलमेर की गद्दी पर बैठा। दूसरी पुत्री कुशल कुँअर का विवाह बाँसवाड़े के रावल अजबसिंह के साथ हुआ था। तीसरी पुत्री मया कुँअर या महा कुँवर का विवाह शाहपुरे के राजा सुजानसिंह के ज्येष्ठ पुत्र राजा दौलतसिंह के साथ हुआ था।[१०७]

रतनसिंह की रुधिर से सनी हुई पाग एवं उसकी वीर-मृत्यु के समाचार लेकर सांडनी-सवार रतलाम से रवाना हुए। रतलाम से उत्तर-पश्चिमी दिशा में कोई २५ मील ही वे गए थे कि जालोर से रतलाम की ओर आता हुआ, रतनसिह की रानियों तथा अन्य कुटुम्बियों का दल उन्हें सामने मिला। रानियों का यह दल नीनोर-कोटड़ी नामक स्थान में पड़ाव डाले हुए था।[१०८] रानियों ने ज्यों ही रतनसिंह की मृत्यु का समाचार सुना, उन्होंने वहीं सती होनेका निश्चय किया। नीनोर में एक अच्छा तालाव है। उसी तालाव की पाल पर चिता रची गई और शनिवार, मई १५, १६५८ ई० (ज्येष्ठ विदि ९, १७१५ वि०) को नीनोर में रतनसिंह की चार रानियाँ और तीन उपपत्नियाँ सती हुईं। चार रानियाँ जो सती हुईं वे थीं—कछवाही राजावति गुणरूप दे कुँअर, कछवाही राजावति अतिरूप दे कुँअर, कछवाही शेखावति सुखरूप दे

---

[१०७] गुरुजी० और राणी० में यह विवरण पूरा-पूरा नहीं मिलता है। बड़वों की ख्यातों के आधार पर ही ये बातें लिखी गई हैं।

[१०८] रतलाम से पच्चीस मील उत्तर-पश्चिम में, एवं प्रतापगढ़ से कोई २४ मील दक्षिण में स्थित नीनोर नामक यह स्थान आजकल प्रतापगढ़ राज्य के अन्तर्गत है। बोलचाल में इसे प्रायः नीनोर-कोठड़ी भी कहते हैं। यह एक प्राचीन गाँव है। यहाँ पहिले बिसनगरे नागरों की अच्छी बस्ती थी।

प्रताप०, पृ० २६-२७।

कुंअर, और देवड़ी रैणसुख दे।[१०९] इन सतियों का स्मारक एक चौंतरा, आज भी नीनोर-कोठड़ी में विद्यमान है। वह स्मारक रतनसिंह के वंशजों के लिए एक पूजनीय स्थान है; किन्तु उन्हीं सतियों के आदेशानुसार रतनसिंह का कोई वंशज उस स्मारक एवं उस गाँव के आसपास एक निश्चित परिधि के अन्दर न तो निवास कर सकता है और न वहाँ खा पी सकता है। उन सतियों की पूजा-अर्चा के अनन्तर तत्काल ही उनका वहां से चल देना एक अत्यावश्यक तथा अनिवार्य बात है।[११०]

रतनसिंह युद्ध करता हुआ खेत रहा, तथा उसकी रानियाँ अपने प्रियतम के साथ दूसरे लोक में जा मिलने को सहर्ष चिता पर चढ़कर

---

[१०९] रतन० (पृ० ४६, ५२) का विवरण प्रधानतया वचनिका के ही आधार पर लिखा गया है। वचनिका०, पृ० ७६-८०।

रासो० (पृ० १४६) में दिया हुआ सतियों का विवरण बहुत ही संक्षिप्त एवं अपूर्ण है। उसमें केवल दो रानियों, राजावति और देवड़ी के सती होने का लिखा है। रासो-कार ने यह भी खुलासा नहीं किया कि कौनसी राजावति रानी सती हुई।

नीनोर-कोठड़ी में जो सात सतियाँ हुईं, उनके नामों की सूची पूरी करते समय राणी० और गुरुजी० में रतनसिंह की सारी रानियों के नाम दे दिए गए हैं। इन्हीं के आधार पर सीतामऊ० (पृ० ३) और रतलाम० (पृ० ७) में भी सात रानियों के सती होने का उल्लेख किया गया है।

सात सतियाँ हुईं अवश्य, परन्तु एक समकालीन एवं पूर्णतया विश्वसनीय लेखक के कथन के आधार पर यह बात निश्चितरूपेण कही जा सकती है कि ये सातों सतियाँ रानियाँ न थीं; उन में केवल चार ही रानियाँ थीं और बाक़ी तीन उपपत्नियाँ थीं। वचनिका० (पृ० ७६-८०) का कथन ही पूर्णतया विश्वसनीय है, एवं उसे ही स्वीकार किया गया।

[११०] गुरुजी०; राणी०।

सती हुईं। इस प्रकार सिर्फ दो वर्ष के बाद ही सद्यःस्थापित रतलाम राज्य के पहिले राजा का शासनकाल समाप्त हुआ। और रतनसिंह ने मर कर अमरत्व प्राप्त किया। अपने जीवन की आखिरी लड़ाई हार कर भी अन्त में वह जीत गया। उसके विजयी-विरोधी कट्टर औरंगज़ेब ने भी रतनसिंह की अद्वितीय वीरता, उसके अलौकिक साहस तथा अनन्य स्वामी-भक्ति के सामने नत-मस्तक होकर उसके वंशजों को जीवन भर अपनाया। अपनी नश्वर भौतिक देह को दाँव में हार कर भी रतनसिंह ने बदले में पाई अजर-अमर शाश्वत यशःकाय। जीवन भर की अनन्य साधना और निरन्तर खोज के बाद भी उसी के सफल अनुभवी पिता को रतनसिंह की सी गौरवपूर्ण मृत्यु तथा वीरोचित चिता प्राप्त न हुई। राठौड़ घराने के सिरमौर एवं रतनसिंह के प्रधान सेनापति जसवन्तसिंह को भी रतनसिंह के सौभाग्य पर ईर्ष्या हुई। काम-धेनु को प्रसन्न करके भी प्रतापी राजा दिलीप को जो गौरव प्राप्त नहीं हुआ, अजर-अमर देवता तक जिसके लिए सदैव तरसते रहे, वही अधिकार मृत रतनसिंह ने अनजाने पाया––उसके नाम से उसका वंश सुप्रसिद्ध हुआ। रतनोत कुल का प्रारम्भ रतनसिंह के बारह पुत्रों से हुआ।[१११]

---

[१११] रतनसिंह के इग्यारह छोटे पुत्रों की अलग-अलग क्रमबद्ध संक्षिप्त जीवनियों के लिए आगे देखो––'परिशिष्ट ५–रतनसिंह के अन्य इग्यारह पुत्रों का संक्षिप्त विवरण'।

परिशिष्ट–१

रतलाम आदि परगने मिलने सम्बन्धी प्रश्नों की विवेचना

रतनसिंह को रतलाम आदि परगने कब मिले और क्यों मिले? उसे कितने परगने मिले और उनकी आय कितनी थी? इन बातों का जो विवरण अध्याय ४-§३ के अन्तर्गत दिया गया है, वह अब तक प्रचलित एवं सर्वमान्य कथानक से बहुत कुछ भिन्न है। किन ऐतिहासिक आधारों पर किस प्रकार उपर्युक्त निर्णय किया गया, इसकी विस्तृत विवेचना आवश्यक है।

इन प्रश्नों को हल करने में निम्नलिखित ऐतिहासिक सामग्री उपयोगी है।

(१) कवि कुंभकर्ण कृत काव्य "रतन रासो"—रतनसिंह की इस काव्यबद्ध जीवनी में सन् संवतों का पूर्ण अभाव है, कई एक ऐतिहासिक घटनाओं का इसमें उल्लेख भी नहीं है। घटनाओं के विवरण में भी कवित्व और कल्पना की मात्रा अधिक तथा ऐतिहासिक तथ्य कम पाये जाते हैं।

(२) मुहम्मद वारिस कृत "पादशाह-नामा"—शाही काग़ज़ात, अखबारात, वाक़यानवीसों के पत्र आदि के आधार पर शाहजहाँ के शासन काल के पिछले साढ़े इग्यारह वर्षों का क्रम-बद्ध, प्रामाणिक तथा शाही इतिहास है। जून २४, १६४७ ई० के बाद की सब महत्त्वपूर्ण घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण इस ग्रन्थ में मिलता

है. एवं शाही दरबार सम्बन्धी घटनाओं के लिए यह ग्रन्थ प्रधान आधार है।

(३) राजगुरु की पोथियाँ—इन पोथियों में प्राचीन कथानक, ख्यात या दंत-कथाओं के ही आधार पर मालवा के राठौड़ घरानों की महत्वपूर्ण घटनाओं का विवरण लिखा है। ये पोथियाँ कब लिखी गईं यह कहना कठिन है, परन्तु प्रायः ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण बहुत कुछ ठीक ही मिलता है। रतन० में रतलाम आदि परगने पाने का विवरण प्रधानतया इन्हीं पोथियों के आधार पर लिखा गया है। मान्य ऐतिहासिक तथ्यों, प्रमाणित रीति-रिवाजों या ज्ञात घटनाओं के आधार पर इन पोथियों में दिए गए विवरण या संवतों को यदा-कदा दुरुस्त करना आवश्यक होता है।

(४) जोधपुर राज्य की ख्यातें—महेशदास, रतनसिंह एवं उसके उत्तराधिकारी शाही मनसबदार थे, अतएव उनका जोधपुर राज्य से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रह गया था; तथापि जालोर परगना जोधपुर राज्य की सीमा पर है, एवं इस परगने का जोधपुर राज्य से अविच्छेद्य सम्बन्ध रहा है, अतएव जालोर परगने से सम्बद्ध इस प्रश्न पर जोधपुर की ख्यात से प्रकाश पड़ सकता है।

इस महत्वपूर्ण राज्य तथा वहाँ के राजघराने की अनेकानेक ख्यातें लिखी गईं। एक ख्यात तो ईसा की १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में महाराजा मानसिंह के समय में लिखी गई। इस ग्रन्थ की रचना में इस ख्यात का यथाशक्य उपयोग किया गया है (देखो संकेत "ख्यात०")। परन्तु यह ख्यात इस प्रश्न पर पूर्णतया मौन है।

जोधपुर राज्य के संग्रह में एक और ख्यात है जिसका उपयोग रेऊ ने अपने ग्रन्थ "मारवाड़ के इतिहास" में किया है। यह ख्यात

इस प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश डालती है, एवं इस मामले में प्रधान ऐतिहासिक आधार है।

(५) तत्कालीन सनदें, फ़ेहरिस्तें, आदि—रतनसिंह द्वारा दी गईं केवल दो ही सनदें अब तक प्राप्त हुई हैं। एक सनद मार्च १२, १६५० ई० को रतनसिंह ने जालोर में अपने राजव्यास को दी थी। दूसरी खारा गाँव की सनद अगस्त २०, १६५४ ई० को रतनसिंह ने सन्यासी माधो भारती को दी थी। जालोर छोड़ने का संवत् निश्चित करने में ये सनदें सहायक हो सकती हैं।

पुनः रतनसिंह के छोड़ने पर जालोर परगना जोधपुर राज्य के अधिकार में आया। सन् १६६२-६३ ई० (सं० १७१९ वि०) में जोधपुर राज्य की ओर से जालोर परगने के गाँवों की एक फ़ेहरिस्त बनाई गई थी, जिसमें यथास्थान ख़ास २ गाँवोंका विशेष विवरण भी दिया गया है। जिस अरसे में महेशदास और रतनसिंह ने जालोर पर राज्य किया, तब उन्होंने कौन-कौन से गाँव किसे दिए तथा कौन से गाँव उन्होंने नए बसाए, इन बातों का उल्लेख उक्त फ़ेहरिस्त में हैं। इस फ़ेहरिस्त की एक प्रति जोधपुर राज्य के संग्रह में विद्यमान है। जालोर में कुछ पुरानी बहियाँ भी मिलती हैं, जिनमें रतनसिंह के जालोर पर शासन करने एवं उसके वहाँ के शासनकाल की अवधि का उल्लेख मिलता है। इन फ़ेहरिस्त एवं बहियों से आवश्यक उद्धरण रेऊ की सहायता से प्राप्त हुए हैं। इन उद्धरणों से रतनसिंह के जालोर में शासनकाल सम्बन्धी सन्-संबतों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। (देखो संकेत "फ़ेहरिस्त०")।

इस सारे मामले को पाँच विभिन्न प्रश्नों में विभक्त कर प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर प्रत्येक प्रश्न पर अब अलग-अलग विचार किया जावेगा।

(१) पहला प्रश्न—रतलाम आदि परगने कैसे मिले ?

इस प्रश्न के तीन ही उत्तर हो सकते हैं। या तो रतनसिंह के मनसब में वृद्धि पर ये नए परगने मिले हों, या विशेष कृपा कर शाहजहाँ ने ये परगने ख़ास तौर पर उसे दिए हों, या जालोर आदि परगनों के बदले में ये परगने रतनसिंह के अधिकार में आए।

रतनसिंह का मनसब केवल दो बार बढ़ा था, अगस्त ३१, १६४९ ई० और अगस्त १६, १६५७ ई० को। पहली बार मनसब बढ़ने के वाद भी रतनसिंह ने जालोर में ही सनदें और जागीरें प्रदान की थीं, और दूसरी बार मनसब बढ़ने से पहले ही रतनसिंह मालवा चला आया था, एवं यह बात निश्चितरूपेण कही जा सकती है कि रतलाम आदि परगने मनसब वृद्धि के समय उसे प्राप्त नहीं हुए।

और उसी प्रकार यह बात भी निश्चितरूप से कह सकते हैं कि शाहजहाँ ने इन बरसों में विशेष कृपा कर कोई परगने ख़ास तौर पर रतनसिंह को नहीं दिए। शाहजहाँ ने महेशदास को जब जालोर का परगना वतन (निवास-स्थान) के तौर पर दिया था तब पादशाहनामे में ख़ास तौर पर इस बात का उल्लेख किया गया था। इसके विपरीत वारिस० एवं अन्य समकालीन ऐतिहासिक फ़ारसी ग्रन्थों में रतलाम आदि परगनों के मिलने का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है। यही कारण था कि रतनसिंह की मृत्यु से कोई सौ वर्ष बाद जब "मासिर-उल्-उमरा" शीर्षक ग्रन्थ लिखा जाने लगा, तब उसमें भी रतनसिंह के रतलाम आदि परगने पाने का कोई उल्लेख नहीं किया गया।

अतएव यही अनुमान होता है कि रतलाम आदि परगने रतनसिंह को जालोर परगने के बदले में ही मिले थे। यह मामला केवल परगनों की

बदला-बदली का ही था, एवं शाही इतिहास-ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया जाना अनावश्यक समझा गया। वारिस० आदि ग्रन्थकारों की चुप्पी यों समझ में आती है। रतनरासो में भी केवल रतलाम आदि नए परगने मिलने का ही उल्लेख है; जालोर के प्रश्न पर कवि ने कोई भी प्रकाश नहीं डाला।

राजगुरू, राणीमंगा आदि की पोथियों में रतनसिंह को रतलाम आदि नए परगने मिलने पर उसके जालोर छोड़कर मालवा चले आने का विवरण मिलता है। रतनसिंह को ये नए परगने क्यों मिले? रतनसिंह ने जालोर परगना क्यों छोड़ा और उसके छोड़ने के बाद उस परगने का क्या हुआ? ये पोथियाँ इन प्रश्नों पर कोई भी प्रकाश नहीं डालती हैं। फ़ेहरिस्त० की बहियों में केवल यही लिखा है कि रतनसिंह ने सितम्बर २३, १६५५ ई० तक जालोर पर राज्य किया। रतनसिंह ने जालोर क्यों छोड़ी, इस प्रश्न का उत्तर उक्त बहियों में भी नहीं मिलता है।

जोधपुर राज्य की जिस ख्यात का उपयोग रेऊ ने किया है, उसमें इन सब प्रश्नों का पूरा २ उत्तर मिलता है। उस ख्यात में पृ० ८६ पर लिखा है :—

"सं० १७१२ वि० (चैत्रादि संवत के अनुसार १७१३ वि०) के जेठ-माह में राव रतन महेशदासोत के जालोर की आमदनी से पूरा नहीं पड़ता था, वहाँ कुछ भी उपजता नहीं था और वहाँ उसे खाने को भी पूरा नहीं मिलता था, इसलिए वह जालोर छोड़कर रतलाम की ओर चला गया। पादशाह सारी बातें जानता था। उसने विचार कर देखा कि जिस किसी भी जागीरदार को जालोर का परगना दिया गया उसे हमेशा कमी ही रही, वहाँ की आमदनी पूरी नहीं पड़ी। इसलिए पादशाह ने महाराजा (जोधपुर नरेश) को कहा—

'जालोर लो और मलारणा का परगना वापिस भेंट कर दो'। महाराजा ने अर्ज़ की—'वहां कुछ भी उपजता नहीं, वहाँ की प्रजा बहुत ही उपद्रवी है एवं वहाँ काफ़ी सैनिक रखने पड़ते है और यहाँ शाही दरबार में भी सैनिकों के साथ उपस्थित रहना पड़ता है।' परन्तु फिर भी पादशाह ने जालोर महाराजा के नाम पर लिख ही दी। तब तो महाराज ने मुंशी सुंदरदास जयमलोत को, जो तव रेवाड़ी में था, जालोर भेजा, और वहाँ मियाँ फ़रासत ने सुंदरदास से भी पहले जाकर जालोर पर अधिकार स्थापित किया।"

अतएव जोधपुर की ख्यात के उद्धरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जालोर परगने की आमदनी में रतनसिंह का काम न चला एवं उसने शाहजहाँ की सेवामें प्रार्थना कर अपने इस परगने को बदलवा लिया। जालोर वापस लेकर रतनसिंह को मालवा में रतलाम आदि परगने दिए। यह बदला-बदली प्रधानतया आर्थिक कारणों से ही की गई थी।

(२) दूसरा प्रश्न—रतलाम आदि परगने कब मिले?

रतलाम आदि परगने मिलने के अब तक कई एक सन्-संवत् दिए गए हैं। ख्यातों या दन्तकथाओं के ही आधार पर इन सन्-संवतों का उल्लेख किया गया है। 'तवारीख़-इ-माल्वा' में रतलाम की स्थापना सोमवार, जनवरी ८, १६४९ ई० (माघ सुदी ५, सं० १७०५ वि०) के दिन होना लिखा है। परन्तु उस दिन रतनसिंह लाहौर में क़न्धार पर पहली चढ़ाई में जाने की तैयारी कर रहा था। पुनः राजव्यास की सनद एवं फ़ेहरिस्त० के उल्लेखों के आधार पर यह बात निश्चितरूपेण कही जा सकती है कि सन् १६५१-२ ई० तक रतनसिंह ने जालोर परगना नहीं छोड़ा था।

गुरुजी की पोथी एवं ख्यातों के अनुसार रतनसिंह सं० १७०९ वि० (सन् १६५२-३ ई०) में मालवा में आया, पहिले पहल धराड़ (रतलाम से ७ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित एक क़स्बा) में रहा और बाद में माघ सुदी ५, सं० १७११ वि० (फ़रवरी १, १६५५ ई०) को अपनी राजधानी रतलाम की स्थापना की। ख्यातों के अनुसार उक्त दिन शनिवार था, परन्तु फ़रवरी १, १६५५ ई० को गुरुवार आता है (यह गणना स्वामी कन्नू पिल्ले कृत 'इंडियन एफ़ीमरीज' के ही अनुसार है)।

किन्तु अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों के आधार पर यह पहिले ही बताया जा चुका है कि सन् १६५२ ई० के प्रारम्भ से लेकर सन् १६५४ ई० के प्रारम्भ तक रतनसिंह लाहौर और क़न्धार की ओर ही रहा। पुनः सन् १६५४ ई० में भी सितम्बर ४ को वह शाही सेना के साथ चित्तौड़ भेजा गया था और जनवरी, १६५५ ई० के अन्त में वहाँ से लौटकर शाही सेना के साथ ही वह भी दिल्ली पहुँचा था। ऐसी हालत में पोथियों और ख्यातों में दिए गए उपर्युक्त विवरण, सन्-संवत् तथा तिथियाँ कहाँ तक विश्वसनीय है, यह बताना अनावश्यक प्रतीत होता है।

फ़ेहरिस्त० की बहियों में सिर्फ़ यही लिखा है कि रतनसिंह ने सितम्बर २३, १६५५ ई० तक जालोर पर राज्य किया। इस उद्धरण से यह बात निश्चितरूपेण कही जा सकती है कि उक्त तारीख से पहिले रतनसिंह जालोर पर ही राज्य कर रहा था।

जोधपुर की ख्यात का जो उद्धरण ऊपर दिया गया है, उसके अनुसार रतनसिंह सं० १७१३ वि० (चैत्रादि संवत) के ज्येष्ठ मास (अप्रेल २९ से मई २७, १६५६ ई०) में जालोर छोड़कर रतलाम चला गया। ख्यात के इस समय-निर्देश एवं बहियों के उपर्युक्त उल्लेख में कोई सात माह का फ़रक पड़ता है। मुग़ल काल

में जागीरों पर अधिकार किसी निश्चित साल की एक या दूसरी फ़सल के प्रारम्भ से ही दिया जाता था, और उससे पहिले की फ़सल की आमदनी का पूरा २ हिसाब हो चुकने के बाद ही जागीरदारों की बदला-बदली हो पाती थी। एवं सात माह का यह फ़रक केवल एक फ़सल का ही है। वहियों के अनुसार रतनसिंह ने सं० १७१२ वि० (सन् १६५५ ई०) की ख़रीफ़ (सियालू) फ़सल की, और ख्यात के अनुसार सं० १७१२ वि० (सन् १६५५-६ ई०) की रबी (उन्हालू) फ़सल की वसूली के बाद ही रतनसिंह जालोर से रवाना हुआ। अतएव अनुमान यही होता है कि रतनसिंह ने सितम्बर, १६५५ ई० के बाद एवं मई, १६५६ ई० से पहिले रतलाम आदि परगने मिलने पर ही जालोर छोड़ी थी। ख्यात में दिए गए इस मास और संवत् के ठीक होने की पुष्टि एक और ज़रिये से भी होती है।

गुरुजी की पोथियों में लिखा है कि 'रतनसिंह को जागीर में मिलने से पहिले रतलाम का परगना पृथ्वीराज राठौड़ नामक शाही मनसबदार के अधिकार में था। यह पृथ्वीराज राठौड़, बल्लू भारमलोत का पुत्र था; उसका मनसब तीन हज़ारी का था। सं० १७०३ वि० (सन् १६४६-७ ई०) में वह शाही सेना के साथ दक्षिण की चढ़ाई पर गया था; वहीं उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद शाहजहाँ ने रतलाम का परगना रतनसिंह को जागीर में दे दिया और पृथ्वीराज राठौड़ के पुत्र जगतसिंह को नोलाई (बड़-नगर) का परगना मिला, किन्तु जगतसिंह तो रतलाम का परगना चाहता था, एवं वह बहुत ही असन्तुष्ट हुआ।'

इस विवरण में जिस पृथ्वीराज राठौड़ का उल्लेख है वह शाह-जहाँ का सुप्रसिद्ध साथी और विश्वासपात्र सरदार पृथ्वीराज राठौड़ ही है। (ख्यात०, १, पृ० १६६; नैणसी०, २, पृ० ४०८)। पाद०

और वारिस० में यत्र-तत्र उसका उल्लेख मिलता है और मा० उ० में (१, पृं० ४२९-४३१) उसकी संक्षिप्त जीवनी दी है। पृथ्वीराज का मनसब दो हज़ारी ज़ात–दो हज़ार सवार का था। मनसब सम्बन्धी इस त्रुटि एवं मृत्यु के संवत् सम्बन्धी भूल को छोड़ते हुए गुरूजी० में दिया गया बाकी विवरण ठीक और विश्वसनीय ही है। दिसम्बर १६५५ ई० में पृथ्वीराज राठौड़ मालवा में था और वहीं से शायस्ता खाँ के साथ गोलकुण्डा पर चढ़ाई करने में औरंगज़ेब की मदद करने के लिए वह दक्षिण भेजा गया था (वारिस०, २, प० १०९ ब)। पृथ्वीराज राठौड़ इस चढ़ाई से लौटकर नहीं आया। औरंगज़ेब ने फ़रवरी ६, १६५६ ई० को गोलकुण्डा के क़िले का घेरा डाला, और शायस्ता ख़ाँ के साथ पृथ्वीराज राठौड़ भी फ़रवरी २१, १६५६ ई० को औरंगज़ेब की इस सेना में जा मिला (वारिस०, २, प० ११० अ, १११ ब)। इसके बाद पृथ्वीराज का कोई भी उल्लेख इतिहास-ग्रंथों में नहीं मिलता है। वारिस० (२, प० १२४ ब) और मा० उ० (१, पृ० ४३१) में पृथ्वीराज की मृत्यु के दिन या माह का कोई उल्लेख नहीं है, केवल यही लिखा है कि वह इसी वर्ष मर गया। पृथ्वीराज ने न तो मार्च १२, १६५६ ई० के युद्ध में भाग लिया और न मई १, १६५६ ई० को ही शायस्ताख़ाँ के साथ वह मालवा को लौटा। अतएव अनुमान यही होता है कि गोलकुण्डा पहुँचने के कुछ ही दिन बाद पृथ्वीराज की मृत्यु हो गई, और मार्च या अप्रेल, १६५६ ई० में पृथ्वीराज राठौड़ के अन्य परगनों के साथ रतलाम परगना भी पुनः खालसा हो गया। पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद ही इस प्रकार रतलाम परगना रतनसिंह को मिला।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए रतनसिंह को रतलाम

आदि परगने मिलने का विवरण यों लिखा जा सकता है। सन् १६५५ ई० में चित्तौड़ की चढ़ाई से वापस लौटने पर जब रतनसिंह पुनः जालोर पहुँचा तो उसने पूरी देख-भाल कर यह जान लिया कि जालोर परगने की जो आमदनी वह वसूल कर पाता है उससे किसी भी हालत में उसका काम नहीं चल सकेगा। अतएव सन् १६५५ ई० के अन्तिम महीनों में जब रतनसिंह पुनः शाही सेवा में दिल्ली पहुँचा तो उसने अपनी आर्थिक कठिनाइयोंको शाहजहाँ तक पहुँचाया। दारा शिकोह के सामने भी रतनसिंह ने सारी परिस्थिति खोल कर रख दी। दाराशिकोह रतनसिंह से बहुत ही प्रसन्न था। इन दिनों शासन सम्बन्धी मामलों में शाहजहाँ उसी की राय के अनुसार चलता था। अतएव जब दारा ने बहुत आग्रह किया तो शाहजहाँ ने रतनसिंह की वीरता तथा एकनिष्ठ स्वामी-भक्ति का खयाल कर हुक्म दिया कि जालोर का परगना खालसा कर उसके बदले में रतनसिंह को और कोई परगने दे दिए जावें। रतन-सिंह के सौभाग्य से इसी समय पृथ्वीराज राठौड़ की मृत्यु की सूचना दिल्ली पहुँची, जिस पर अप्रेल, १६५६ ई० में रतलाम और मालवा के अन्य परगने रतनसिंह को प्रदान कर दिए गए। सं० १७१२ वि० (१६५५-६ ई०) की रबी (उन्हालू) फ़सल तब तक आ चुकी थी। रतलाम आदि जागीर के नए परगनों की रबी फ़सल की आमदनी रतनसिंह को प्राप्त हो सकना शक्य नहीं था। ऐसी परि-स्थिति में खरीफ़ की वसूली के बाद ही रतनसिंह ने जालोर छोड़ दी हो और एक सारी फ़सल भर वह बिना जागीर के ही रहा हो, यह एक अनहोनी बात जान पड़ती है। एवं यह अधिक संभव है कि इस रबी फ़सल की वसूली करने के बाद ही मई, १६५६ ई० (ज्येष्ठ १७१३ वि०) में रतनसिंह जालोर छोड़कर चला आया।

पूर्ण विचार के बाद ख्यात में दिया गया विवरण एवं माह और संवत् अधिक मान्य जान पड़ता है।

रतलाम चले आने के कोई डेढ़ वर्ष बाद ही रतनसिंह ने अपनी स्त्रियों तथा अन्य कुटुम्बियों को जालोर से रतलाम बुलवाया।

(३) तीसरा प्रश्न—रतनसिंह को मालवा में कितने परगने मिले ? उनकी आय क्या थी ?

इस प्रश्न पर विचार करने से पहिले मुग़ल शासन काल में प्रचलित मनसब, जागीरें आदि देने तथा तत्सम्बन्धी अधिकारों के बारे में कुछ मोटी-मोटी बातों का उल्लेख किया जाना आवश्यक है। इनकी जानकारी होने पर कई एक ग़लतियों से बच सकते हैं।

मुग़ल ज़माने में जागीरें या ज़मींदारियाँ दी जाती थीं तो उनकी आय का उल्लेख सर्वदा "दामों" में ही किया जाता था, रुपयों में नहीं। वेतन या जागीरों की आय को दामों से रुपयों में बदलने की दर निश्चित थी; चालीस दाम के बराबर एक रुपया समझा जाता था (इर्विन०, पृ० ६)। पुनः जो जागीरें दी जाती थीं, वे दो प्रकार की होती थी—वंशपरम्परागत या व्यक्तिगत। मनसब के साथ दी गईं जागीरें व्यक्तिगत ही होती थीं, और उन्हें प्रायः निरंतर बदलते रहते थे। किसी भी मनसबदार या अमीर के मरने पर उसके आधीन वंशपरम्परागत जागीर एवं ज़मींदारी को छोड़कर बाकी सब व्यक्तिगत जागीर जब्त हो जाती थी, और उसके उत्तराधिकारी को मनसब मिलने पर उस मनसब के लिए आवश्यक नई जागीर दी जाती थी। (आईन०, १, पृ० २५२, २७०-१; इर्विन०, पृ० १२-१६)।

रतनसिंह को रतलाम आदि परगनों की यह नई जागीर जालोर

की जागीरों के बदले में ही मिली थी, अतएव यह नई जागीर उन्हीं शर्तों एवं लगभग उसी आय की होगी, जिन शर्तों एवं जिस आय की जालोर वाली जागीर थी। रतनसिंह की जालोर वाली जागीर का विशेष विवरण प्राप्य नहीं है, तथापि उस जागीर के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें निश्चयपूर्वक कही जा सकती हैं:—

(१) जालोर की जागीर महेशदास को वतन के रूप में मिली थी, एवं इस नई जागीर का भी कुछ भाग उसे वंशपरम्परागत रूप में मिला होगा।

(२) इस बदला-बदली के समय रतनसिंह का मनसब दो हज़ारी ज़ात-सोलह सौ सवारों का था, एवं उसकी सारी जागीर की आमदनी इस मनसब के अनुरूप ही होगी।

मनसब के अनुरूप रतनसिंह की जागीर की आमदनी क्या हो सकती थी? रतनसिंह के सवारों की संख्या उसकी सवारी ज़ात से कम थी, एवं वह दो हज़ारी ज़ात में दूसरे दर्जे का मनसबदार था। उस हिसाब से उसे दो हज़ारी ज़ात की तनख़्वाह के ३७ लाख दाम या रु० ९२, ५००) मिलते थे। इस रकम में उसे अपनी निजी सवारी, अपने कुटुम्ब का व्यय तथा निजी रक्षा के लिए कुछ सवारों का खर्चा चलाना पड़ता था। इन ३७ लाख दामों के अतिरिक्त उसके ताबीन सोलह सौ सवारों की तनख्वाह भी उसे मिलती थी। प्रति सवार की ८ हज़ार दाम या रु० २००) प्रति वर्ष के हिसाब से तनख़्वाह मिलती थी। सारे ताबीन सवारों की तनख़्वाह मनसबदार ही लेता था, और उस तनख़्वाह का ५ प्रतिशत भाग मनसबदार अपने निजी व्यय के लिए रख कर बाकी तनख़्वाह सिपाही या सवारों में बाँट देता था। परन्तु ताबीन के सिपाहियों को सारे साल भर तनख़्वाह नहीं मिलती थी, प्रायः चार, पाँच या छः माह की ही तनख़्वाह

उन्हें दी जाती थी। किस मनसब के लिए कितने माह की तनख्वाह दी जाने का हुक्म हुआ है इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है, एवं रतनसिंह के सवारों की तनख्वाह की रकम को पूरी तरह निश्चय करना संभव नहीं। यदि यह मान लें कि रतनसिंह को उसके सवारों की छः माह की तनख्वाह मिलने का हुक्म था तो उसे कोई ६४ लाख दाम या रु० १, ६०,०००) मिलते थे। इनमें से कोई ३, २०,००० दाम या रु० ८, ०००) रतनसिंह को मिलते थे और बाकी रतनसिंह के सवारों या सिपाहियों में बँट जाते थे। (इर्विन०, पृ० ६-१०)।

इस प्रकार रतनसिंह की कुल आमदनी का व्यौरा दामों में यों होता है:—

(१) रतनसिंह की निजी आमदनी—
  दो हज़ारी ज़ात की तनख्वाह— ३७,००,००० दाम
(२) सोलह सौ सवारों की तनख्वाह से—
  (अ) रतनसिंह का निजी
    विभाग—५%— ३,२०,००० दाम
  (ब) सवारों या सिपाहियों
    की तनख्वाह— ६०,८०,००० दाम

कुल—१,०१,००,००० दाम

इस प्रकार सन् १६५६ ई० में सब मिलाकर रतनसिंह की आमदनी कोई एक करोड़ दाम या ढाई लाख रुपयों के लगभग होगी, यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है।

सन् १६३० ई० में जालोर परगने की आमदनी १, १५, १०, ८७२ दाम या रु० २, ८७, ७७१-१२ आने ९ पाई की थी (ख्यात० १, पृ० १५४)। पुनः इन पिछले २०-२५ वर्षों में उक्त आमदनी में विशेष घटा-बढ़ी होना संभव नहीं जान पड़ता है। अतएव यही

अनुमान होता है कि इस बदला-बदली के समय केवल जालोर परगना ही रतनसिंह के अधिकार में रहा होगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि उक्त जालोर परगने के बदले में रतनसिंह को मालवा में क्या प्राप्त हुआ ? यह ऊपर ही कहा जा चुका है कि फारसी ग्रन्थों में इस बदला-बदली का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है। जोधपुर राज्य की ख्यात का जो उद्धरण ऊपर दिया गया है, उसमें रतनसिंह के रतलाम चले जाने के अतिरिक्त अन्य किसी बात का कोई खुलासा नहीं किया है। ऐतिहासिक आधार ग्रन्थों में केवल दो ही स्थानों में इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर मिलता है।

(१) रतनरासो के अनुसार रतनसिंह को मालवा में बावन लाख का परगना मिला, रतलाम उसके नए राज्य का केन्द्र था, और साथ ही बदनावर का प्रदेश भी उसे प्राप्त हुआ। (रासो०, पृ० ८२)।

(२) गुरूजी० के विवरण के अनुसार भी रतनसिंह को बावन लाख की जागीर प्राप्त हुई। उस जागीर के अन्तर्गत उसे निम्नलिखित बारह परगने मिले।[1]

---

[1] इन बारह परगनों की भौगोलिक विवेचना एवं ऐतिहासिक विवरणः—

(१) धराड़ः—वर्तमान रतलाम राज्य के अन्तर्गत रतलाम से ७ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित कसबा। ख्यातों के अनुसार रतलाम शहर की स्थापना रतनसिंह ने की, एवं उससे पहिले रतलाम परगना, धराड़ परगने के नाम से सुप्रसिद्ध था। परन्तु ख्यातों का यह कथन ठीक नहीं, अकबर के समय भी रतलाम परगने का उल्लेख मिलता है। (आईन०, २, पृ० १९८)।

(२) बदनावर—वर्तमान धार राज्य के अन्तर्गत, रतलाम से कोई २५ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित शहर। अकबर के समय भी यह शहर उस परगने का प्रधान केन्द्र था। (आईन० २, पृ० १९८)।

१. धराड़	२. बदनावर
३. तीतरोद	४. ददाल्या
५. पड़ावा	६. कोठड़ी
७. आगर	८. नाहरगढ़
९. आलोट	१०. गड़गुचा
११. रामगढ़	१२. बड़ोद

---

(३) तीतरोद—वर्तमान सीतामऊ राज्य के अन्तर्गत सीतामऊ शहर से ४½ मील पूर्व में स्थित गाँव। अकबर के समय में भी यह स्थान उस परगने का केन्द्र था। (आईन०, २, पृ० २०८)।

(४) ददाल्या—नक़्शे में इस नाम का कोई गाँव नहीं मिलता है। आईन० के अनुसार कोठड़ी-पड़ावा सरकार के अन्तर्गत एक महल "दक्बुधाल्या" नाम का था; संभव है ददाल्या इसी नाम का भ्रष्ट स्वरूप हो। (आईन०, २, पृ० २०६)।

कहीं कहीं ददाल्या के बजाय "पठालिया" (रतन०, पृ० २७) और कहीं "भीलार" (रतलाम०, पृ० ५; प्राचीन०, ३, पृ० ३९१) नाम लिखे मिलते हैं, परन्तु नक्शों में इन नामों के स्थानों का पता नहीं मिलता है।

(५) पड़ावा—वर्तमान टोंक राज्य के अन्तर्गत पड़ावा परगने का प्रधान कस्बा; शामगढ़ रेलवे स्टेशन से २४ मील पूर्व में, २४°९′ उत्तर एवं ७६° ३′ पूर्व पर स्थित है।

(६) कोठड़ी—वर्तमान इन्दौर राज्य के सुनेल परगने के अन्तर्गत, उपर्युक्त पड़ावा से कोई तीन मील पश्चिम में स्थित है। मुग़ल काल में कोठड़ी-पड़ावा सरकार के अन्तर्गत कोठड़ी-पड़ावा के दो संयुक्त महल थे एवं उक्त सरकार के प्रधान स्थान थे। (आईन०, २, पृ० २०६)।

(७) आगर—वर्तमान ग्वालियर राज्य में उज्जैन से ४० मील उत्तर-पूर्व में, २३° ४३′ उत्तर एवं ७६-° १′ पूर्व पर स्थित स्थान। मुग़ल काल में

ख्यातों में यह भी लिखा है कि रतनसिंह के धरमत के युद्ध में मारे जाने के बाद इन परगनों में से रतलाम का परगना तो रतनसिंह के ज्येष्ठ पुत्र रामसिंह के अधिकार में रहा, कुछ परगने रतनसिंह के छोटे पुत्रों को जागीर में प्राप्त हुए तथा बाकी रहे कई परगने औरंगज़ेब ने ज़ब्त कर लिए। गुरूजी० के अनुसार रतनसिंह के छोटे पुत्रों को निम्न-लिखित परगने जागीर में मिले थे:—

सरकार सारंगपुर में आगर नामक महल का यह केन्द्र था। (आईन०, २, पृ० २०३)।

(८) नाहरगढ़—वर्तमान ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत मन्दसौर सूबे में मन्दसौर से कोई १२ मील उत्तर-पूर्व में स्थित कसबा। अकबर के समय में इस नाम का कोई भी महल या परगना न था; संभव है तब यह कयामपुर परगने के अन्तर्गत हो। (आईन०, २, २०८)।

(९) आलोट—वर्तमान देवास राज्य के अन्तर्गत यह स्थान, नागदा-शामगढ़ के बीच, इसी नाम का रेलवे-स्टेशन है। मुग़ल काल में यह स्थान कोठड़ी-पड़ावा सरकार के अन्तर्गत एक परगने का केन्द्र था। आईन० में 'आलोट' नाम भूल से 'आसोथ' छप गया है। (आईन०, २, पृ० २०९)।

(१०) गड़गुचा—वर्तमान देवास राज्य में स्थित आलोट से कोई आध मील पश्चिम में स्थित कसबा। एक विभिन्न परगने के रूप में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।

(११) रामगढ़—वर्तमान इन्दौर राज्य के पेटलावद परगने में पेटलावद से चार मील उत्तर में यह स्थान है। ईसा की १७वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही और विशेषतया औरंगज़ेब के शासन-काल में एक अलग परगने के रूप में रामगढ़ का उल्लेख मिलता है। (झाबुआ राजघराने की शाही सनदें; अख़० औरं०, २४, पृ० २६९)।

(१२) बड़ोद—वर्तमान ग्वालियर राज्य के आगर परगने में आलोट से १७ मील पूर्व में यह स्थान है। अकबर के समय में कोठड़ी-पड़ावा सरकार के अन्तर्गत बड़ोद नामक महल का केन्द्र-स्थान था। (आईन०, २, पृ० २०९)।

रायसिंह---दूसरा पुत्र---पहिले आगर-कानड़ का परगना मिला; बाद में उसे बदनावर का परगना प्राप्त हुआ।

करणसिंह---चौथा पुत्र---तीतरोद परगना मिला; उसका प्रधान स्थान सीतामऊ कसबा था।

छत्रसाल---पाँचवा पुत्र---पहले लदूना का कसबा प्राप्त हुआ; बाद में तीतरोद और नाहरगढ़ के परगने प्राप्त हुए।

अखेराज---छठवाँ पुत्र---डग-पड़ावा का परगना प्राप्त हुआ।

जेतसिंह---आठवाँ पुत्र---भगोर (सीतामऊ राज्य के अन्तर्गत चम्बल के उत्तर-पश्चिमी किनारे पर स्थित स्थान) और उसके आस पास के गाँव उसे प्राप्त हुए थे।

सकतसिंह---बारहवाँ पुत्र---उसको मुलथान (धार राज्य में बदनावर परगने के अन्तर्गत स्थान) और उसके आसपास के गाँव प्राप्त हुए थे।

बड़वा भाटों की ख्यातों और राणीमंगा की पोथी में भी यही विवरण लिखा मिलता है। रतन०, पृ० ५३-५४ पर दिया गया सारा वृत्तान्त भी प्रधानतया इन्हीं के आधार पर लिखा गया है। रतन० के लेखक ने न जाने किस आधार पर उक्त विवरण में दो बातें बदल दी हैं। (पृ० ५४)। उसने रतनसिंह की जागीर की आमदनी को बावन लाख के स्थान पर ५३ लाख होना बताया है, और जहाँ ख्यातकारों ने यह

कहीं कहीं बड़ोद के स्थान पर कानड़ परगने का उल्लेख मिलता है (रतन०, पृ० २७; रतलाम०, पृ० ५; प्राचीन०, ३, पृ० ३६१)। कानड़ वर्तमान ग्वालियर राज्य के आगर परगने में आगर से १० मील दक्षिण-पूर्व में स्थित एक कस्बा है। मुग़ल काल में यह स्थान सारंगपुर सरकार के अन्तर्गत होगा; किसी महल या परगने के केन्द्र-स्थान के रूप में कानड़ का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।

खुलासा नहीं किया है कि उक्त आमदनी दामों में थी या रुपयों में, रतन० के लेखक ने उक्त आमदनी को रुपयों में ही होना लिखा है। रतलाम० (पृ० ५) में भी रतन० के ही इस कथन को दुहराया गया है, एवं प्रधानतया रतलाम० के ही आधार पर रेऊ ने भी रतनसिंह की जागीर की आमदनी ५३ लाख रुपये होना बताया है (प्राचीन०, ३, पृ० ३९१)।

ख्यातों में दिया गया है उक्त विवरण कहाँ तक सत्य हो सकता है, एवं ऐतिहासिक तथा तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार वह विवरण किस हद तक ठीक है यह जाँच करना बहुत आवश्यक है।

सबसे पहिले यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि रेऊ और रतन० के लेखक का यह कथन कि रतनसिंह को ५३ लाख रुपयों की आमदनी की जागीर मिली थी, पूर्णतया गलत है। दामों के हिसाब से इस जागीर की आमदनी सवा इक्कीस करोड़ दाम के के लगभग होती है। जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह को सात हज़ारी ज़ात–७००० सवार का मनसब प्राप्त था, जिसमें से ५ हज़ार सवार दो अस्पा थे, तथापि उसकी जागीर की आमदनी भी कुल मिला कर इग्यारह करोड़ दामों से अधिक न थी (ख्यात०, १, पृ० १९२-३)।

ख्यातों का यह कथन कि रतनसिंह को बावन लाख का परगना मिला अपूर्ण होते हुए भी पूर्णतया असत्य नहीं कहा जा सकता। मनसब के अनुसार रतनसिंह की पूरी जागीर की आमदनी एक करोड़ दाम से अधिक ही होना चाहिए थी, अतएव यह मानना सम्भव नहीं कि इस बदला-बदली के समय रतनसिंह को पूरी जागीर न मिलकर केवल बावन लाख दाम की ही जागीर मिली। रतनसिंह को इस अवसर पर मालवा में अवश्य ही उसके मनसब के अनुरूप पूरी जागीर मिली होगी, जिसमें से बावन लाख दाम की जागीर तो वंशपरम्परा-

गत रूप में और बाकी जागीर मनसब की घटा-बढ़ी के अनुसार व्यक्ति-गत ही रही होगी। रतनसिंह एवं उसके उत्तराधिकारियों की जागीर की जो जानकारी प्राप्त है, उससे भी इसी अनुमान की पुष्टि होती है।

अब अगला प्रश्न यह है कि कौनसा परगना या परगने रतनसिंह को वंशपरम्परागत जागीर में मिले थे। रतनसिंह के उत्तराधिकारी का विवरण देखते हुए यह स्पष्ट है कि रतलाम का परगना रतनसिंह को वंशपरम्परागत मिला था। अकबर के समय में रतलाम परगने की आमदनी ४४, २१, ५४० दाम की थी (आईन०, २, पृ० १९८)। जोधपुर के महाराजा सूरसिंह जी की जागीर में रतलाम का परगना रह चुका था, एवं सन् १६१९ ई० में उस परगने की आमदनी ४० लाख दाम के लगभग मानी जाती थी (ख्यात०, १, पृ० १२३)। अतएव यह असम्भव नहीं कि सन् १६५६ ई० में रतलाम परगने की ही आमदनी बढ़ कर ५२ लाख दाम के लगभग हो गई होगी। अगर रतलाम परगने की आमदनी बावन लाख दाम से कम रही होगी तो उस परगने के आसपास के कुछ गाँव उस परगने में मिलाकर उस परगने की आमदनी ही बावन लाख दाम की कर दी गई होगी। अतएव यह बात निश्चितरूपेण कही जा सकती है कि रतनसिंह को केवल रतलाम का परगना ही वंशपरम्परागत रूपेण मिला था, और तब उस परगने की आमदनी बावन लाख दाम थी।

रासो० के अनुसार रतनसिंह को बदनावर का परगना भी जागीर में मिला था (पृ० ८२)। परन्तु रासो० का यह कथन केवल अंशतः ही ठीक हो सकता है। अकबर के समय में इस परगने की आमदनी साढ़े तीस लाख दाम से कुछ अधिक ही थी (आईन०, २, पृ० १९८)। अतएव रतनसिंह की वंशपरम्परागत बावन लाख दाम की जागीर में इस परगने का भी सम्मिलित होना सम्भव नहीं

जान पड़ता है । पुनः औरंगज़ेब के शासन काल में रतनसिंह के ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी, रामसिंह, तथा उदयपुर के महाराणा राजसिंह के पुत्र एवं वर्तमान बनेड़ा घराने के आदि-पुरुष भीमसिंह को भी बदनावर परगने से ही नई जागीरें दी गई थीं । अतएव यही परिणाम निकलता है कि यह परगना रतनसिंह को वंशपरम्परागत जागीर में नहीं मिला था, उसके मनसब के अनुरूप जागीर पूरी करने को ही व्यक्तिगत रूप में मिला था ।

ख्यातकारों ने रतनसिंह को वंशपरम्परागत बारह परगने मिलने का उल्लेख किया है । परन्तु बावन लाख दाम की आमदनी वाले रतलाम परगने के अतिरिक्त अन्य परगनों के बारे में यह कथन पूर्णतः ठीक नहीं जान पड़ता है । यह पहिले ही बताया जा चुका है कि सन् १६५६ ई० में इस बदला-बदली के समय रतनसिंह को कुल मिलाकर एक करोड़ दाम से अधिक आमदनी की जागीर मिली होगी । अतएव वंशपरम्परागत प्राप्त बावन लाख दाम के रतलाम परगने को छोड़ते हुए उसे कम से कम पचास लाख दाम की और भी जागीर व्यक्तिगतरूपेण अवश्य ही मिली थी । पुनः अगस्त १६, १६५७ ई० को जब रतनसिंह के मनसब में चार सौ सवार और बढ़े, तब इस पहिले वाली जागीर के अतिरिक्त ज़ात की निजी तनख़्वाह के तीन लाख दाम और इन चार सौ सवारों की तनख़्वाह के सोलह लाख दाम मिला कर कुल कोई उन्नीस लाख दाम की नई जागीर रतनसिंह को और भी मिली । इस प्रकार सन् १६५८ ई० में मृत्यु के समय कोई उनसत्तर लाख दाम की आमदनी की जागीर व्यक्तिगत रूपेण रतनसिंह के अधिकार में थी ।

रतलाम के अतिरिक्त जिन अन्य परगनों के नाम ख्यातों में दिये हुए हैं, अकबर के समय उनकी पूरी-पूरी आमदनी निम्नलिखित थी:—

तीतरोद--	५, ००, ००० दाम
बड़ोद--	९, २३, ६६७ दाम
कोठड़ी-पड़ावा--	१८, ५६, ५६६ दाम
आगर--	४, ७२, ३६२ दाम
बदनावर--	३०, ५६, १९३ दाम
आलोट--	१७, ३३, ९२७ दाम
दक्दुधाल्या (ददाल्या?)	४, ५८, १४४ दाम

(आईन०, २, पृ० १९८, २०३, २०८, २०९)।

इस प्रकार इन आठ परगनों की पूरी-पूरी आमदनी कोई नब्बे लाख दाम की होती है। इनके अतिरिक्त ख्यातों के अनुसार रतनसिंह को नाहरगढ़, गड़गुचा तथा रामगढ़ के आस-पास भी बहुत कुछ जागीर मिली। अतएव ख्यातों के कथन पर विचार करते हुए यह बात निश्चितरूपेण कह सकते हैं कि उक्त आठ परगनों की बहुत कुछ आमदनी तथा अन्य बाकी रहे तीन स्थानों के आस-पास की भी कुछ जागीर रतनसिंह को उसके मनसब के अनुरूप जागीर पूरी करने को व्यक्तिगत रूपेण प्राप्त हुई थी।

व्यक्तिगत रूपेण प्राप्त हुई इस जागीर का रतनसिंह के मारे जाने के बाद ज़ब्त होना स्वाभाविक और नियमानुसार ही था। रतनसिंह को वंशपरम्परागत प्राप्त रतलाम परगना, रतनसिंह की मृत्यु के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी रामसिंह को मिला। मुग़ल राज्य के इन नियमों से अनभिज्ञ तथा वंशपरम्परागत जागीर और व्यक्तिगत मनसब की तनख़्वाह की जागीर के भेद से अपरिचित ख्यातकारों ने व्यक्तिगत रूपेण प्राप्त इन परगनों एवं जागीर की ज़ब्ती का कारण रतनसिंह द्वारा औरंगज़ेब का विरोध बताया है, जो ठीक नहीं।

औरंगज़ेब का विरोध करने वाले कई थे एवं केवल रतनसिंह के उत्तराधिकारी के साथ ही ऐसी सख़्ती विशेषरूपेण की जाने का कोई कारण नहीं देख पड़ता है। इसके विपरीत 'आलमगीर-नामे' में तो स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "रतन राठौड़ को जो जागीर प्राप्त थी, उसी जागीर का फ़रमान उसके पुत्र रामसिंह राठौड़ को दिया गया।" (पृ० १४०)। यहां भी वंशपरम्परागत जागीर की ही ओर निर्देश किया गया है।

ख्यातों के विवरण के अनुसार रतनसिंह ने इन बारह परगनों में से कुछ परगने या कई गाँव अपने छोटे पुत्रों को गुज़ारे के लिए जागीर में दे दिये थे। इस बँटवारे का जो विवरण ज्ञात हो सका ऊपर दिया गया है। यह बात विशेषरूपेण उल्लेखनीय है कि उक्त जागीरें रतनसिंह को वंशपरम्परागत प्राप्त रतलाम परगनेसे बाहर दी गई थीं। एवं यह प्रश्न उठता है कि क्या रतनसिंह व्यक्तिगत रूपेण प्राप्त जागीर के परगनों का यों बँटवारा कर सकता था एवं क्या उसने ऐसा बँटवारा किया था ? मुग़ल साम्राज्य के नियमानुसार कोई भी मनसबदार व्यक्तिगतरूपेण प्राप्त जागीर का कोई भी हिस्सा दूसरे किसी को वंशपरम्परागत रूप में नहीं दे सकता था। कोई भी जागीर या आमदनी पुण्यार्थ अवश्य दी जा सकती थी, परन्तु शाही तसदीक होने पर ही वह स्थायी रह सकती थी। रतनसिंह ने अपने कुलगुरु को सीतामऊ शहर के पास तीतरोद परगने में कुछ जमीन पुण्यार्थ दी थी। रतनसिंह की मृत्यु के बाद जब तीतरोद परगना ज़ब्त हुआ तब पुण्यार्थ दी गई भूमि का प्रश्न उठा। एवं औरंगज़ेब ने शाही सनद द्वारा उक्त पुण्यार्थ दिए गए इस भूमि-दान को स्वीकार कर जब वह जमीन पुनः कुलगुरू को दी तब ही उस जागीर की आमदनी कुलगुरू को प्राप्त हो सकी (गुरूजी० एवं गुरूजी के संग्रह में प्राप्य उक्त

शाही सनद)। ऐसी हालत में ख्यातों में दिए गए रतनसिंह द्वारा इन परगनों के बँटवारे का वृत्तान्त ठीक नहीं माना जा सकता है।

परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि ख्यातों का यह कथन कि रतनसिंह के उक्त छोटे पुत्रों को वे जागीरें प्राप्त हुई थीं, बिलकुल ही गलत नहीं कहा जा सकता। औरंगज़ेब के शासनकाल के जो अख़बारात प्राप्य हैं उनसे यह स्पष्ट है कि रतनसिंह के प्रायः सब छोटे पुत्र शाही सेना में सेवा करते रहे थे एवं इस सैनिक सेवा के बदले में उन्हें कुछ न कुछ शाही मनसब प्राप्त हुआ ही होगा। अतएव शाही मनसबदार बनने पर रतनसिंह के छोटे पुत्रों को भी मुग़ल साम्राज्य की ओर से ये छोटी-मोटी जागीरें प्राप्त हुई थीं, और इन्हीं जागीरों का ख्यातकारों ने उल्लेख भी किया है। रतनसिंह के पुत्र मालवा में बस गए थे, एवं उन्हें भी ये जागीरें मालवा के इसी प्रदेश में दी गईं, और कई एक जागीरें उन्हीं परगनों में प्राप्त हुईं जो एक समय रतनसिंह के ही अधिकार में रह चुके थे। ये जागीरें रतनसिंह की मृत्यु के बाद ही मुग़ल सम्राट् की ओर से मिली थीं। अतएव वर्षों बाद जब ख्यात-कार ख्यात लिखने बैठे तो उन्होंने यही अन्दाज़ लगाया कि रतनसिंह ने ही ये जागीरें अपने पुत्रों को दी होंगी। ख्यातों के विवरण से यह भी स्पष्ट है कि रतनसिंह के छोटे पुत्रों को मनसब के लिए दी गई ये जागीरें शाही नियमानुसार निरन्तर बदलती ही रहीं (गुरूजी०)।

(४) चौथा प्रश्न—रतनसिंह को यह नई जागीर मालवा में ही क्यों दी गई ?

इस प्रश्न के उत्तर में अनेकानेक अनुमान लगाए जाते हैं। रतलाम०, पृ० ५ के आधार पर रेऊ ने इसका कारण बताते हुए लिखा है कि—"लोगों का अनुमान है कि इतनी बड़ी जागीर देने में बादशाह

का यह भी स्वार्थ था कि वह मालवा के पश्चिम में एक बलशाली राज्य स्थापित करके गुजरात और दक्षिण के सूबेदारों के आक्रमणों से निश्चित हो जाय, क्योंकि औरंगज़ेब ने राज्याधिकार प्राप्ति के लिए षडयन्त्र शुरू कर दिए थे।" (प्राचीन० ३, पृ० ३९१ फुटनोट नं० १)। किन्तु यह अनुमान प्रधानतया कपोल-कल्पित एवं इस घटना के युगों बाद ही सोच-साच कर बनाया हुआ प्रतीत होता है; तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं से भी इस अनुमान की पुष्टि नहीं होती है।

यह बताया जा चुका है कि रतनसिंह की यह जागीर उतनी बड़ी न थी जितनी कि प्रायः वह सोची जाती है। एक करोड़ या सवा क़रोड़ दाम की जागीर देकर दो हज़ारी ज़ात-सोलह सौ सवारों वाले एक मनसबदार से यह आशा करना कि वह गुजरात और दक्षिण के सूबेदारों को शान्त रख सकेगा, हास्यास्पद ही जान पड़ता है। सत्य तो यह है कि सन् १६५६ ई० में जब यह बदला-बदली हुई तब तक शाहजादों में आपसी युद्ध की सम्भावना का किसी को भी ख़याल न था। सन् १६५७ ई० के सितम्बर मास में जब शाहजहाँ बहुत ही बीमार पड़ा और दारा अपनी सत्ता को संगठित करने लगा तब जाकर कहीं दारा ने औरंगज़ेब की शक्ति कम करने और उसका सामना करने के लिए मालवा में आवश्यक प्रबन्ध की ओर ध्यान दिया। सितम्बर, १६५७ ई० में मीर जुमला को वज़ीर के पद से हटाकर उसे एवं अन्य शाही सेनापतियों को दक्षिण से वापस बुला भेजा, एवं दिसम्बर, १६५७ ई० में शायस्ता खाँ को मालवा की सूबेदारी से हटाकर जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह को वह सूबेदारी दी (औरंग०, १-२, पृ० २८०-२८५)। अतएव रतनसिंह को मालवा में ही जागीर देने का कोई खास राजनैतिक कारण नहीं दिखाई देता है।

यह पहिले ही बताया जा चुका है कि जागीर की यह बदला-बदली प्रधानतया आर्थिक कारण से ही हुई थी, एवं शाहजहाँ ने रतनसिंह को नई जागीर ऐसे सूबे में देने की सोची होगी, जहाँ आमदनी पूरी वसूल न होने की कोई बात आगे चल कर न उठे। मालवा शताब्दियों से एक धन-धान्यपूर्ण प्रान्त माना गया है, एवं वहाँ जागीर प्राप्त होने पर रतनसिंह को कोई आर्थिक कठिनाई नहीं होगी, इसी विचार से शाहजहाँ ने मालवा में ही उसे जागीर देने का निश्चय किया होगा। पुनः महेशदास को पहिले भी यदा-कदा मालवा में जागीर प्राप्त होती रही थी। जोधपुर के राठौड़ घराने का भी रतलाम परगने से सम्बन्ध रहा था। पुनः इन पिछले बीस वर्षों से यही परगना पृथ्वीराज राठौड़ के अधिकार में था। उसी रतलाम परगने से सम्बन्ध स्थापित करने और उसे वतन बनाकर वहीं बस जाने को रतनसिंह का उत्सुक हो जाना अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता है।

(५) पाँचवाँ प्रश्न—क्या इस बदला-बदली के समय रतनसिंह का मनसब बढ़ा था और क्या उसके मान में कोई वृद्धि हुई थी ?

रतन०, पृ० २७ पर लिखा है "पंडित अमरनाथ जी ने लिखा है कि 'इस जागीरी के साथ ही रतनसिंह को से-हज़ारी का मनसब तथा चँवर मोरछल और सूरजमुखी वगैरा सन्मान की चीजें मिली थीं'।" इसी प्रकार रेऊ ने भी लिखा है "इसी के साथ बादशाह ने इन्हें राजा का ख़िताब, तीन हज़ार सवारों का मनसब, चँवर, मोरछल, सूरजमुखी और माही मरातिब आदि भी दिए।" (प्राचीन०, ३, पृ० ३९१)। इन में से "राजा के ख़िताब" की बात को छोड़ कर और सब बातें रेऊ ने रतलाम० (पृ० ६) के आधार पर लिखी हैं। 'राजा का

ख़िताब' दिए जाने का उल्लेख रेऊ ने किस आधार पर किया, यह ज्ञात नहीं हो सका है। ख्यातों एवं उन्हीं के आधार पर लिखे गये इतिहास-ग्रन्थ ही रतन०, रतलाम० और प्राचीन० में दिए गए ऐसे कथनों के एकमात्र प्रमाण हैं। अतएव उनके इन कथनों को ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार करने से पहिले उनकी पूरी-पूरी जाँच की जानी चाहिए।

यह पहिले ही बताया जा चुका है कि जागीर की इस बदला-बदली का फारसी ऐतिहासिक ग्रन्थों में कहीं भी किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता है। जागीर की बदला-बदली का कोई उल्लेख नहीं पाया जाना समझ में आ सकता है, किन्तु जिन ऐतिहासिक ग्रन्थों में सुनहरी तलवार और हाथी-घोड़े जैसी चीजों के दिए जाने का भी उल्लेख मिलता है, उन्हीं में उपर्युक्त मनसब एवं मान-वृद्धि का कोई उल्लेख नहीं पाया जाना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। उपर्युक्त कथनों की सत्यता के बारे में आशंका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

सबसे पहिले राजा के ख़िताब का प्रश्न उठता है। वारिस० एवं कम्बू० में कहीं भी रतनसिंह के नाम के साथ "राजा" का ख़िताब नहीं लिखा गया है। उसके नाम के साथ कहीं-कहीं "राव" का ख़िताब तो अवश्य लिखा मिलता है (वारिस०, १, प० ६० अ; कम्बू०, ३, पृ० २६१)। ख्यात० में भी रतनसिंह के नाम के साथ "राव" का ही ख़िताब लिखा है (१, पृ० २०७, २२३)। यह बात दूसरी है कि रतनसिंह अपनी दी हुई सनदों या ताँबा-पत्रों में स्वयं को "महाराजा" लिखता था (राजव्यास०)। परन्तु यदि शाहज़हाँ की ओर से ऐसा ख़िताब रतनसिंह को मिलता तो फारसी ग्रन्थों एवं ख्यात० में अवश्य ही उसका प्रयोग किया जाता। अतएव रतन-

सिंह को 'राजा' का ख़िताब मिलने की बात पूर्णतया असत्य ही जान पड़ती है ।

दूसरा सवाल रतनसिंह की मनसब वृद्धि का है । उक्त कथनों के अनुसार इस अवसर पर रतनसिंह का मनसब बढ़ा कर तीन हज़ार सवार का कर दिया गया था । परन्तु ज्ञात ऐतिहासिक आधारों के प्रमाण पर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि सन् १६५६ ई० में रतनसिंह का मनसब दो हज़ार ज़ात–सोलह सौ सवारों का ही था। अगस्त १६, १६५७ ई० को रतनसिंह के मनसब में चार सौ सवार बढ़ा दिए गए थे, जिससे उसका मनसब दो हज़ार ज़ात–दो हज़ार सवार का हो गया (कम्बू०, ३, पृ० २६१; मा० उ०, ३, पृ० ४४७) । उसकी मृत्यु तक रतनसिंह का मनसब यही रहा; उसमें कोई वृद्धि नहीं हुई थी (कम्बू०, ३, पृ० ४५८; ख्यात०, १, पृ० २०७) । अतएव यह स्पष्ट है कि रतनसिंह का मनसब कभी भी तीन हज़ारी का नहीं हुआ था।

चंवर और मोरछल का नाम मुगल सम्राटों द्वारा दी जाने वाली सम्मानास्पद वस्तुओं की सूची में नहीं मिलता है और न औरंगज़ेब के शासनकाल के अख़बारों में ही उनका कहीं उल्लेख मिलता है । (आईन०, १, पृ० xxii-xxiii, ५२-५३; इर्विन०, पृ० २८-३५) ।

सूरजमुखी का फ़ारसी नाम 'आफ़ताबगिर' है । बादशाह के मुख पर धूप न पड़ने देने के लिए इसका प्रयोग किया जाता था । मुग़ल साम्राज्य के नियमानुसार 'सूरजमुखी' या 'आफ़ताबगिर' केवल शाही शाहज़ादों को ही दी जाती थी; एवं ऐसी सम्मानास्पद वस्तु का रतनसिंह को दिया जाना संभव नहीं जान पड़ता है । इर्विन लिखता है कि " अठारहवीं शताब्दी में मरहठे सेनानायकों ने इस

सूरजमुखी को अपने सेनानायकत्व का प्रधान चिह्न माना था और मरहठे सवारों का छोटे से छोटा झुण्ड भी इसे साथ लिए घूमता था।" (इर्विन०, पृ० ३४)। यह अधिक संभव है कि मरहठे सेनानायकों की देखा-देखी मालवा के राजपूत नरेशों ने भी १८ वीं शताब्दी में 'सूरजमुखी' को अपना लिया हो।

माही-मरातिब के बारे में 'मीरात्-उल-इश्तियाह' के आधार पर इर्विन लिखता है कि "मुग़ल साम्राज्य में यह सबसे बड़ा सम्मान था, और छः हज़ारी ज़ात—छः हज़ार सवार से कम मनसब वाले अमीरों को कभी भी नहीं दिया जाता था।" (इर्विन०, पृ० ३३)। ऐसी परिस्थिति में यह मानना कि शाहजहाँ ने दो हज़ारी मनसब प्राप्त रतनसिंह को यह सम्मान प्रदान किया होगा कदापि संभव नहीं।

अतएव इन सारी बातों पर विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि उपर्युक्त कथन पूर्णतया निराधार और अविश्वसनीय हैं। ज़ागीर की इस बदला-बदली के समय न तो रतनसिंह का मनसब ही बढ़ा और न उसके मान में किसी प्रकार की वृद्धि ही हुई।

परिशिष्ट—२

मासिर-उल्-उमरा में दी हुई राठौड़ वीरों की जीवनियाँ[1]

१—महेशदास राठौड़

(मा० उ०, ३, पृ० ४४५-४४७)

महेशदास राठौड़ महाराज सूरसिंह के भाई दलपत का पुत्र था। इन्होंने आरम्भ में महाबत ख़ाँ खानखानाँ की सेवा में वीरता के लिए प्रसिद्धि प्राप्त की। ख़ाँ की मृत्यु पर ८ वें वर्ष में शाहजहाँ की सेवा में पहुँच कर पाँच सदी ४०० सवार का मनसब पाया और शाहज़ादा औरंगज़ेब के साथ (जो जुझारसिंह बुँदेला का दमन करने के लिए नियुक्त सेना के सहायतार्थ नियत किया गया था) गया। ९ वें वर्ष में ख़ाने दौराँ के साथ नानदेर को भेजा गया। ११वें वर्ष में मनसब बढ़ कर हज़ारी ६०० सवार का हो गया और १५ वें वर्ष में ४०० सवार और बढ़ा कर तथा झंडा प्रदान कर शाहज़ादा दारा शिकोह के साथ क़न्धार भेजा गया। १६ वें वर्ष में इसका मनसब दो हज़ारी २००० सवार का हो गया और परगना जालोर रहने के लिए जागीर में मिला। १९ वें वर्ष मे पाँच सदी मनसब की बढ़ती दे कर

---

[1] ये जीवनियाँ बाबू ब्रजरत्नदास कृत 'मासिर-उल्-उमरा' के हिन्दी अनुवाद 'मुग़ल दरबार के हिन्दू सरदारों की जीवनियाँ' से यहाँ उद्धृत की गई हैं। किन्तु इतिहास के विद्यार्थियों के सुभीते के लिए यहाँ 'मासिर-उल्-उमरा' के मूल फ़ारसी ग्रन्थ के पृष्ठों का ही उल्लेख किया गया है।

शाहज़ादा मुरादबख्श के साथ बलख़ और बदख्शाँ की चढ़ाई पर नियुक्त किया। फिर इसका मनसब बढ़ कर तीन हज़ारी २००० सवार का हो गया और वह डंका पाकर सम्मानित हुआ।

(शाहज़ादा के बलख़ पहुँचने और वहाँ के अध्यक्ष नज़र मुहम्मद ख़ाँ के भागने पर) जब बहादुर ख़ाँ और असालत खाँ कुछ सेना के साथ उसका (पृ० ४४६) पीछा करने पर नियुक्त हुए, तब यह बिना शाहज़ादे की आज्ञा के कार्य की उत्कट इच्छा से साथ गया। २० वें वर्ष में बुलाए जाने पर यह दरबार आया। उसी वर्ष सन् १०५६ हि० में इसकी मृत्यु हो गई। अनुभवी और युद्ध-प्रिय सैनिक था। बादशाह के बग़ल में रखी हुई संदली के पीछे (जो तलवार और तरकस रखने के लिए दो गज़ की दूरी पर रहती थी) खड़े रहते और सवारी के समय भी दो ग़ज की दूरी पर बराबर रहते थे।

बड़ा पुत्र रत्न (जो जालोर में था और जिसका मनसब चार सदी २०० सवार का था) का मनसब बढ़ा कर डेढ़ हज़ारी १५०० सवार का करके कृपा दिखलाई और देश से आने पर वह शाहज़ादा मुहम्मद औरंगज़ेब बहादुर के साथ बलख़ पर नियत हुआ। जब शाहज़ादा पूर्वोक्त प्रान्त नज़र मुहम्मद ख़ाँ को सौंप कर लौटे, तब रास्ते में इन्होंने अल अमानों के साथ लड़ने में बहुत परिश्रम किया। २२ वें वर्ष में पूर्वोक्त शाहज़ादा के साथ क़न्धार गया और कज़िल-बाशों के युद्ध में रुस्तम ख़ाँ के साथ नियुक्त हुआ। २५ वें वर्ष झंडा मिलने से सम्मानित किया जाकर उसी चढ़ाई पर पूर्वोक्त शाहज़ादे के साथ दूसरी बार और शाहज़ादा दारा शिकोह के साथ तीसरी बार (पृ० ४४७) नियुक्त हुए। २८ वें वर्ष में अल्लामी सादुल्ला ख़ाँ के साथ चित्तौड़ नष्ट करने गए। ३१ वें वर्ष औरंगज़ेब के साथ दक्षिण गये और आदिलख़ानियों के युद्ध में अच्छा परिश्रम करने

के उपलक्ष में इनका मनसब बढ़कर दो हज़ारी २००० सवार का हो गया। इसके अनन्तर महाराज जसवन्तसिंह के साथ युद्ध में (जो उज्जैन में हुआ था) नियुक्त होकर औरंगज़ेब के सैनिकों से वीरता-पूर्वक लड़ते हुए मारे गए।

२—पृथ्वीराज राठौड़

(मा० उ०, १, पृ० ४२६-४३१)

यह शाहजहाँ का एक सरदार था। विद्रोह के समय साथ देने से यह विश्वासपात्र हुआ। शाहजहाँ के बादशाह होने पर इसे पहिले वर्ष डेढ़ हज़ारी ६०० सवार का मनसब मिला। दूसरे वर्ष ख़्वाजा अबुलहसन तुर्बती के साथ खाने जहाँ लोदी का पीछा करने को (जो आगरे से भाग गया था) नियत हुआ। कर्मठता से दूसरों का आसरा न देख कर कुछ सरदारों के साथ (जो फुर्ती से आगे बढ़ आए थे) धौलपुर के पास उस पर पहुँच गया और युद्ध में राजपूतों की चाल पर पैदल होकर स्वयं ख़ाने जहाँ से (जो सवार था) भिड़ गया। उसे बरछे से घायल किया और स्वयं भी घायल हुआ। बादशाह ने उसको कृपापूर्वक बुलाकर उसका मनसब दो हज़ारी ८०० सवार का कर दिया और घोड़ा तथा हाथी दिया। तीसरे वर्ष २०० सवार और बढ़ा कर उसको ख़्वाजा अबुलहसन के साथ (पृ० ४३०) नासिक दुर्ग विजय करने को भेजा। जब महाबत ख़ाँ दक्षिण का सूबेदार हुआ, तब इसने भी उसी प्रान्त में नियुक्त होकर दो हज़ारी १५०० सवार का मनसब पाया। दौलताबाद के घेरे में अच्छी वीरता दिखलाई। एक दिन दक्षिण की सेना (जो विद्रोही हो गई थी) के एक सवार ने इसे द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारा। सुनते ही यह सेना से निकल कर सामने हुआ और तलवार से उसे मार डाला। ७ वें वर्ष

१०० सवार और बढ़ाए गए। ९ वें वर्ष जब बादशाह दक्षिण आए तब बालाघाट के सूबेदार ख़ाने ज़माँ के साथ दौलताबाद के पास यह बादशाह से मिला और ख़ाँ के साथ साहू भोंसिला का दमन करने और आदिलशाही राज्य पर अधिकार करने को भेजा गया। इस चढ़ाई में अच्छा कार्य करने पर १० वें वर्ष में १०० सवार मनसब में बढ़ाए गए। ११ वें वर्ष जब औरंगज़ेब के वकीलों के बदले दक्षिण का प्रबन्ध ख़ान दौरां को मिला, तब वह दौलताबाद का दुर्गाध्यक्ष हुआ। १८ वें वर्ष मनसब बढ़ कर दो हज़ारी २००० सवार का हो गया, १९ वें वर्ष आज्ञानुसार आगरा आकर वह बाकी ख़ाँ के साथ वहाँ के दुर्ग का अध्यक्ष हुआ। २० वें वर्ष (जब बादशाह राजधानी लाहौर में थे) वह आज्ञा मिलने पर आगरे के कोष से एक करोड़ रुपया लेकर वहाँ गया। उसी समय शाहज़ादा मुहम्मद औरंगज़ेब (पृ० ४३१) बहादुर बलख़ और बदख़्शाँ की ओर रवाना हुए थे। इन्हें ख़िलअत और चाँदी की ज़ीन सहित घोड़ा दिया और पचास लाख रुपए की रक्षा (जो शाहज़ादे को देना निश्चित हुआ था) पर नियुक्त कर वहाँ भेजा। २१ वें वर्ष राजा विठ्ठलदास के साथ वह अलीमर्दां ख़ाँ की सहायता को काबुल गए। २२ वें वर्ष शाहज़ादा मुहम्मद औरंगज़ेब बहादुर के साथ क़न्धार गए और वहाँ से रुस्तम ख़ाँ के साथ कज़िलबाश सेना से युद्ध करने गए। २५ वें वर्ष पूर्वोक्त शाहज़ादे के साथ उसी चढ़ाई पर दूसरी बार गए। २६ वें वर्ष शाहज़ादा दाराशिकोह के साथ उसी चढ़ाई पर नियत हुए। वहाँ से यह रुस्तम ख़ाँ के साथ बुस्त दुर्ग विजय करने गए। ३० वें वर्ष वह दक्षिण में शाहज़ादा मुहम्मद औरंगज़ेब के पास नियत हुए। उसी वर्ष १०६६ हि० (सन् १६५६ ई०) में इनकी मृत्यु हुई। इनके भाई रामसिंह और पुत्र केसरीसिंह उस समय छोटे मनसबों पर थे।

परिशिष्ट—३

धरमत (फ़तेहाबाद) के युद्ध के विवरण संबंधी दो हिन्दी आधार-ग्रंथ एवं उनका ऐतिहासिक महत्व

सर यदुनाथ सरकार ने अपने सुप्रसिद्ध एवं प्रामाणिक ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ़ औरंगज़ेब' में धरमत (फ़तेहाबाद) के युद्ध का विस्तृत, अतीव सुस्पष्ट एवं भावपूर्ण विवरण लिखा है (औरंग०, १-२, पृ० ३४८-३७१)। सर यदुनाथ ने फ़ारसी में लिखे गए सारे प्राप्य ऐतिहासिक आधार-ग्रन्थों की पूरी-पूरी छान-बीन कर उन्हीं के आधार पर यह विवरण लिखा था। इन फ़ारसी आधार-ग्रन्थों में विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं:—

मिर्ज़ा मुहम्मद काज़िम कृत 'आलमगीर-नामा' (आ० ना०), आक़िल ख़ाँ रज़ी कृत 'ज़फ़रनामा-इ-आलमगीरी' (ज़फ़र०), मीर मुहम्मद मासूम कृत 'तारीख़-इ-शाहशुजाई' (मासूम०), ईश्वरदास नागर कृत 'फ़तूहात-इ-आलमगीरी' (ईश्वर०), और मुहम्मद सालिह कम्बू कृत 'आमल-इ-सालिह' (कम्बू०)। किन्तु इन सारे आधार-ग्रन्थों में प्रधानतया इस युद्ध के विजेता और बाद में होने वाले मुग़ल सम्राट् औरंगज़ेब की ही तरफ़ से युद्ध का हाल लिखा है। विजेता का दृष्टिकोण एवं उस ओर से प्राप्त सामग्री ही इन लेखकों के आधार बन गये।

'आलमगीर-नामा', 'आमल-इ-सालिह' एवं 'ज़फ़रनामा-इ-आलमगीरी' में दिए गए विवरण मुग़ल साम्राज्य के राजकीय

काग़ज़-पत्रों के आधार पर लिखे गए थे। मासूम ने इस गृह-युद्ध सम्बन्धी सर्वत्र फैली हुई कथाओं एवं युद्ध के विभिन्न विवरणों का अपने ग्रन्थ में समावेश किया। परन्तु मासूम ने अपना पूरा समय प्रायः बंगाल में ही बिताया, एवं धरमत के युद्ध सम्बन्धी उस समय प्रचलित विभिन्न विवरणों का बंगाल तक पहुँचना संभव नहीं था। जसवन्त-सिह ने इस युद्ध में जो वीरता दिखाई और उसने क्या किया इसका ईश्वरदास नागर ने विशेषरूपेण उल्लेख किया है, परन्तु उसने यह विवरण इस युद्ध के कोई चालीस-पचास वर्ष बाद लिखा था, एवं उसे जसवन्तसिंह के राजपूत सेनापतियों के बारे में विशेष बातें नहीं प्राप्त हो सकीं; उसने केवल मुकन्दसिंह हाड़ा की वीरता एवं उसके मारे जाने का ही उल्लेख किया।

धरमत के युद्ध से पहिले की रात जसवन्तसिंह के शिविर में क्या हुआ? युद्ध के समय जसवन्तसिंह की सेना में कौन-कौन सी घटनाएँ घटीं? जब जसवन्तसिंह को युद्ध-क्षेत्र छोड़ने के लिए विवश किया गया, तब जसवन्तसिंह की सेना का नेतृत्व किसने सम्भाला? आदि प्रश्नों का उत्तर हमें उपर्युक्त फ़ारसी ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलता है। इस युद्ध के बाद जसवन्तसिंह ने शाही सेना की हार का समाचार दूतों द्वारा आगरा भिजवाया था, परन्तु इस समय जसवन्तसिंह ने युद्ध का विशद विवरण लिखा हो यह सम्भव नहीं जान पड़ता है। जसवन्तसिंह की तरफ़ से लड़ने वाले एक-मात्र महत्वपूर्ण मुसलमान सेनापति कासिम खाँ ने युद्ध में विशेष भाग नहीं लिया था, अतएव जसवन्तसिंह की सेना की कार्यवाही तथा वहाँ होने वाली घटनाओं में उसे कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती थी। यही कारण है कि इन प्रश्नों पर प्रकाश डाल सकने वाली कोई ऐतिहासिक सामग्री फ़ारसी भाषा में प्राप्त नहीं हो सकी है। इसलिए इन प्रश्नों पर प्रकाश

डालने के लिए अन्य भाषाओं में प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री की खोज तथा उनकी पूरी-पूरी जाँच पड़ताल करना आवश्यक हो जाता है।

यह सत्य है कि राठौड़ों के अतिरिक्त गहलोत, हाड़ा, गौड़ आदि विभिन्न कुलों के भी कई एक वीर योद्धाओं ने इस युद्ध में भाग लिया, और प्रायः सारे रजवाड़ों तथा सब महत्वपूर्ण राजघरानों के वीर इस युद्ध में काम आए, तथापि यह युद्ध प्रधानतया राठोड़ों का ही गिना गया। राठौड़ घरानों का सर्वमान्य नेता जसवन्तसिंह इस युद्ध में शाही सेना का प्रधान सेनापति था; रतनसिंह राठौड़, गोवर्धन चाँपावत, उदयसिंह राठौड़ आदि अन्य कई राठौड़ सेनानायक, तथा जोधपुर राज्य की सारी सेना जसवन्तसिंह के साथ थी, और इस युद्ध में कोई १७०० से अधिक राठौड़ योद्धा खेत रहे। अतएव अन्य राजपूत घरानों की ख्यातों आदि में इस युद्ध की विशेष चर्चा नहीं पाई जाती है।

जसवन्तसिंह इस शाही सेना का प्रधान सेनापति था, उसने इस युद्ध में बहुत बहादुरी दिखाई, उसके दो घाव भी लगे, तथापि अपने राजपूत वीरों को यथाशक्य उत्साहित कर उसने शत्रुओं का साहस और वीरता के साथ सामना किया था। परन्तु युद्ध में हार कर जसवन्तसिंह का युद्ध-क्षेत्र से जीवित लौटना, राजपूत योद्धाओं की प्रथा के विरुद्ध, वीर सैनिकों की आन-बान को नष्ट कर देने वाली तथा जोधपुर के सुप्रसिद्ध राजघराने के इतिहास को कलंकित करने वाली घटना थी। किस प्रकार जसवन्तसिंह की वीर राजपूत महारानी ने इस कलंक को धोने का प्रयत्न किया उसे लेकर कई एक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हुईं। अतएव न तो जोधपुर राज्य की ख्यातों और न जोधपुर के राजघराने सम्बन्धी काव्यग्रन्थों में ही इस युद्ध का विस्तृत विवरण मिलता है। जोधपुर राज्य की ख्यात में इस युद्ध

में मारे गए और घायल हुए व्यक्तियों की पूरी-पूरी सूची अवश्य दी है (ख्यात०, १, पृ० २०७-२२५), किन्तु युद्ध का विवरण बहुत ही संक्षिप्त केवल डेढ़ पृष्ठों में ही समाप्त कर दिया गया (ख्यात०, १, २०६-७)। इस युद्ध के ११० वर्ष बाद 'सूरज-प्रकाश' की रचना करते समय कवि करणीदान ने भी इस युद्ध में जसवन्तसिंह की वीरता का वर्णन कर केवल डेढ़ पृष्ठ में ही इस युद्ध का विवरण पूरा कर दिया (पृ० ११०-१११)।

किन्तु इस युद्ध में मर कर रतनसिंह राठौड़ ने अमरत्व प्राप्त किया। उसके साहस, उसकी वीरता तथा युद्ध-क्षेत्र में लड़ते हुए उसके मारे जाने के कारण रतनसिंह मालवा के राजपूतों के लिए एक आदर्श तथा पूजनीय व्यक्ति बन गया, और मालवा में ही नहीं सारे राजस्थान में भी उसके अनुपम आत्मत्याग और वीरता की कीर्ति गाई जाने लगी। रतनसिंह के शौर्य्य, मर मिटने की साधना और उत्कट राजभक्ति ने कवियों को मोह लिया और उन्होंने रतनसिंह की स्मृति को चिर-स्थाई बनाने के लिए इस युद्ध का विशद वर्णन लिखा। इस प्रकार हमें जसवन्तसिंह की सेना में होने वाली घटनाओं का विस्तृत विवरण दो हिन्दी काव्यों में मिलता है। फ़ारसी ऐतिहासिक आधार-ग्रन्थों की उस कमी को ये हिन्दी काव्य पूरा करते हैं।

ये दो हिन्दी काव्य हैं, कवि खड़िया जगा[1] कृत 'बचनिका राठौड़ रतनसिंघरी महेशदासौत री', तथा कवि कुम्भकर्ण कृत 'रतन-रासो'।

---

[1] खड़िया जगा अथवा जगमाल नामक एक चारण कवि जसवन्तसिंह के दरबार में भी था। वह जसवन्तसिंह की सेना के साथ आया एवं धरमत के इस युद्ध में वह मारा गया था। रतनसिंह का आश्रित कवि खड़िया जगा पूर्णतया विभिन्न व्यक्ति था, किन्तु नामों में साम्य होने के कारण

'वचनिका' में कवि खड़िया जगा ने इस युद्ध का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया। कवि जगा रतनसिंह के दरबार का राजकवि था, उसने इस डिंगल काव्य की रचना की थी। रतनसिंह के साथ ही वह भी उज्जैन और धरमत गया था। कहा जाता है कि युद्ध प्रारम्भ होने से पहिले ही कवि जगा को आज्ञा हुई कि वह युद्ध में भाग न ले, जिससे कि युद्ध के बाद जीवित रह कर वह अपने वीर स्वामी के शौर्य्य और साहस का ठीक-ठीक विवरण लिख सके। यों किम्वदन्ती के आधार पर यह माना जाता है कि कवि जगा ने सारा युद्ध आँखों देखा एवं अपनी निजी जानकारी से उसका पूरा विवरण 'वचनिका' में लिखा। टेसीटोरी के विचारानुसार भी इस काव्य की रचना युद्ध के कुछ ही काल बाद हुई होगी (वचनिका०, इण्ट्रोडक्शन, पृ० १-२)। अतएव इस काव्य में दिए गए वर्णन का महत्व विचारणीय अवश्य है। इस काव्य का सम्पादन टेसीटोरी ने किया, तथा इस काव्य का मूल-ग्रन्थ बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने सन् १९१७ ई० में प्रकाशित किया। उक्त काव्य का अंग्रेज़ी अनुवाद तथा उसके ऐतिहासिक महत्व आदि पर टेसीटोरी की भूमिका बाद में प्रकाशित होने वाली थी, जो अब तक नहीं हुई।

सर यदुनाथ ने 'हिस्ट्री आफ़ औरंगज़ेब' की दूसरी जिल्द पहली बार सन् १९१२ ई० में प्रकाशित की तब उन्हें यह काव्य प्राप्य न था। परन्तु प्रकाशित होने पर भी, भाषा की दुरूहता के कारण डिंगल भाषा से अपरिचित विद्वाभों के लिए यह 'वचनिका' दुष्प्राप्य ही रही। यही कारण था कि जब सन् १९२५ ई० में 'हिस्ट्री आफ़

प्रायः भ्रम हो जाया करता है। ख्यात०, १, पृ० २२०; वचनिका०, इण्ट्रोडक्शन, पृ० २-४।

औरंगज़ेब' की प्रथम दो जिल्दों का संशोधित एवं संयुक्त संस्करण तैयार किया गया, तब भी 'वचनिका' में वर्णित घटनाओं की जाँच-पड़ताल नहीं की जा सकी।

कवि कुम्भकर्ण कृत 'रतन-रासो' की रचना सन् १६७५ ई० के लगभग उज्जैन में हुई थी। कवि कुम्भकर्ण रतनसिंह के ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी, रामसिंह राठौड़ का आश्रित न था, तथापि इस कवि के घराने का प्रारम्भ में जोधपुर के राजघराने से एवं बाद में महेशदास तथा उसके वंशजों के साथ पर्याप्त सम्बन्ध रहा था, ऐसा ज्ञात होता है (रासो०, पृ० ५-१२)। इस ग्रन्थ द्वारा महेशदास और रतनसिंह सम्बन्धी कई एक कौटुम्बिक बातें ज्ञात होती हैं। कवि ने कई स्थानों पर अत्युक्तिपूर्ण विवरण लिखा है। कल्पनापूर्ण काव्यमय वर्णन भी यत्र-तत्र पाए जाते हैं। इस ग्रन्थ के अन्तिम भाग में कवि ने मुग़ल साम्राज्य में अराजकता उत्पन्न होने, जसवन्तसिंह के मालवा भेजे जाने, रतनसिंह के रतलाम जाकर वहाँ अपने पुत्र रामसिंह को पूरे अधिकार देने, युद्ध के पूर्व की रात्रि की घटनाओं एवं युद्ध का विस्तृत विवरण लिखा है (पृ० ८४-१४१)।

यद्यपि इस ग्रंथ की प्रतियाँ राजस्थान और मालवा में बहुतायत से मिलती हैं, तथापि यह ग्रन्थ अब तक छप कर प्रकाशित नहीं हुआ है। अतएव मालवा से सुदूर प्रान्तों के लेखकों का इस ग्रन्थ की ओर ध्यान नहीं गया। यह ग्रंन्थ प्रधानतया पिंगल में है, तथापि यत्र-तत्र मिश्रित होने के कारण भाषा काफ़ी दुरूह हो गई है।

यह ग्रन्थ रतनसिंह की मृत्यु के कोई २० वर्ष बाद लिखा गया। मालवा में रहकर कवि ने उस युद्ध सम्बन्धी बातों की पूरी जानकारी प्राप्त की होगी। रतनसिंह और उसके उत्तराधिकारी के साथ कवि का घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण उसे वहाँ से प्रामाणिक

विवरण प्राप्त हुआ होगा। एवं युद्ध सम्बन्धी घटनाओं का जो विवरण कवि कुम्भकर्ण ने लिखा वह भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

इन दोनों ग्रन्थों से धरमत के युद्ध सम्ब्रन्धी जो २ नवीन बातें ज्ञात होती हैं उनका क्रमशः संक्षेप में यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।

'वचनिका' के अनुसार अप्रेल १४, १६५८ ई० की सन्ध्या के समय जसवन्तसिह ने अपने समस्त राजपूत सेनानायकों को एकत्र कर उनसे पूछा कि औरंगज़ेब और मुराद का सामना किया जावे या नहीं। और सब सेनानायकों तथा सरदारों ने अर्ज़ की कि "महाराज! ऐसे मामलों के बारे में आपसे अधिक और कौन जानता है। यदि आप सलाह ही लेना चाहते हैं तो रतनसिंह से पूछिए।" तब जसवन्तसिंह ने कहा—"मैं तो यही उचित समझता हूँ कि हम सब प्राणों का मोह छोड़ कर लड़ते हुए मारे जावें, और वीरतापूर्वक ऐसा विकट युद्ध करें कि चिरकाल तक उसकी चर्चा होती रहे।" रतनसिंह से अब रहा न गया, उसने निवेदन किया—"महाराज! आप कुल के दीपक हैं, अतः आप स्वयं युद्ध में भाग न लें। शाही सेना का सेनापतित्व मुझे सौंपिए तथा रणभूमि का राज्य मुझे प्रदान कर आप पृथ्वी के राज्य का उपभोग करें। महाभारत जैसे युद्ध में भी दुर्योधन को पीछे रख कर लड़ने के लिए कर्ण ही आगे बढ़ा था। युद्ध में बने रहने से ही राज्य रह सकेगा, और इसके लिए कमध्वजों (राठोड़ों) को कोई भी बुरा नहीं कहेगा।" यह कह कर रतनसिंह ने अपने शस्त्र उठाए और जसवन्तसिंह और वहाँ उपस्थित राजपूत सरदारों से सदा के लिए बिदा लेकर युद्ध की तैयारी करने के लिए वह अपने डेरे पर लौट आया। (पृ० १४-१९)। उस

रात्रि को राजपूतों का सहभोज हुआ तथा उसके बाद रतनसिंह का अपना दरबार जुड़ा, जिसमें उसने अपने सेनानायकों, प्रधान सरदारों तथा अन्य वीर साथियों को युद्ध के लिए उत्साहित किया। राजपूत एवं चारण वीरों ने रतनसिंह के निश्चय को सराहा तथा उसके साथ मर-मिटने को उतारू हुए। (पृ० १९-२८)।

दूसरे दिन युद्ध की तैयारियाँ हुईं। घमासान युद्ध प्रारम्भ हुआ। (पृ०२८-२९, ४०-४३)। तोपें चलने लगीं और राजपूत वीरों ने उन पर पूरे वेग के साथ हमला किया (पृ० ४४-६)। इस प्रकार तीन पहर तक दोनों सेनाएँ लड़ती रहीं। जब चौथा पहर प्रारम्भ हुआ, राठौड़ वीर रिणमल जोधा ने कहा—"किसी भी प्रकार से राजा (जसवन्तसिंह) को अब बचाना चाहिए। हम तो युद्ध में शत्रु का सामना करते हुए कट मरें, किन्तु 'ओछी वाढ़ो, जसराज काढ़ो।' जसवन्तसिंह को युद्ध-क्षेत्र से ले जाओ।" तब घोड़े की वागें पकड़ कर जसवन्तसिंह को युद्ध-क्षेत्र से ले गए। जाते समय जसवन्तसिंह ने युद्ध का भार रतनसिंह को सौंपा। तब तो रतनसिंह जसवन्तसिंह से प्राप्त सारे शाही नौबत, निशान, तोप एवं झण्डों को अपने साथ लेकर युद्ध में आगे बढ़ा। (पृ० ४६-७)। युद्ध में लड़ मरने का निश्चय कर रतनसिंह अपने वीर सरदारों के साथ शत्रुओं से जा भिड़ा। एक-एक कर उसके सारे वीर साथी मारे गए, तथापि रतनसिंह अपने सैनिकों को उत्साहित कर उसी साहस के साथ वीरतापूर्वक लड़ता ही रहा। इसी प्रकार युद्ध करते हुए अन्त में बुरी तरह घायल होकर रतनसिंह धरती पर गिर पड़ा। इस युद्ध में उसे छब्बीस तीर और तलवार के अस्सी घाव लगे। (पृ०४७-७३)।

रतनसिंह के गिरते ही शाही सेना की ओर से शाहज़ादों का

सामना करने वाला कोई न रहा, एवं युद्ध समाप्त हो गया, और शाहज़ादों ने विजय के नगाड़े बजाये (पृ० ७४)। घायल रतन-सिंह की वहीं युद्ध-क्षेत्र पर ही मृत्यु हुई। युद्ध-क्षेत्र में बिखरे हुए तीर और भालों को एकत्रित कर उनकी चिता रची, तथा जहाँ रतन-सिंह घायल होकर पृथ्वी पर गिरा था वहाँ ही उसकी दाहक्रिया की गई। (पृ० ७५)।

'रतन-रासो' में कवि कुम्भकर्ण ने इन्हीं घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है:—

शाहजादों ने जसवन्तसिंह को लिख भेजा कि वह उनकी राह न रोके, परन्तु जसवन्तसिंह ने उनका यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। तब तो दोनों सेनाएँ युद्ध के लिए बढ़ीं। उज्जैन शहर के पास क्षिप्रा के तट पर दोनों सेनाएँ आमने-सामने आ डटीं। (पृ० १२१-१२२)।

अन्त में युद्ध का दिन आ ही गया। युद्ध में शत्रुओं का सफलता-पूर्वक सामना करने के लिए जसवन्तसिंह ने अपनी सेना की व्यूह-रचना की और विभिन्न सेनानायकों को निश्चित क्रम से खड़ा किया। सबसे आगे भीमसिंह सिसोदिया का पुत्र रायसिंह सिसोदिया था। तदन्तर खलील खाँ तातार था, एवं उसके बाद कोटा का मुकुन्दसिंह हाड़ा अपने चारों भाइयों एवं सैनिकों को लेकर खड़ा था। दयालदास झाला और उसका भाई राघोदास झाला अपने सैनिक लेकर मुकुन्द-सिंह हाड़ा के पीछे थे। अन्त में जसवन्तसिंह ने रतनसिंह राठौड़ और उसके सैनिकों को रखा, और उसके बाद ही वह स्वयं अपने सैनिकों को लेकर लड़ाई के लिए डटा हुआ था। जसवन्तसिंह के साथ इस समय आसकरण नीम्बावत, राठौड़ महेशदास सूरजमलोत, राठौड़ वीर गोवर्धन चाँपावत, आदि सेनानायक थे। (पृ० १२२)।

दोपहर के समय युद्ध प्रारम्भ हुआ। रतनसिंह को अपने सामने रख कर जसवन्तसिंह युद्ध करने लगा। आसकरण का पुत्र दुर्गादास वीरता दिखाने लगा। (पृ० १२५)। जसवन्तसिंह की सेना के कई वीर मारे गए। इसी समय शाहज़ादों की सेना ने शाही सेना पर दबाव डाला और उस पर गोलाबारी भी शुरू कर दी। तब तो रायसिंह सिसोदिया, एवं दक्षिणी सरदार खेलो और मालू भाग खड़े हुए, जिससे शाहज़ादों का साहस और भी बढ़ा तथा वे शाही सेना को अधिकाधिक दबाने लगे। उन्होंने शाही ख़जाने को लूटा और शाही सेना के डेरों पर भी अधिकार कर लिया। औरंगजेब सेना लेकर शाही सेना के पीछे जा पहुँचा, सुलतान नबी (औरंगजेब के पुत्र मुहम्मद सुलतान) ने शाही सेना के दाहिने पहलू पर दबाव डाला, तथा हरोल की ओर से मुराद ने हमला किया। इस प्रकार जसवन्तसिंह की सेना का व्यूह चारों ओर से छिन्न-भिन्न हो गया। अब राजपूत सेनानायकों ने शत्रु पर हमला करना ही उचित समझा, तथा "राम-राम" के जयघोष के साथ उन्होंने अपने घोड़े दौड़ा दिए। (पृ०१२६)। मुकुन्दसिंह हाड़ा और उसके चारों भाई इन घुड़सवारों के साथ शत्रु की ओर वेग के साथ बढ़े। दयालदास झाला ने इन्हीं के पीछे पीछे अपने घोड़े भी दौड़ाए। दोनों ओर की सेनाएँ गुंथ गई। मुकुन्दसिंह हाड़ा मोहनसिंह हाड़ा, दयालदास झाला, अर्जुन गौड़, सुजानसिंह सिसोदिया और उदयसिंह राठौड़ मारे गए। किशोरसिंह हाड़ा घायल होकर गिर पड़ा। हज़ारों हिन्दू वीर युद्ध में काम आए। उन्हीं के पीछे रतनसिंह राठौड़ भी अपने भाई फ़तेहसिंह और पुत्र रायसिंह को लेकर युद्ध कर रहा था। सांचोरा वीर शार्दूल चौहान के पुत्र, अमरदास और भगवानदास, रतनसिंह के हरोल में दाहिनी तथा बाईं ओर शत्रुओं का सामना कर उन्हें दबा

रहे थे। जसा बारहट भी रतनसिंह के पास ही युद्ध में रत था। (पृ० १२७)।

राजपूत घुड़सवारों के इस आक्रमण तथा रतनसिंह राठौड़ आदि वीरों के इस दबाव ने शाहज़ादों की सेना के छक्के छुड़ा दिए। इस परिस्थिति को देख कर औरंगजेब ने तुरन्त वहाँ सहायता के लिए अधिक सेना भेजी, जिससे शाहज़ादों के सैनिक उत्साहित हो उठे (पृ० १२८)। उनकी ओर से पुनः तोपें चलने लगीं, घमासान युद्ध होने लगा, और शाहज़ादों की सेना शाही सेना को एक वार फिर पीछे दबाने लगी। शाही सेना अव घबरा कर युद्ध क्षेत्र से भाग जाने के लए उतारू देख पड़ी, परन्तु जसवन्तसिंह तब भी डटा ही रहा। शाही सेना की हार निरन्तर स्पष्टतर होती जा रही थी एवं अब राठौड़ वीर आसकरण, महेशदास सूरजमलोत और गोरधन, जसवन्तसिंह को रणक्षेत्र छोड़ने के लिए वाध्य करने लगे; रतनसिंह ने भी जसवन्तसिंह को जोधपुर लौट जाने के लिए बहुत कुछ कहा; तब अन्त में विवश होकर जसवन्तसिंह ने शाही सेना का सेनापतित्व रतनसिंह को सौंपा। जसवन्तसिंह को साथ लेकर आसकरण तथा महेशदास जोधपुर के लिए रवाना हुए। (पृ० १३२)।

अब रतनसिंह ने जसवन्तसिंह से प्राप्त, शाही सेनापति के सारे सम्मान चिह्नों को धारण किया और उनके साथ अपने जीवन का अन्तिम युद्ध करने के लिए वह आगे वढ़ा। उसके निजी सेनानायकों और सैनिकों के अतिरिक्त जोधपुर की सेना के भी कई वीर सेनानी इस समय रतनसिंह के साथ थे। प्राणों पर खेल कर रतनसिंह अलौकिक वीरता तथा अद्वितीय साहस के साथ लड़ने लगा। रतनसिंह के कई घोड़े बारी-वारी से घायल होकर गिर पड़े और हर बार वह

किसी दूसरे घोड़े पर सवार होकर पुनः युद्ध में जुट गया। उसके वीर साथी एक-एक कर गिरने लगे, फिर भी अपने इने-गिने वीरों को लेकर रतनसिंह लड़ता ही रहा। घावों से जर्जरित होकर अन्त में रतनसिंह युद्ध-क्षेत्र में गिर पड़ा। चौहान वीर अमरदास और भगवानदास भी बुरी तरह घायल होकर रतनसिंह के पास ही गिरे। जसराज बारहठ भी वहीं खेत रहा। रतनसिंह का भाई फतेहसिंह भी यहीं काम आया और रतनसिंह का नवयुवा पुत्र रायसिंह भी घायल होकर पास ही गिरा। (पृ० १३५-१३९)। इस तरह इस युद्ध का अन्त हुआ। औरंगजेब और मुराद विजयी होकर हर्षित हुए। (पृ० १४१)।

सर यदुनाथ सरकार ने इस युद्ध का जो विवरण लिखा है उसमें तथा उपर्युक्त दोनों विवरणों में विभिन्नता प्रधानतया दो ही बातों में पाई जाती है। जहाँ 'रतन-रासो' और 'वचनिका' के अनुसार रतनसिंह की मृत्यु सबसे बाद में एवं जसवन्तसिंह के युद्ध-क्षेत्र छोड़ने के अनन्तर ही हुई, वहाँ सर यदुनाथ सरकार के मतानुसार रतनसिंह राठौड़ राजपूत घुड़सवारों के पहले हमले के समय ही मारा गया। सर यदुनाथ लिखते हैं--"हरोल के राजपूत सेनानायक--मुकुन्द सिंह हाड़ा, रतनसिंह राठौड़, दयालसिंह (दयालदास) झाला, अर्जुनसिंह गौड़, सुजानसिंह सिसोदिया एवं अन्य अपने चुने हुए साथियों को लेकर सरपट आगे बढ़े। ......वे चारों ओर से घिर गए थे, उनकी संख्या निरन्तर घटती ही जा रही थी, तथा उनकी सहायता के लिए अन्य कोई सैनिकदल भी नहीं आ रहा था, अतएव ये राजपूत हतोत्साह हो गए और उनका वेग रुक गया। उनके वीर नेता मुकुन्दसिंह हाड़ा की आँख में तीर लगा, जिससे वह मर कर गिर पड़ा। इस हमले में भाग

लेने वाले छःहों राजपूत राजा मारे गए।" (औरंग०, १-२, पृ० ३६०, ३६३)।

दूसरे, 'रतन-रासो' और 'वचनिका' के अनुसार युद्ध-क्षेत्र छोड़ते समय जसवन्तसिंह ने युद्ध में रही बाकी शाही सेना के संचालन का भार रतनसिंह को सौंपा था, एवं जसवन्तसिंह के युद्ध-क्षेत्र छोड़ने के बाद भी कुछ समय तक रतनसिंह और उसके साथी वीरतापूर्वक शाहज़ादों की सेना का सामना करते ही रहे। सर यदुनाथ के मतानुसार रतनसिंह की मृत्यु पहिले हो चुकी थी एवं रतनसिंह को सेना-संचालन का भार सौंपने का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था। जसवन्तसिंह के युद्ध-क्षेत्र छोड़ने के बाद शाही सेना की जो प्रतिविधि हुई उसका सर यदुनाथ ने इस प्रकार वर्णन किया है—"युद्ध में शाही सेना की हार हुई यह बात स्पष्ट हो गई थी। राठौड़ों (जसवन्तसिंह और उसके और साथियों) के युद्ध-क्षेत्र छोड़ते ही शाही सेना के बाकी रहे विरोध का भी अन्त हो गया। शाही सेना के जो बचे-खुचे दल अब तक शाहज़ादों की सेना का सामना कर रहे थे, वे भी अब युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर भाग खड़े हुए। राजपूत सैनिक अपने-अपने घरों को लौट गए एवं मुसलमान सैनिकों ने आगरा की राह ली।" (औरंग०, १-२, पृ० ३६६)।

यह पहिले ही बताया जा चुका है कि सर यदुनाथ ने अपना विवरण प्रधानतया फ़ारसी इतिहास-ग्रन्थों के ही आधार पर लिखा है। अब इन हिन्दी काव्यों से जो दो नई बातें ज्ञात हुई हैं वे ऐतिहासिक दृष्टि से कहाँ तक मान्य और विश्वसनीय हैं इसकी जाँच के लिए इन दो घटनाओं को निम्नलिखित दो कसौटियों पर कसना होगा। (१) जो नई घटनाएँ ज्ञात हुई हैं, वे फ़ारसी एवं अन्य प्रामाणिक ऐतिहासिक आधार-ग्रन्थों से प्राप्त तथा इतिहासकारों

द्वारा सर्वमान्य घटनाक्रम आदि से कहाँ तक विरुद्ध पड़ती हैं, एवं कहाँ तक उनके साथ इनका सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है ? (२) प्रामाणिक ऐतिहासिक घटनावली तथा तत्कालीन ज्ञात परिस्थितियों में इन नई घटनाओं का घटना कहाँ तक संभव जान पड़ता है ?

सर यदुनाथ के मतानुसार इस युद्ध के विवरण के लिए प्रधान आधार-ग्रंथ हैं:— 'आलमगीर-नामा,' 'ज़फ़रनामा-इ-आलमगीरी' और ईश्वरीदास कृत 'फ़तूहात—इ आलमगीरी'; इनमें सें जसवन्त-सिंह की सेना सम्बन्धी घटनाओं के लिए ईश्वरदास कृत इतिहास विशेष महत्त्व का है। कम्बू कृत 'आमल-इ-सालिह' समकालीन होते हुए भी दूसरे दर्जे का आधार-ग्रन्थ माना गया। (औरंग०, १-२, पृ० ३५९ फु० नो०) ।

रतनसिंह की मृत्यु कब हुई, इस प्रश्न का उत्तर उक्त फ़ारसी आधार-ग्रन्थों में ढूंढने पर निम्नलिखित परिणाम निकलता है। 'ज़फरनामा-इ-आलमगीरी' में कहीं भी रतनसिंह का नाम नहीं मिलता है। ऐसे ही 'फ़तूहात-इ-आलमगीरी' में ईश्वरदास ने भी रतनसिंह का कोई उल्लेख नहीं किया। इस युद्ध में रतनसिंह ने क्या भाग लिया इस प्रश्न पर कम्बू भी पूर्णतया मूक है। केवल 'आलमगीर-नामा' में ही रतनसिंह का कुछ ज़िक्र मिलता है। पहिले हरोल में नियुक्त सरदारों में रतनसिंह का भी नाम दिया। मुकुन्दसिंह हाड़ा के साथ घुड़सवारों के हमले में वीर गति प्राप्त करने वाले सेनानायकों की सूची में रतनसिंह का भी उल्लेख है। (आ० ना०, पृ० ६४)। सर यदुनाथ ने रतनसिंह सम्बन्धी उक्त उल्लेख 'आलमगीर-नामा' के ही आधार पर किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि रतनसिंह के मृत्यु-समय को निश्चित

करने में किसे अधिक विश्वसनीय समझा जावे, 'आलमगीर नामा' को या 'वचनिका' एवं 'रतन-रासो' को। 'आलमगीर-नामे' के विरोध में 'वचनिका' एवं 'रतनरासो' की ऐतिहासिकता का महत्व-पूर्ण प्रश्न उठता है। 'वचनिका' का कवि उस दिन युद्ध-क्षेत्र पर स्वयं उपस्थित था। उस युद्ध का उपर्युक्त विवरण उसने आँखों देखी घटनाओं, निजी जानकारी तथा विश्वसनीय व्यक्तियों से ज्ञात बातों के ही आधार पर लिखा था, अतएव उसमें दी हुई घटनावली विचार-णीय अवश्य है। उसी प्रकार यद्यपि 'रतन-रासो' युद्ध के कोई बीस वर्ष बाद लिखा गया था, किन्तु उसके रचयिता का रतनसिंह के घराने के साथ गहरा सम्बन्ध था, अतएव उस युद्ध में उपस्थित तथा भाग लेने वाले व्यक्तियों से युद्ध की घटनाओं सम्बन्धी ठीक-ठीक विवरण प्राप्त करना उसके लिए बहुत ही सरल था। कवि ने उज्जैन में रहकर इस काव्य की रचना की थी, अतएव वहाँ इस युद्ध के समकालीन बड़ों-बूढ़ों और इस युद्ध को आँखों देखने वाले व्यक्तियों से भी उसे कई महत्वपूर्ण बातें ज्ञात हुई होंगी। 'रतन-रासो' में दी गई अन्य घटनावली में कई एक त्रुटियाँ अवश्य पाई जाती हैं, किन्तु प्राय: उसमें वर्णित ऐतिहासिक बातों का ज्ञात घटनाक्रम से समर्थन ही होता है। अतएव इन दोनों काव्य-ग्रन्थों को किसी भी प्रकार अनैतिहासिक या सर्वथा अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता है।

इसके विपरीत इस युद्ध के समय जसवन्तसिंह के सेनापतित्व में आने वाली विरोधी शाही सेना में कब क्या हुआ, एवं रतनसिंह कब कहाँ लड़ा था तथा वह कब मारा गया, इसका औरंगजेब एवं उसके साथियों को पूरा-पूरा और ठीक पता लग सका हो यह असम्भव सा प्रतीत होता है। युद्ध की प्रधान हलचलें, युद्ध के प्रारम्भ में विरो-धियों के महत्वपूर्ण हमले तथा उनके विशिष्ट नेताओं के कारनामें,

युद्ध की अन्तिम घड़ियों में विरोधी सेनापतियों का युद्ध-क्षेत्र छोड़ना तथा युद्ध में मारे गए महत्वपूर्ण विरोधी सेनानायकों की ठीक-ठीक सूची औरंगज़ेब और उसके साथियों को ज्ञात हो गई होगी, किन्तु उसे प्रत्येक विरोधी सेनानायक के व्यक्तिगत कारनामों का ठीक-ठीक एवं पूरा विवरण प्राप्त हो सका होगा यह कठिन ही जान पड़ता है। अतएव इस प्रकार के व्यक्तिगत मामलों में जहाँ किसी भी विरोधी सेनानायक के घटनाक्रम को निश्चित करना हो 'आलमगीर-नामे' में दिए गये संक्षिप्त विवरण को सर्वथा निर्विवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता है। पुनः जो विवरण 'वचनिका और 'रतन-रासो' में रतनसिंह के बाद में मारे जाने का दिया है वह किसी प्रकार असम्भव भी नहीं जान पड़ता है। अतएव पूर्ण विचार के बाद यही ठीक जान पड़ता है कि रतनसिंह की मृत्यु के समय का जो क्रम 'रतन-रासो' एवं 'वचनिका' में दिया है वह मान्य तथा इस बारे में 'आलमगीर-नामा' का कथन अस्वीकार्य है।

अब दूसरा प्रश्न सामने आता है कि क्या जसवन्तसिंह ने युद्ध-क्षेत्र छोड़ते समय शाही सेना का सेनापतित्व रतनसिंह को सौंपा था? इस बारे में फ़ारसी ग्रन्थों में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है। ईश्वरदास ने अपना ग्रन्थ इस युद्ध के कोई ४०-५० वर्ष बाद लिखा था, तब तक जसवन्तसिंह एवं इस युद्ध से बच निकलने वाले वीर भी मर चुके थे, एवं तब इस प्रकार के निजी प्रश्नों पर प्रकाश पड़ना अधिक संभव नहीं था। ख्यात० (१, पृ० २०६-२०७) का इस बारे में मूक रहना स्वाभाविक ही है। अतएव इस प्रश्न पर विचार करने के लिए 'वचनिका' और 'रतन-रासो' के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐतिहासिक आधार-ग्रन्थ नहीं रह जाता है। 'वचनिका' और 'रतन-रासो' में इस बारे में जो लिखा है वह स्वीकार करने से पहिले

यह विचार करना आवश्यक है कि क्या फ़ारसी ग्रन्थों के आधार पर जसवन्तसिंह के युद्ध-क्षेत्र छोड़ने के बाद भी युद्ध का होता रहना संभव जान पड़ता है।

ज़फर० (पृ० ३१-२) के अनुसार जसवन्तसिंह के युद्ध-क्षेत्र छोड़ने के बाद बाकी सेना तितर-बितर हो गई, और इन भागने वालों के साथ औरंगजेब की सेना की लड़ाई हुई, जिसमें कई शाही सैनिक मारे गए। 'आलमगीर-नामा' में इस प्रकार के किसी भी युद्ध की कोई चर्चा नहीं है (पृ० ६४)। ईश्वरदास० (प० २० अ) जसवन्त-सिंह के साथ 'बहुत से सरदारों' का जोधपुर के लिए रवाना होने का ज़िक्र करता है। युद्ध-क्षेत्र में पीछे रहने वाले सरदार और सैनिकों ने क्या किया, इसका उसने कुछ भी हाल नहीं लिखा है। कम्बू० (३, पृ० २८७) युद्ध की अन्तिम घड़ियों में शाही सेना के दो दल हो जाने का उल्लेख करता है। ये दोनों दल युद्ध-क्षेत्र के तंग दर्रे में घिर गए और वहाँ लड़ते रहे। जसवन्तसिंह के पाँव में चोट आई और अन्त में वह तथा कासिम खाँ युद्ध-क्षेत्र छोड़कर रवाना हो गए। औरंगज़ेब ने इनका कुछ मीलों तक पीछा किया। एक दल के इस प्रकार चले जाने के बाद दूसरे दल का क्या हुआ, इस प्रश्न पर कम्बू० कोई भी प्रकाश नहीं डालता है।

उक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जसवन्तसिंह के युद्ध-क्षेत्र से रवाना होने के बाद भी कुछ समय तक बहुत कुछ मार-काट होती ही रही। सर यदुनाथ० ने भी शाहज़ादों की सेना का तब भी सामना करने वाले शाही सेना के बचे-खुचे दलों का उल्लेख किया है (औरंग०, १-२, पृ० ३६६)। किन्तु युद्ध की इन अन्तिम घड़ियों में शाही सेना के प्रधान सेनापति जसवन्तसिंह तथा कासिम खाँ का युद्ध-क्षेत्र छोड़ना ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना थी।

इसके बाद भी शाही सेना के कौन वीर शाहज़ादों का सामना करते रहें तथा उन्होंने क्या वीरता दिखाई, ये बातें मुग़ल साम्राज्य के इतिहासकारों तथा औरंगज़ेब के जीवन और उसकी सफलताओं का विवरण लिखने वालों के लिए सर्वथा गौण और महत्वहीन थीं, एवं उन्होंने न तो इस ओर कुछ ध्यान दिया और न उन पर कोई प्रकाश डालना ही आवश्यक समझा। यही कारण है कि हमें फारसी आधार-ग्रन्थों में इस प्रश्न के बावत कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। तथापि थोड़ा बहुत जो भी विवरण हमें मिलता है उससे 'रतन-रासो' और 'वचनिका' में वर्णित रतनसिंह का अन्तिम युद्ध पूर्णतया अशक्य बात नहीं ज्ञात होती है।

जसवन्तसिंह जिस समय युद्ध-क्षेत्र से रवाना हुआ, तब तक मुकुंद-सिंह हाड़ा मारा जा चुका था, कासिम खाँ पहिले से ही युद्ध से किनारा काट रहा था, एवं शाही मनसबदारों में सर्वोच्च सेनानायक रतनसिंह ही बाक़ी बच रहा। ऐसे समय जसवन्तसिंह का युद्ध-क्षेत्र में लड़ती हुई बाक़ी रही सेना का भार रतनसिंह को सौंपना स्वाभाविक ही नहीं न्याय-सम्मत भी था।

अतएव समग्र प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री पर पूर्णतया विचार करने के बाद यही निर्णय किया जाता है कि रतनसिंह को जसवन्तसिंह द्वारा बाकी रही शाही सेना का भार सौंपने तथा उसके बाद रतनसिंह का पूर्ण वीरता के साथ लड़ते हुए इस सारे युद्ध के अन्त में मारे जाने का जो विवरण, 'रतन-रासो' और 'वचनिका' में दिया है, यद्यपि फ़ारसी आधार-ग्रन्थों द्वारा उस विवरण की पुष्टि नहीं की जा सकती है, किन्तु वे सर्वथा असम्भव और अनहोनी बातें साबित नहीं होती हैं। इन दोनों काव्य-ग्रन्थों द्वारा इस युद्ध सम्बन्धी कई एक नई घटनाएं ज्ञात होती हैं, और यों इस युद्ध के कई अज्ञात तथा

अन्धकारपूर्ण पहलुओं पर नया प्रकाश पड़ता है। इसी लिए इस ग्रन्थ में धरमत के युद्ध का विवरण लिखते समय 'रतन-रासो' और 'वचनिका' में वर्णित उक्त घटनाओं के ऐतिहासिक तथ्यों का यथा-स्थान समावेश कर युद्ध के इस वर्णन को सर्वथा प्रामाणिक तथा सम्पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है।

परिशिष्ट—४

रतनसिंह के जो सम्बन्धी और सेनानायक धरमत (फ़तेहाबाद) के युद्ध में काम आये उनकी सूची

[ख्यातों से उद्धृत]

१—जो बादशाही उमराव काम आए उनकी सूची:—

(१) राठौड़ राव रतन महेशदास दलपत उदयसिंहोत—रतलाम का शासक, पहले जालोर में राज्य करता था—मनसब दो हज़ारी-पाँच सौ सवार[1]।

(२) फतेसिंह महेशदासोत—मनसब डेढ़ सदी-तीस सवार।

(३) रायसिंह रतनोत—घायल हुआ।

(४) राजपूत ५० और चारण बारहठ जसा वेणीदासोत[2] काम आए।

(ख्यात०, १, पृ० २०७)

२—रतलाम के शासक राव रतन के जो सेनानायक काम आए उनकी सूची:—

चार चौहान:—

(१) अमरदास सादूलसिंहोत,

---

[1] दो हज़ार सवार होना चाहिए; कम्बू०, ३, पृ० ४५८।

[2] रोहिड़ा खाँप का चारण। उसके वंशज आज भी सीतामऊ राजघराने के प्रधान बारहठ हैं, एवं बापच्या ठिकाना उनकी जागीर में है।

(२) भगवानदास सादूलसिहोत,
(३) कुंभा ईश्वरदासोत,[३]
(४) विट्ठलदास किशनदासोत;[४]
(५) भाटी अज्जा केलण,
(६) सोनगरा वीरमदे;
आठ राठौड़:—
(७) गिरधरदास किशनदासोत गाँगा,
(८) नरहरदास बीकानेर का,
(९) गोपीनाथ राव बख्तसिहोत उदयसिह का पोता,[५]
(१०) साँगा मंडला नाथा का पुत्र,
(११) रतनसी मंडला नाथा का पुत्र,
(१२) रूपसी मंडला नाथा का पुत्र,
(१३) मेड़तिया भावसिह अजमालोत (जयमलोत ?);
(१४) हरराम लखमावत;
(१५) सेहलोत पंचायण हरदासोत,
(१६) कछवाहा श्यामसिंह राजावत,
(१७) मेहता साँवलदास रूपसी का,
(१८) पड़िहार धन्ना ।

(ख्यात०, १, पृ० २२३,

---

[३] सांचोरा चौहान, जीवा का पौत्र; नैणसी०, १, पृ० १७६ ।

[४] सांचोरा चौहान, लिखमीदास का पौत्र; नैणसी०, १, पृ० १७६ ।

[५] कविराजा से प्राप्त दूसरी ख्यात में इसी गोपीनाथ को राव सगतसिह का पोता लिखा है । १, क्रमांक ६८२, पृ० १२० ।

३—कविराजा मुरारीदान से प्राप्त एक और ख्यात में, जिसकी प्रति जोधपुर राज्य के संग्रह में प्राप्य है, रतनसिंह के साथ धरमत के युद्ध में मारे जाने वाले सेनानायकों की सूची में निम्नलिखित नाम अधिक मिलते हैं:—

(१) राठौड़ साहिब खाँ कुम्भकरण बाघोत का जेतावत,[६]

(२) राठौड़ द्वारकादास बल्लू गोपालदासोत का चाँपावत,[७]

(३) राठौड़ वेणीदास राजसिंह सूरजमलोत का चाँपावत,[८]

(४) भाटी कुंभकरण सुरताण रामोत का केलण[९],

(५) थोरी भूरिया,

(६) दमामी गुणा।

(१, क्रमाँक ९८२, पृ० १२०)

---

[६] ख्यात०, १, पृ० २११ पर इस साहिब खाँ का नाम जसवन्तसिंह के सेनानायकों की सूची में लिखा है। परन्तु ख्यात० का यह उल्लेख ठीक नहीं जान पड़ता है। वचनिका०, पृ० २२, २५ के उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि साहिब खाँ रतनसिंह का सेनानायक था; उसका जसवन्तसिंह के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था।

[७] ख्यात०, १, पृ० २०९ पर इसका नाम भी जसवन्तसिंह के सेनानायकों की सूची में लिखा है।

[८] ख्यात०, १, पृ० २०९ पर इसका नाम भी जसवन्तसिंह के सेनानायकों की सूची में लिखा है।

[९] ख्यात०, १, पृ० २१३ पर इसका नाम भी जसवन्तसिंह के सेनानायकों की सूची में लिख कर इसे "गैर चाकर" बताया गया है।

अध्याय ५

रामसिंह

(१६५८-१६८३ ई०)

१. रामसिंह का रतलाम पाना; प्रारम्भिक वर्ष—बैसवाड़े का उपद्रवः १६५८-१६६४ ई०

धरमत के युद्ध में रतनसिंह के मारे जाने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र रामसिंह रतलाम का शासक बना। रामसिंह का जन्म रविवार, कार्तिक सुदी ८, सं० १६९५ वि० (नवम्बर ४, १६३८ ई०) को हुआ था। बेदला के चौहान संग्रामसिंह की पौत्री रानी हररूप दे कुँवर रामसिंह की जननी थी।[1] रामसिंह के प्रति रतनसिंह का विशेष प्रेम था, परन्तु रामसिंह को कभी भी अपने पिता के साथ शाही दरबार में या युद्ध पर जाने का अवसर नही मिला। जालोर की गद्दी पर बैठने के कोई एक माह बाद ही जब अप्रैल, १६४७ ई० में रतनसिंह बल्ख़ की चढ़ाई पर जाने लगा था तब रामसिंह की वय नौ वर्ष की भी न थी, एवं रतनसिंह उसे जालोर ही छोड़ गया।[2] और उसके बाद जीवन भर रतनसिंह शाही सेना के साथ दूर-दूर की चढ़ा-

---

[1] रतन०, पृ० ५२; गुरूजी०; राणी०।

एक ख्यात में रामसिंह का जन्म भाद्रपद शु० ८, १६९५ वि० (बुधवार, सितम्बर ५, १६३८ ई०) के दिन होना लिखा है, किन्तु गुरूजी० के कथन की तुलना में यह कथन विशेष विश्वसनीय नहीं जान पड़ता है।

[2] रासो०, पृ० ७९।
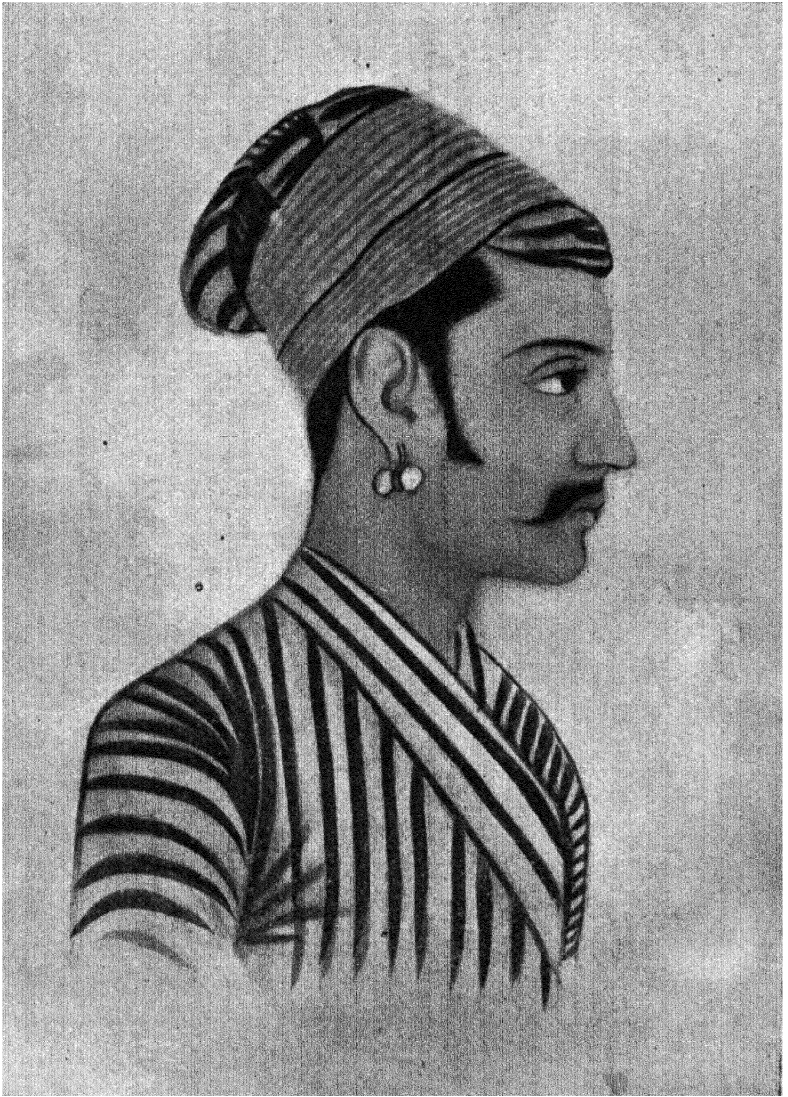
रामसिंह

इयों में लगा रहा । तब रामसिंह की उम्र ऐसी न थी कि वह युद्धों में भाग ले सके । पुनः उत्तराधिकारी होने के कारण भी उसे घर पर ही रहना पड़ता था । अतएव रामसिंह के जीवन के प्रारम्भिक वर्ष जालोर ही में बीते । सन् १६५६ ई० में रतनसिंह जालोर छोड़ कर रतलाम का अधिकारी बना, तब अपने पिता के साथ रामसिंह भी रतलाम आ पहुँचा । तब तक उसकी उम्र १७ वर्ष से अधिक की हो गई थी, एवं रतलाम के इस नये राज्य के शासन-प्रवन्ध को संगठित करने में रतनसिंह को रामसिंह से पूरी-पूरी सहायता मिली होगी ।

सन् १६५७ ई० के अन्तिम महीनों में गृह-युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ हो गई थीं, एवं जसवन्तसिंह को शाही सेना के साथ मालवा का सूबेदार बना कर उज्जैन भेजा गया था; सन् १६५८ ई० के प्रारम्भ में वह मालवा में आ पहुँचा । उसके साथ जा मिलने से पहिले रतनसिंह रतलाम आया और वहाँ अपनी जागीर एवं राज्य का शासन-प्रबन्ध एवं तत्सम्बन्धी सारा कार्य रामसिंह को सौंप दिया ।[३] अपने नवयुवा उत्तराधिकारी को सारा राज्य-भार सौंप कर रतनसिंह निश्चित हो गया । उस दिन का गया हुआ रतनसिंह लौट कर जीवित रतलाम वापस नहीं आया; अप्रैल १५, १६५८ ई० के दिन

---

[३] रासो०, पृ० १०२, १०४-५, १०७-११२ ।

रासोकार के अनुसार तो शुभ मुहूर्त देख कर रतनसिंह ने अपने हाथों से ही तब रामसिंह का राजतिलक भी कर दिया था । किन्तु अनुमान यही होता है कि वास्तव में ऐसा कोई राजतिलक इस समय नहीं हुआ, तथा रतनसिंह द्वारा रामसिंह को सारे राज्याधिकार सौंपने का विवरण लिखते समय उसी घटना का कवि ने कल्पनापूर्ण अत्युक्तिमय वृत्तान्त यों लिख दिया । यदि उस समय रामसिंह का राजतिलक होगया होता तो रतनसिंह की मृत्यु के बाद पुनः राजतिलक किए जाने की आवश्यकता न होती ।

धरमत के युद्ध में रतनसिंह के खेत रहने के समाचार-मात्र रतलाम पहुँचे। और एक माह बाद मई १५, १६५८ ई० के दिन रतलाम से कोई २५ मील उत्तर-पश्चिम में नीनोर-कोटड़ी के तालाब की पाल पर रतनसिंह की बँधी हुई पाग के साथ उसकी चार रानियों के सती होने का विवरण भी रामसिंह को ज्ञात हुआ। अपने माता-पिताओं के अन्तिम क्रिया-कर्म से निपट कर शनिवार,[४] ज्येष्ठ शुक्ला ७, १७१५ वि० (मई २९, १६५८ ई०) के दिन शुभ मुहूर्त में रामसिंह रतलाम में अपने पिता की गद्दी पर बैठा। किन्तु यह तो रामसिंह का कौटुम्बिक तथा निजी राजकीय राजतिलक ही था। मुग़ल साम्राज्य द्वारा रामसिंह का उत्तराधिकार स्वीकृत होना अब भी आवश्यक था; परन्तु रामसिंह को उसके लिए अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी।

धरमत के युद्ध में विजय प्राप्त कर औरंगज़ेब और मुराद ससैन्य उत्तर की ओर बढ़े तथा मई २९, १६५८ ई० को आगरा से आठ मील पूर्व में शामूगढ़ के मैदान में दारा को उन्होंने बुरी तरह से हराया। युद्ध में हार कर दारा दिल्ली होता हुआ पंजाब की तरफ भागा, और औरंगज़ेब ने आगरा को जा घेरा। जून ८, १६५८ ई० को

---

[४] गुरूजी० के आधार पर रतन० (पृ० ५५) में ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी के दिन सोमवार होना लिखा है। किन्तु 'इण्डियन एफ़ीमेरीज़' के अनुसार सोमवार के दिन नवमी थी, सप्तमी के दिन शनिवार ही था। वार में गलती हो जाना अधिक सम्भव मान कर गुरूजी० में दी हुई तिथि को ही स्वीकार किया है।

कुछ ख्यातों के अनुसार रामसिंह वैशाख शु० ६ या ७, सं० १७१५ वि० (बुधवार या गुरुवार, अप्रेल २८ या २९, १६५८ ई०) को रतलाम की गद्दी पर बैठा था। किन्तु गुरुजी० का कथन ही अधिक विश्वसनीय एवं सर्वथा मान्य प्रतीत होता है।

आगरा के किले पर औरंगज़ेब का अधिकार हो गया। किन्तु दारा का पीछा करना अत्यावश्यक था, एवं पाँच ही दिन बाद औरंगज़ेब ससैन्य आगरा से दिल्ली की ओर चला। मुराद और उसके सैनिक भी औरंगज़ेब के साथ कुछ ही मील पीछे रहते थे। दस दिन में वे मथुरा पहुँचे, जहाँ कुछ दिन ठहरने का निश्चय हुआ। यहाँ ही जून २५-२६ की रात को औरंगज़ेब ने मुराद को कैद कर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया, तथा जून २७ को वह पुनः मथुरा से दिल्ली की ओर चल पड़ा।[५]

यों तो शामूगढ़ के युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद से ही औरंगज़ेब शासन-प्रबन्ध के साथ सारे शाही अधिकारों को स्वयं काम में लेने लगा था, किन्तु मुराद के क़ैद होने के बाद अब कोई भी बाधा उसके मार्ग में नहीं रह गई थी। अब वह एकछत्र शासन करने लगा।[६] साम्राज्य के विभिन्न राजा-महाराजा, अमीर-उमरा तथा सेनानायक धीरे-धीरे औरंगज़ेब की सेना में आ मिलने लगे। आम्बेर का मिर्ज़ा राजा जयसिंह और धरमत के युद्ध से भागा हुआ राजा रायसिंह सिसोदिया भी औरंगज़ेब के दरबार में आ पहुँचे। पिछले युद्धों में उसका सामना करने वालों तथा उनके उत्तराधिकारियों के प्रति भी औरंगज़ेब मेहरबानी और विश्वास दिखाने की नीति बरतने लगा।[७]

अन्य सेनानायकों के साथ ही औरंगज़ेब ने धरमत के युद्ध में डटकर उसका सामना करने वाले और लड़ते-लड़ते ही युद्ध क्षेत्र पर मर-कटने वाले वीरवर रतनसिंह राठौड़ के उत्तराधिकारी का मामला

---

[५] औरंग०, १-२, पृ० ४२२, ४२६, ४३०-६।

[६] औरंग०, १-२, पृ० ४२५।

[७] औरंग०, १-२, पृ० ४२५-२६; आ० ना०, पृ० १४०-२।

भी तय कर दिया। रतनसिंह राठौड़ मुग़ल साम्राज्य का पुश्तैनी सेनानायक, मनसबदार और जमींदार था, एवं औरंगज़ेब ने जुलाई ३, १६५८ ई० के लगभग रतनसिंह के ज्येष्ट पुत्र, रामसिंह को एक हज़ारी ज़ात ८०० सवारों का मनसब प्रदान किया, और एक फ़रमान द्वारा रतनसिंह की वंशपरम्परागत जागीर रामसिंह को 'वतन' के रूप में दी गई। इस समय रामसिंह रतलाम ही था, एवं उसके पास हुक्म भेजा कि वह शाही दरबार में उपस्थित हो।[८] शाहजहाँ द्वारा नियुक्त राजा जसवन्तसिंह धरमत के युद्ध से ही जोधपुर को लौट गया था। यों मालवा की सूबेदारी भी खाली ही थी। एवं जब औरंगज़ेब ने जुलाई १८, १६५८ ई० को दिल्ली के पास ही तख़्तनशीन होकर स्वयं को सम्राट् घोषित किया, तब उसने विभिन्न सूबों के शासन-प्रबन्ध की ओर भी ध्यान दिया। दारा द्वारा नियुक्त वज़ीर जाफ़र खाँ को औरंगज़ेब ने मालवा का सूबेदार बना कर जुलाई २८ के दिन मालवा जाने के लिए उसे दिल्ली से रवाना किया।[९]

सन् १६५८ ई० में जब औरंगज़ेब ने रामसिंह को रतलाम राज्य पर नियुक्त किया, तब रामसिंह को केवल रतलाम परगना ही मिला। यह परगना रतनसिंह को वंशपरम्परागत रूपेण वतन के तौर पर जालोर परगने के बदले में प्राप्त हुआ था। अन्य सारे परगने रतनसिंह को उसके बढ़े हुए मनसब के अनुरूप जागीर पूरी करने के लिए ही व्यक्तिगत रूप से मिले थे। एवं रतनसिंह की मृत्यु के बाद ये अन्य परगने ज़ब्त हो गए। सन् १६५८ ई० में रामसिंह को जो

---

[८] आ० ना०, पृ० १४०-१।

[९] औरंग०, १-२, पृ० ४४६; आ० ना०, पृ० १५७, १६१-२; मा० उ०, १, पृ० ५३२-३।

मनसब मिला था, उसे देखते हुए यह सम्भव भी नहीं जान पड़ता है कि इतनी अधिक आमदनी के ये अन्य परगने भी रामसिंह को इस समय मिल जाते ।[१०]

---

[१०] मुग़ल शासन-पद्धति, शाही मनसबदारी तथा जागीर दिए जाने सम्बन्धी नियमों से अनभिज्ञ होने के कारण तथा ये विभिन्न परगने रतनसिंह को किस रूप में प्राप्त हुए थे, यह निश्चित न कर सकने के फलस्वरूप ही इस घराने के पिछले इतिहासकारों ने रामसिंह के अधिकार से इन परगनों के निकल जाने के अनेक भ्रमपूर्ण मनगढ़न्त कारण बताए हैं।

रतन० (पृ० ५३) में एक कारण यह बताया गया है कि रतनसिंह ने अपने जीवनकाल में ही अपने अधिकार का बहुत सा प्रदेश अपने छोटों पुत्रों को जागीर में दे दिया था। किन्तु परिशिष्ट--१ में पहिले यह बताया जा चुका है कि अपनी जागीर को इस प्रकार बाँटना रतनसिंह के अधिकार की बात न थी।

रतन० (पृ०५४) के अनुसार इसका दूसरा कारण रतनसिंह के विरोधी औरंगज़ेब का इस गृह-युद्ध में सफल होकर मुग़ल सम्राट् होना था। रतलाम० (पृ०७) के ही आधार पर रेऊ ने भी (प्राचीन०, ३, पृ० ३६४) लिखा है कि "कहीं-कहीं पर लिखा मिलता है कि रतनसिंह की मृत्यु के बाद औरंगज़ेब ने राज्य पर बैठते ही उसके वंशजों से राज्य का बहुत सा भाग छीन लिया था।" इस गृह-युद्ध में औरंगज़ेब का सामना करने वालों में प्रमुख जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह एवं रतनसिंह की ही तरह औरंगज़ेब के विरुद्ध लड़ मरने वाले कोटा के मुकुन्दसिंह हाड़ा, बूंदी के छत्रसाल हाड़ा और किशनगढ़ के रूपसिंह राठौड़ के वंशजों को भी उनके विरोध के फलस्वरूप किसी प्रकार की हानि न पहुँची। ऐसी हालत में केवल रतनसिंह राठौड़ के पुत्र रामसिंह के प्रति ही औरंगज़ेब की अप्रसन्नता की बात सर्वथा अनैतिहासिक तथा पूर्णतया निराधार अनुमान-मात्र साबित होती है।

मुराद को क़ैद करने के अनन्तर कुछ दिनों बाद जिस तत्परता के साथ औरंगज़ेब ने स्वयं ही रामसिंह को नया मनसब देकर उसे रतलाम की वंशपरम्परागत जागीर पर नियुक्त किया, उससे ही उपर्युक्त अनुमानों की असत्यता स्पष्ट हो जाती है।

जुलाई, १६५८ ई० में भेजे हुए औरंगज़ेब के हुक्म के अनुसार रतलाम से रवाना होकर रामसिंह शाही दरबार में कब और कहाँ पहुँचा था, इसका कोई ब्यौरा प्राप्त नहीं है। अजमेर के पास दारा को अन्तिम बार हराकर जब मार्च १८, १६५९ ई० को औरंगज़ेब दिल्ली लौटने के लिए रवाना हुआ, तब तक तो रामसिंह अवश्य ही औरंगज़ेब की सेवा में उपस्थित हो गया होगा। औरंगज़ेब मई १२ को दिल्ली पहुँचा और जून ५ के दिन बड़ी शान-शौकत के साथ दिल्ली में तख़्त-ताऊस पर आरूढ़ हुआ। कोई ग्यारह माह पहिले राज्यारोहण का दस्तूर औरंगज़ेब कर चुका था, किन्तु उस समय न तो औरंगज़ेब को अवकाश ही था और न वह अवसर ही इस प्रकार के जलसों के उपयुक्त था। राज्याभिषेक के ये जलसे अगस्त १९, १६५९ ई० तक चलते रहे।[11] इस अवसर पर दिल्ली में उपस्थित रहकर रामसिंह ने भी उन सारे दरबारों और जलसों में भाग लिया होगा, यह बात निश्चितरूप से कही जा सकती है। इन जलसों के बाद भी कोई ढाई माह तक औरंगज़ेब दिल्ली में ही ठहरा रहा, और रामसिंह भी निरन्तर शाही दरबार में उपस्थित रहा।

इस समय सुदूर बंगाल में औरंगज़ेव का प्रधान मन्त्री, मीर जुमला, औरंगज़ेब के भाई शुजा का पीछा कर रहा था। मीर जुमला के साथ औरंगज़ेव का ज्येष्ठ पुत्र सुलतान मुहम्मद भी था। जून ८, १६५९ ई० को यह शाहज़ादा शाही सेना छोड़ कर शुजा से जा मिला, जिससे औरंगज़ेव का पक्ष कुछ निर्वल हो गया। इन सारी घटनाओं का विवरण जब औरंगज़ेब को ज्ञात हुआ तब उसने तत्काल

---

[11] **आ० ना०, पृ० ३३५, ३४७, ३५१, ३६२, ३६३; औरंग०, १-२, पृ० ६१५, ६२४।**

ही मीर जुमला की सहायता के लिए सेना, तोपें और युद्ध की सामग्री भिजवाने का प्रबन्ध किया। आवश्यकता पड़ने पर जल्दी ही वह स्वयं भी बंगाल जा पहुँचे, इस उद्देश्य से औरंगज़ेब नवम्बर १३, १६५९ ई० को दिल्ली से इलाहाबाद के लिए रवाना हुआ।[12]

इन्हीं दिनों अवध सूबे के अन्तर्गत बैसवाड़े नामक प्रदेश में लूट-मार और उपद्रव के समाचार भी औरंगज़ेब के पास पहुँचे थे। इस प्रदेश में बैस राजपूतों का प्राधान्य होने के कारण ही वह बैसवाड़ा कहलाता था। इन्हीं बैस राजपूतों एवं अन्य उपद्रवियों का एक दल बहादुर पंचकोटी के नेतृत्व में सारे बैसवाड़े में लूटमार कर रहा था, जिससे उस प्रदेश में सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। औरंगज़ेब ने इन विद्रोहियों को दबाकर बैसवाड़े में शान्ति स्थापित करने के लिए बहादुर ख़ाँ के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सैनिक दल बैसवाड़े की ओर भेजा। बहादुर ख़ाँ के साथ भेजे जाने वाले अन्य सेनानायकों में रामसिंह राठौड़ भी था। यह सैनिक-दल नवम्बर १३ को सम्राट् से बिदा लेकर बैसवाड़े के लिए रवाना हुआ। रवाना होते समय अन्य सेना-नायकों के साथ रामसिंह राठौड़ को भी उसके मनसब के अनुरूप ख़िलअत मिला।[13]

बहादुर ख़ाँ ससैन्य बैसवाड़े पहुँचा और वहाँ बहादुर पञ्चकोटी के उपद्रव को दबाकर उसने सारे प्रदेश में शान्ति स्थापित कर दी। औरंगज़ेब ने बहादुर ख़ाँ की इस सफलता का विवरण जनवरी १६, १६६० ई० को सुना। इधर बंगाल में शाही सेना को सफलता प्राप्त

---

[12] औरंग०, १-२, पृ० ५६६-९, ५८७-९; ३, पृ० ६। आ० ना०, पृ० ४०७, ५११, ४५०।

[13] आ० ना०, पृ० ४५०-१; औरंग०, ३, पृ० २१-२२।

होने लगी थी, एवं औरंगज़ेब ने स्वयं इलाहाबाद जाना आवश्यक नहीं समझा। वह तो शमसाबाद के पड़ाव से ही दिल्ली की ओर लौट पड़ा। किन्तु इस समय बहादुर ख़ाँ के समान सेनानायक का इलाहाबाद में ठहरे रहना उसने आवश्यक समझा, एवं औरंगज़ेब ने तग़य्युर ख़ाँ को बदल कर उसके स्थान पर बहादुर ख़ाँ को इलाहाबाद का सूबेदार नियुक्त किया। बहादुर ख़ाँ को हुक्म हुआ कि वह सीधा ही इलाहाबाद चला जावे। रामसिंह की नियुक्ति भी बहादुर ख़ाँ के साथ की गई, एवं अपनी सूबेदारी का काम सभाँलने को जब बहादुर ख़ाँ इलाहाबाद गया तब रामसिंह भी उसके साथ ही बना रहा। बैसवाड़े के चढ़ाई पर गए हुए अन्य सेनानायक लौट कर अप्रेल २८, १६६० ई० को दिल्ली पहुँचे।[१४]

मई १६६० ई० के प्रारम्भ से ही औरंगज़ेब के शासनकाल का तीसरा जुलूसी साल शुरू हो गया था, एवं इसकी ख़ुशी में मई २४, १६६० ई० से दिल्ली में उत्सव मनाए जाने लगे। ये उत्सव प्रारम्भ हुए उसी दिन (मई २४ को) बंगाल से शाही सेना की पूर्ण सफलता के समाचार प्राप्त हुए। मीर जुमला के हाथों निरन्तर पराजित और बुरी तरह से खदेड़ा हुआ शुजा अन्त में मई ६ को ढाका से अराकान की ओर भाग खड़ा हुआ, जिससे सारे बंगाल पर औरंगज़ेब का अधिपत्य हो गया। बंगाल पर जीत की इस ख़बर ने जलसे की खुशी को दुगुना कर दिया। इस अवसर पर औरंगज़ेब ने कई एक को इनाम और मनसब में तरक्क़ियाँ दीं। रामसिंह इस समय इलाहाबाद में था, किन्तु औरंगज़ेब उसे भी भूला नहीं। रामसिंह का मनसब एक हज़ारी ज़ात—आठ सौ सवारों का था; उसमें दो सौ सवार

[१४] आ० ना०, पृ० ४६१-२, ४६५, ४७६; औरंग०, ३, पृ० ६।

बढ़ा कर एक हज़ारी ज़ात—एक हज़ार सवार का कर दिया गया।[१५] इस समय रामसिंह बहादुर ख़ाँ के साथ इलाहाबाद में कब तक रहा इसका कोई भी विवरण नहीं मिलता है। इन अगले चार वर्षों में रामसिंह कहाँ रहा और उसने क्या किया यह सब अज्ञात ही है। सन् १६६४ ई० के प्रारम्भ में वह लौट कर रतलाम चला आया होगा। मिर्ज़ा राजा जयसिंह के साथ शाही सेनामें सम्मिलित होकर दक्षिण जाने का हुक्म उसे रतलाम में ही मिला था ऐसा अनुमान होता है।[१६]

२. मिर्ज़ा राजा जयसिंह के साथ दक्षिण में—शिवाजी और बीजापुर पर चढ़ाइयाँ; रामसिंह की पुत्री का विवाह; रामसिंह की दिन-चर्य्या, आदि; १६६४-१६७८ ई०

इधर कई वर्षों से मरहठों का नेता शिवाजी सुदूर महाराष्ट्र में सर्वत्र मुग़ल साम्राज्य के प्रति विरोध एवं विद्रोह की आग फैला रहा था। सुप्रसिद्ध मुग़ल सेनापति शायस्ता ख़ाँ भी उसे दबाने में सफल नहीं हुआ था। सन् १६६४ ई० के प्रारम्भ में शिवाजी ने सूरत को पहली बार लूटा। तब तो शिवाजी को दबाने के लिये अपने सर्वश्रेष्ठ हिन्दू और मुसलमान सेनापतियों को एक बड़ी सेना के साथ दक्षिण भेजने का औरंगज़ेब ने निश्चय किया, और सितम्बर ३०, १६६४ ई० के दिन उसने आम्बेर के मिर्ज़ा राजा जयसिंह को इस सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त किया। दिलेर ख़ाँ, दाऊद ख़ाँ क़ुरेशी, राजा रायसिंह

---

[१५]आ० ना०, पृ० ४८१, ४८३; औरंग०, १-२, पृ० ४८६, ६०६-७।

[१६]राम० (पृ० ७२-४) में यह स्पष्ट नहीं लिखा है कि दक्षिण जाने सम्बन्धी शाही हुक्म का फ़रमान रामसिंह को कहाँ मिला था, किन्तु वहाँ दिए गए विवरण से यहीं अनुमान होता है कि उस समय वह रतलाम ही में था।

सिसोदिया, राजा सुजानसिंह बुन्देला, आदि अनेकानेक प्रमुख सेना-नायक इस सेना में नियुक्त किये गये।[१७] अन्य राजपूत सेनानायकों के साथ ही रामसिंह राठौड़ और उसके छोटे भाई करण राठौड़ को भी हुक्म मिला कि वे अपने-अपने सैनिक लेकर दक्षिण जाने वाली इस सेना में सम्मिलित हो जावें। इधर कुछ समय से करण राठौड़ की भी नियुक्ति शाही मनसबदारों में हो गई थी, और अपनी वीरता के कारण ऐसे महत्वपूर्ण अवसरों पर शाही सेना में उसे भी सम्मिलित किया जाने लगा था।

इस समय रामसिंह रतलाम में ही था, एवं जयसिंह के साथ जा मिलने का यह शाही हुक्म रतलाम में ही उसे मिला। कुछ ही माह बाद दिसम्बर १६६४ ई० में जब जयसिंह ससैन्य मालवा में आया तो रामसिंह भी अपने साथियों के साथ वहीं शाही सेना में जा मिला।[१८] यहीं जयसिंह ने अपने अन्य साथी सेनानायकों को भी एकत्र कर चढ़ाई की पूरी तैयारी की, और तब जनवरी ९, १६६५ ई० के दिन उसने ससैन्य हण्डिया के पास नर्मदा नदी पार की; उसके साथ

---

[१७]औरंग०, ४, पृ० ७४-७५; शिवाजी०, पृ० १०५; आ० ना०, पृ० ८६८।

[१८]राम० में शिवाजी के विरुद्ध मिर्जा राजा जयसिंह की इस चढ़ाई और उसमें रामसिंह के भी सम्मिलित होने का कोई उल्लेख नहीं है। राम० के अनुसार बीजापुर पर चढ़ाई कर जब जयसिंह दक्षिण गया, तब ही शाही आज्ञानुसार रामसिंह भी उसके साथ जा मिला था। राम०, पृ० ७२-७४, ८६। किन्तु सन् १६६४ ई० में इस बार शिवाजी के विरुद्ध जयसिंह के साथ गया हुआ रामसिंह बीजापुर की चढ़ाई के बाद ही उत्तरी भारत के लिए लौटा। इस चढ़ाई में कवि ने केवल बीजापुर के विरुद्ध किए गए युद्धों का ही उल्लेख कर यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है।

ही रामसिंह राठौड़, करण राठौड़ और उनके सैनिक दक्षिणी भारत की ओर बढ़े। सेना को लेकर जयसिंह बड़ी तेज़ी से महाराष्ट्र की ओर चला। फ़रवरी १०, १६६५ ई० को औरंगाबाद पहुँच कर वहाँ शाहज़ादे मुअज़्ज़म से मिला और तीन ही दिन बाद वहाँ से वह पूना के लिए चल पड़ा। जयसिंह और उसकी सेना मार्च ३ को पूना पहुँचे। जोधपुर का महाराजा जसवन्तसिंह इस समय पूना में नियुक्त था; एवं जयसिंह को वहाँ का सारा भार सौंप कर मार्च ७ को जसवन्तसिंह उत्तरी भारत को लौट पड़ा।[११]

पूना पहुँच कर अपनी सेना को विश्राम देने तथा महाराष्ट्र की राजनैतिक और सैनिक परिस्थिति को समझने-बूझने में जयसिंह ने पूरे दस दिन बिताए। तब उसने सासवड़ में अपना डेरा डाल कर पुरन्धर किले का घेरा लगाने का निश्चय किया। रामसिंह राठौड़, करण और उनके सैनिक भी जयसिंह के साथ ही पूना पहुँचे और मार्च १४ को जब जयसिंह पूना से सासवड़ की ओर चला तब वे भी पुरन्धर की ओर बढ़े। किन्तु पूना से चलने के दूसरे दिन ही जयसिंह ने शिवाजी के लोहगढ़ आ पहुँचने का विवरण सुना, जिससे उसे कुछ दिन तक वहीं पूना के पास ही ठहर कर आवश्यक सैनिक प्रबन्ध करना पड़ा। अन्त में मार्च २३ को रवाना होकर लोनी होता हुआ मार्च २९ के दिन सासवड़ से केवल एक ही पड़ाव की दूरी पर वह जा पहुँचा। इस समय रामसिंह राठौड़ और उसके सैनिक सेनानायक दाऊद ख़ाँ के साथ थे। इस पड़ाव से जयसिंह ने दिलेर ख़ाँ को आगे भेजा कि वह अगले पड़ाव का उचित प्रबन्ध कर रखे। दाऊद ख़ाँ और उसके साथियों को रक्षार्थ उसी पड़ाव पर पीछे छोड़कर मार्च ३० को जयसिंह

---

[११] औरंग०, ४, पृ० ७५; शिवाजी०, पृ० १०५-६।

आगे बढ़ा। उधर दिलेर ख़ाँ भी अपने सैनिकों के साथ आगे बढ़ता हुआ पुरन्धर के पास तक जा पहुँचा, जहाँ मरहठे सैनिकों के साथ उसकी मुठभेड़ हो गई। दिलेर ख़ाँ के इस युद्ध का विवरण जब जयसिंह को ज्ञात हुआ तो उसने अपने पुत्र कीरतसिंह के सेनापतित्व में कोई तीन हज़ार सवार भेजे, और उधर दाऊद ख़ाँ भी अपने साथी सेनानायकों को लेकर दिलेर ख़ाँ की सहायता के लिए सीधा ही जा पहुँचा। यों रामसिंह राठौड़ और उसके सैनिक भी मार्च ३० को ही पुरन्धर क़िले के पास जा पहुँचे। दूसरे दिन जयसिंह भी वहाँ आ गया और शाही सेना ने पुरन्धर का घेरा डाला। जयसिंह के मोर्चे की दाहिनी ओर राजा नरसिंह गौड़ के साथ ही करण राठौड़ नियुक्त किया गया। पुरन्धर क़िले के पीछे की खिड़की के सामने ही दाऊद ख़ाँ ने अपना मोर्चा बनाया। रामसिंह राठौड़ और उसके सैनिक भी दाऊद ख़ाँ के साथ इस मोर्चे में जा डटे।[२०]

मार्च ३१ से लेकर नवम्बर मास तक रामसिंह राठौड़, करण राठौड़ और उनके सैनिक पुरन्धर किले के सामने ही डटे रहे। इस अरसे में वे कब, कहाँ और किसकी कमान में रहे तथा उन्होंने किस-

---

[२०] औरंग०, ४, पृ० ८०-८४; शिवाजी०, पृ० ११३-७; आ० ना०, ८६१।

आ० ना० में रामसिंह का उल्लेख करते समय उसके राठौड़ होने का खुलासा नहीं किया। भारतवर्षीय इतिहास में रामसिंह राठौड़ अधिक सुप्रसिद्ध नहीं था, एवं यह निश्चित करते समय कि यह रामसिंह कौन-सा था, सर यदुनाथ सरकार को उसके कोटा के सुप्रसिद्ध वीर रामसिंह हाड़ा होने की आशंका हुई अतएव अपने उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में उन्होंने इसी का शंकापूर्ण उल्लेख किया है। किन्तु रामसिंह हाड़ा सन् १६८५ ई० के बाद ही अपने पिता के साथ शाही सेना में सम्मिलित हुआ था। डाक्टर मथुरालाल कृत 'कोटा राज्य का इतिहास', प्रथम भाग, पृ० २०२।

किस युद्ध या आक्रमण में भाग लिया इसका कोई भी ब्यौरे-वार विवरण नहीं मिलता है ।

मुग़ल सेना पुरन्धर किले का घेरा डाले पड़ी थी। उसी के साथ अप्रेल १४, १६६५ ई० के दिन शाही सेना के एक दल ने रुद्रमाल किले पर अधिकार कर लिया । यही रुद्रमाल किला बाद में 'वज्रगढ़' नाम से प्रसिद्ध हुआ। शिवाजी ने भी अब मुग़लों के साथ चलने वाले इस निरन्तर युद्ध का अन्त करना चाहा, एवं पुरन्धर किले के सामने लगे हुए शाही सेना के शिविर में आकर शिवाजी ने जून ११ के दिन जयसिंह से भेंट की और तत्काल ही सन्धि की बातचीत भी प्रारम्भ कर दी, जिसके फलस्वरूप दूसरे दिन ही मरहठों ने पुरन्धर किला मुग़लों को सौंप दिया। सन्धि की सारी शर्तें तय होकर जून १३ के दिन दोनों दलों द्वारा स्वीकृति हो गईं। "पुरन्धर की इस सन्धि" ने शिवाजी और मुग़लों के वैमनस्य का कुछ समय के लिए तो अन्त कर दिया। औरंगज़ेब की स्वीकृति की सूचना सितम्बर माह के अन्तिम दिनों में पुरन्धर पहुँची, एवं शिवाजी ने पुरन्धर पहुँच कर सितम्बर ३०, १६६५ ई० के दिन शाही फ़रमान, अन्य पुरस्कार, आदि स्वीकार किये।[२१]

शिवाजी के साथ चलने वाले युद्ध का अन्त हो जाने पर भी जयसिंह शाही सेना के साथ पुरन्धर किले के पास ही डेरा डाले बीजापुर पर चढ़ाई की तैयारियाँ करने लगा। जयसिंह जब उत्तरी भारत से रवाना हुआ था, तभी औरंगज़ेब ने उसे बीजापुर पर भी चढ़ाई करने का हुक्म दिया था। किन्तु जयसिंह ने तब शिवाजी और बीजापुर पर एक साथ ही चढ़ाई करना उचित नहीं समझा था।

---

[२१] **औरंग०, ४, पृ० ८४-९८; शिवाजी०, पृ० ११७-१३२; हाउस०, पृ० १०४-१२८।**

शिवाजी के साथ सन्धि हो जाने के बाद अब कोई भी बाधा नहीं रह गई थी, उलटे पुरन्धर की सन्धि के अनुसार तो अब बीजापुर के विरुद्ध इस चढ़ाई में जयसिंह की सहायता करना शिवाजी के लिए आवश्यक हो गया था। बीजापुर पर इस चढ़ाई के लिए यों तो अनेकानेक कारण बताए जा सकते हैं, किन्तु प्रधान और एक-मात्र ठीक कारण बीजापुर को मुग़ल साम्राज्य के आधीन करना ही कहा जा सकता है।[२२]

जयसिंह चाहता था कि चढ़ाई की पूरी-पूरी तैयारी कर वह एकाएक बीजापुर पर हमला कर दे जिससे उसे आसानी से विजय प्राप्त हो जावे। परन्तु तदर्थ आवश्यक द्रव्य के लिए उसे बाट जोहना पड़ रही थी। नवम्बर १२, १६६५ ई० को यह खज़ाना जयसिंह के पास पहुँचा और उसके एक सप्ताह बाद ही वह शाही सेना को लेकर बड़ी तेज़ी से बीजापुर की ओर चल पड़ा। बीजापुर पर चढ़ाई करने वाली इस शाही सेना में रामसिंह राठौड़ और करण राठौड़ की भी नियुक्ति की गई थी।[२३] यों कोई साढ़े सात महीने के लगभग पुरन्धर किले के आस-पास बिता कर नवम्बर १९, १६६५ ई० को ये दोनों भाई अपने सैनिकों के साथ वहाँ से चल पड़े।

शाही सेना को लेकर एक माह तक तो जयसिंह सफलतापूर्वक बिना किसी विरोध के आगे बढ़ता ही गया। पुरन्धर से फलटण होता हुआ दिसम्बर १८, १६६५ ई० को वह मंगलविड़े पहुँचा, और वहाँ से भी आगे बढ़ा। दिसम्बर २५ को पहली बार शाही सेना की दुश्मन के साथ मुठभेड़ हुई; शाही सेना को इस युद्ध में काफ़ी

---

[२२] औरंग०, ४, पृ० ११८-१२१; शिवाजी०, पृ० १३२-३।

[२३] औरंग०, ४, पृ० १२८-१२६; आ० ना०, पृ० ६८८।

हानि पहुँची, फिर भी दिलेर खाँ के प्रयत्नों से शत्रुओं को हार मान कर भाग जाना पड़ा। किन्तु दुश्मनों का विरोध बढ़ता जा रहा था और शाही सेना को निरन्तर उनका सामना करना पड़ रहा था। ऐसी परिस्थिति में किसी तरह रुकते-बढ़ते शाही सेना के साथ जयसिंह दिसम्बर २९, १६६५ ई० को बीजापुर से १२ मील की दूरी तक जा पहुँचा। किन्तु अब आगे बढ़ना सम्भव नहीं था। बीजापुर शहर के बचाव का पूरा-पूरा प्रबन्ध कर लिया गया था, और जयसिंह के पास क़िले का घेरा डाल उस पर आक्रमण करने के लिए आवश्यक तोपें भी न थीं। बीजापुर के आसपास चारों ओर छः-छः मील तक सारा प्रदेश बीजापुरियों ने बरबाद कर दिया था कि कहीं भी दाना-पांनी देख पड़ना सर्वथा असम्भव हो गया। उधर बीजापुरियों के सैनिक-दल शाही सेना के चारों ओर चक्कर काटने लगे। जयसिंह के साथी शाही सेनानायकों ने भी उसे वापस लौटने की सलाह दी। एवं जनवरी ५, १६६६ ई० तक वहीं ठहर कर जयसिंह ससैन्य लौट पड़ा।[२४]

किन्तु सौभाग्य ने अब भी जयसिंह का साथ नहीं दिया। बीजापुरी सैनिक-दल शाही सेना का निरन्तर पीछा कर रहे थे और अवसर पाकर हमला करने से चूकते न थे। जयसिंह उत्तर की ओर लौट रहा था। जनवरी ११ को मंगलविड़े के पास पहुँचा, और उसी दिन उसे बीजापुरियों से युद्ध भी करना पड़ा। चार-पाँच दिन तक यहीं ठहर कर वह परेण्डा की ओर लौटने लगा। राह में जनवरी २२ के दिन भीमा नदी के तट पर लोहारी नामक स्थान में शाही सेना और बीजापुरियों की पुनः मुठभेड़ हुई। दोपहर के समय

---

[२४] औरंग०, ४, पृ० १२९-१३५; आ० ना०, पृ० ९८८-९९९।

अपने पड़ाव पर पहुँच कर जब जयसिंह अपने सामान-असबाब तथा शाही ख़ज़ाने की रक्षा का प्रबन्ध कर रहा था, तभी बीजापुरी सैनिक-दल ने आक्रमण कर दिया। सामने पड़ने वाले नाले के पीछे शाही सेना ने अपना मोर्चा स्थापित कर शत्रु का सामना किया। दाऊद ख़ाँ दाहिनी ओर और दिलेर ख़ाँ बाईं तरफ़ था। जयसिंह समय-समय पर उनकी सहायता करता रहा। अन्त में दिलेर ख़ाँ ने उन्हें मार भगाया। किन्तु तभी शत्रुओं के एक दूसरे दल ने सीधा जयसिंह पर आक्रमण किया। जयसिंह के पुत्र कीरतसिंह और फ़तेह जंग ख़ाँ ने उनका सामना किया। जयसिंह का विश्वस्त सेनानायक हरनाथ चौहान वीरतापूर्वक लड़ता हुआ काम आया। "सैय्यद मुनव्वर ख़ाँ, रतन राठौड़ का लड़का रामसिंह और उसका भाई (करण) जो गोल सेना में नियुक्त थे, आगे बढ़े और दुश्मनों पर टूट पड़े।" घमासान युद्ध हुआ और अन्त में शत्रुओं को हार कर भागना पड़ा। इस युद्ध में शाही सेना के १९० सैनिक मारे गए और २५० के लगभग घायल हुए। शत्रुओं की हानि बहुत अधिक हुई; ४०० से भी अधिक मारे गए और एक हज़ार के लगभग घायल हुए। रामसिंह की वीरता का उल्लेख करते हुए जयसिंह ने औरंगज़ेब को निवेदन किया—"रतनसिंह राठौड़ के लड़के रामसिंह ने युद्धक्षेत्र में बड़ी वीरता दिखाई, एवं निवेदन है कि उसके मनसब में पाँच सदी ज़ात—दो सौ सवारों की वृद्धि की जावे। आशा है कि मेरी यह प्रार्थना स्वीकार होगी।" जयसिंह की यह प्रार्थना स्वीकृत हुई या नहीं यह ज्ञात नहीं हो सका है।[२५]

---

[२५] औरंग०, ४, पृ० १३५-१३९; आ० ना०, पृ० ९९९-१००६; हफ़्त अंजुमन (बनारस वाली प्रति), पृ० ८९-९२।

लोहारी का युद्ध किस दिन हुआ, इस बाबत विभिन्न इतिहासकारों में

लोहारी से चलकर जनवरी २७, १६६६ ई० को जयसिंह ससैन्य सुलतानपुर पहुँचा। इन सब युद्धों के बाद जयसिंह ने अपनी सेना को विश्राम देना आवश्यक समझा, एवं परेण्डा से १६ मील दक्षिण में सीना नदी के तीर पर स्थित सुलतानपुर में ही उसने डेरा डाल दिया और फ़रवरी १९ तक वहीं ठहरा रहा। फ़रवरी २० को वहाँ से ससैन्य रवाना होकर आगामी साढ़े तीन माह जयसिंह भीमा-मंजीरा के इस प्रदेश में घूम-घूम कर शत्रुओं को दबाने का प्रयत्न करता रहा। शाही सेना ने चार घमासान लड़ाइयाँ भी लड़ीं, किन्तु फिर भी शत्रु को सफलतापूर्वक दबाने में जयसिंह सर्वथा असमर्थ ही रहा।[३६]

इस सारे अरसे में रामसिंह राठौड़ और करण राठौड़ भी अपने सैनिकों को लेकर जयसिंह के साथ ही बने रहे। पहली दो लड़ाइयाँ मार्च २९ के लगभग और तीसरी अप्रेल २, १६६६ ई० को लड़ी गईं, किन्तु उनमें इन दोनों भाइयों ने कोई भाग लिया था या नहीं और

मतभेद है। आ० ना० के अनुसार यह युद्ध २६ रजब—जनवरी २२ को हुआ था। किन्तु हफ़्त अंजुमन में इस युद्ध की तारीख २९ रजब—जनवरी २५ लिखी है। सर यदुनाथ ने आ० ना० में दी हुई तारीख को सही मान कर स्वीकार किया है।

नक़्शों में लोहारी नामक स्थान का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। सुलतानपुर और मंगलविड़े के बीच के प्रदेश में कहीं यह स्थान होगा। औरंग०, ४, पृ० १३५ फु० नो०।

सन् १६६० ई० में रामसिंह के मनसब में वृद्धि हुई थी; उसके बाद सितम्बर १६८० ई० में ही रामसिंह के मनसब का कोई उल्लेख मिलता है। इस बीच कब-कब उसके मनसब में क्या-क्या घटा-बढ़ी हुई इसका कोई भी उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है।

[३६] औरंग०, ४, पृ० १४१-२; आ० ना०, पृ० १००७-१०२१।

अगर वे युद्धों में सम्मिलित हुए थे तो उन्होंने क्या किया इसका कोई भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। चौथा युद्ध मई ४ को हुआ था। लाटूर से चलकर जयसिंह ने शाही सेना के साथ अप्रेल १६ को तिर्णा नदी के किनारे मुक़ाम लगाया। तेरह दिन तक वहाँ ठहर कर उसी नदी के किनारे-किनारे वह उत्तर-पश्चिमी दिशा में आगे बढ़ा और मई ४ के दिन परगना धोकी के अन्तर्गत थेअर क़िले के पास जा पहुँचा और वहीं पड़ाव किया। यह क़िला तुलजापुर से कोई २४ मील उत्तर में तिर्णा नदी के दक्षिणी तट पर बना हुआ था। शाही सेना वहाँ पहुँची ही थी कि बीजापुर एवं गोलकुण्डा की सम्मिलित सेनाओं के उस ओर बढ़ने की सूचना मिली। जयसिंह ने दिलेर ख़ाँ आदि सेनानायकों को भी सहायतार्थ बुलवा भेजा और उन सबको साथ लेकर वह शत्रुओं का सामना करने को बढ़ा। रामसिंह राठौड़ और करण राठौड़ भी जयसिंह के साथ ही थे। डट कर लड़ाई हुई, जिसमें ये दोनों भाई वीरतापूर्वक लड़ते हुए घायल हुए। अन्त में शत्रु-सेना को हार कर लौटना पड़ा। इस युद्ध के बाद कुछ समय तक तो इन दोनों आहत वीर भाइयों को विश्राम लेना पड़ा होगा।[२७]

इस युद्ध के कुछ समय बाद तक तो जयसिंह भी शत्रुओं का पीछा करते रहने का प्रयत्न करता रहा, किन्तु अन्त में उसने अनुभव किया कि शाही सेना इतनी थक चुकी थी कि वह उसका साथ नहीं दे सकेगी। बरसात का मौसम भी अधिक दूर न था, एवं औरंगज़ेब ने भी जयसिंह को हुक्म दिया था कि वह औरंगाबाद को लौट आवे। अतएव मई ३१, १६६६ ई० को भीमा नदी के तट से शाही सेना परेण्डा के लिए लौट पड़ी। जयसिंह के साथ ही रामसिंह राठौड़

---

[२७] औरंग०, ४, पृ० १४१-१४२; आ० ना०, पृ० १०१४।

और करण राठौड़ भी परेण्डा होते हुए भूम नामक स्थान पर जा पहुँचे। बीड़ से पूरे चालीस मील दक्षिण में इस स्थान में जयसिंह सितम्बर २७, १६६६ ई० तक ससैन्य ठहरा रहा। तब वहाँ से रवाना होकर अक्तूबर २० को वह बीड़ पहुँचा और एक माह के लगभग वहाँ ठहर कर औरंगाबाद के लिए रवाना हुआ। शाही सेना के साथ रामसिंह राठौड़ और उसका भाई नवम्बर २६, १६६६ ई० के दिन औरंगाबाद पहुँच गए।[२८]

औरंगाबाद चले आने पर जयसिंह तो मई, १६६७ ई० तक वहीं बना रहा, किन्तु रामसिंह राठौड़ को सन् १६६७ ई० के प्रारम्भिक महीनों में ही औरंगाबाद से रतलाम वापस लौट आना पड़ा, क्योंकि उसकी एक-मात्र कन्या अमर कुँअर[२९] का विवाह मेवाड़ के महाराणा राजसिंह के द्वितीय पुत्र सरदारसिंह के साथ इसी वर्ष में होने वाला था। सरदारसिंह के और भी विवाह पहिले हो चुके थे,[३०] पुनः ख्यातों के अनुसार इस समय अमर कुँअर की उम्र नौ वर्ष के लगभग ही थी। किन्तु उन दिनों राजपूतों में बहुविवाह तथा बालविवाह की कुप्रथाएँ सर्वत्र प्रचलित थीं, एवं इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

महाराणा अपने पुत्र की इस बरात में कोई चार हज़ार सवार रतलाम ले जाना चाहता था। रतलाम जाने के लिए शाही प्रदेश में होकर ससैन्य गुज़रने के वास्ते महाराणा ने औरंगज़ेब की आज्ञा

---

[२८] औरंग०, ४, पृ० १४१-१४३, १४८; आ० ना०, पृ० १०१८-१०२१।

[२९] गुरूजी०; बड़वों की ख्यातें। राणी० में इसका नाम हरकुँअर लिखा है।

[३०] सरदारसिंह का एक विवाह सन् १६६३ ई० (सं० १७२० वि०) में बूँदी के रावराजा भावसिंह के छोटे भाई भगवन्तसिंह की पुत्री जसवन्त कुँअर के साथ हुआ था। वंश०, ३, पृ० २७६५।

चाही, और प्रार्थना की कि मालवा सूबा के शाही कर्मचारियों को हुक्म हो जावे कि वे उदयपुर से जाने वाली इस बरात के साथ कोई रोक-टोक न करें। महाराणा राजसिंह की यह अर्ज़ी जून ३०, १६६७ ई० को औरंगज़ेब के सम्मुख पेश हुई। औरंगज़ेब ने बरात में इतने अधिक सवार ले जाना अनावश्यक समझा और हुक्म दिया कि चार-पाँच सौ सवारों से ही काम चल जावेगा।[११] यह विवाह सन् १६६७ ई० के अन्तिम महीनों में सम्पन्न हुआ होगा। इस विवाह सम्बन्धी विशेष विवरण प्राप्य नहीं है।

किन्तु यह विवाह किसी भी प्रकार सुखदायक नहीं हुआ। राजसिंह की रानियाँ अपने-अपने पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बनाने के लिए निरन्तर षड्यन्त्र रचा करती थीं, जिनके फलस्वरूप पहिले राजसिंह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुलतानसिंह की हत्या की। तब सरदारसिंह राज्य का उत्तराधिकारी बना। कहा जाता है कि अब तो सरदारसिंह की जननी, जैसलमेर की भटयाणी रानी चन्द्रमती ने पुरोहित के साथ मिल कर अपने पति की ही हत्या करवाने का षड्यन्त्र किया, जिससे कि सरदारसिंह तत्काल ही मेवाड़ का शासक बन सके। किन्तु योगायोग से इस षड्यन्त्र का भेद निश्चित समय से कुछ दिन पहिले ही खुल गया। यह सारा हाल जान कर राजसिंह ने अपनी इस भटयाणी रानी और उस षड्यन्त्रकारी पुरोहित का स्वयं ही वध किया। सरदारसिंह तो इस षड्यन्त्र से पूर्णतया अनभिज्ञ और सर्वथा निरपराध था। किन्तु अपने लिए अपनी माता द्वारा रचे गए इस षड्यन्त्र का विवरण सुन कर उसे बहुत ही आत्म-ग्लानि हुई। पिता को अपना मुँह न दिखाने का

---

[११] जय० अख़० औरं०, १० (१), पृ० ३४३।

निश्चय किया और विष खाकर सरदारसिंह ने आत्मघात किया।[12]

उदयपुर में इस प्रकार जब सरदारसिंह की मृत्यु हुई तब अमर कुँअर रतलाम ही थी। उस इग्यारह-वर्षीय बालिका की माँग का सिन्दूर यों पोंछा गया। रतलाम में ही सोमवार, आषाढ़ शु० ५, १७२७ वि० (जून १३, १६७० ई०) के दिन अमर कुँअर सती हुई।[13]

अपनी पुत्री के विवाह के बाद रामसिंह कब तक रतलाम रहा

---

[12] इस घटना के विस्तृत विवरण के लिए देखो—वीर०, २, पृ० ४४५-६, ४७५-६; उदय०, २, पृ० ५७० फु० नो० ६; वंश०, ३, पृ० २८३०-३।

[13] अमर कुंअर के सती होने की तिथि गुरूजी० के आधार पर दी गई है। गुरूजी० में दिये हुए संवत् को श्रावणादि मानें तो अमरकुँवर के सती होने की तारीख़ सन् १६७६ ई० में आती है। 'इण्डियन एफ़ीमेरीज़' में इस वर्ष द्वितीय ज्येष्ठ मास का होना लिखा है, जो सम्भवतः गणनाभेद के कारण न भी हो; तदनुसार इस सती की तारीख़ हो सकती है, द्वितीय ज्येष्ठ शु० ५—सोमवार, जून २, १६७६ ई०, या आषाढ़ शु० ५—गुरुवार, जुलाई ३, १६७६ ई०।

वंश० (३, पृ० २८३३) के अनुसार सरदारसिंह की मृत्यु सन् १६६८ ई० के अक्तूबर मास में ता० ६ (आश्विन सुदी पूर्णिमा) या ता० २६ (कार्तिक सु० १) को हुई थी।

राजसमुद्र तालाब बनाने के लिए बताए जाने वाले विभिन्न कारणों में से एक कारण अपने पुत्र, रानी एवं पुरोहित की इन हत्याओं के पाप-निवारण का भी है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह ठीक नहीं जान पड़ता। राजसमुद्र के बाँध की नींव की खुदाई का कार्य जनवरी १, १६६२ ई० (माघ कृष्णा ७, १७१८ वि०) को प्रारम्भ हुआ था, और रानी तथा पुरोहित की ये हत्याएँ उससे कोई छः-सात साल बाद ही हुई थीं।

अमर कुंअर की इस सती की स्मारकरूप छत्री रतलाम में कालका माता के मन्दिर के पीछे वाले बाग़ में बनी हुई थी। नवम्बर १८७५ ई० में उस छत्री को तोड़-फोड़ कर खुदवा डाला गया। गुरूजी०।

इसका कोई विवरण प्राप्य नहीं है। रामसिंह के अगले इग्यारह वर्षों का इतिहास (१६६७-१६७८ ई०) अन्धकारपूर्ण है। औरंगज़ेब के शासनकाल के प्रारम्भिक दस वर्षों का विस्तृत विवरण 'आलमगीर-नामे' में दिया गया है, परन्तु उसके बाद के वर्षों का उसी प्रकार का ब्यौरेवार इतिहास किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। इन इग्यारह वर्षों के जो भी अख़बार मिलते हैं वे संख्या में बहुत ही थोड़े हैं, और उनमें रामसिंह सम्बन्धी कोई भी उल्लेख नहीं पाया जाता है। यही कारण है कि इन वर्षों में रामसिंह की हलचलों आदि का प्रामाणिक विस्तृत विवरण नहीं लिखा जा सकता है। यत्र-तत्र प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर जो-जो महत्वपूर्ण बातें ज्ञात हो सकी हैं, उनका ही उल्लेख किया जा रहा है।

रतलाम राज्य के अन्तर्गत शेजावता नामक गाँव में एक बावड़ी बनी हुई है, जिसमें रामसिंह राठौड़ का समकालीन एक शिलालेख लगा हुआ है। यह गाँव तब भी रतलाम परगने के अन्तर्गत रामसिंह राठौड़ के आधीन था। इसी कारण उक्त शिलालेख में रामसिंह राठौड़ का तत्कालीन राजा के तौर पर उल्लेख किया गया है। उस शिलालेख से ज्ञात होता है कि गंगागिर नामक एक गुसाँई ने मई ९, १६६६ ई० के दिन इस बावड़ी को बनवाने का काम प्रारम्भ किया और कोई साढ़े चार साल के बाद अक्तूबर, १६७० ई० में जाकर वह पूरी बन कर तैयार हुई। इस बावड़ी को बनवाने में तब कोई इक्कीस हज़ार रुपये लगे थे।[३४]

---

[३४] **रतलाम राज्य में पाए जाने वाले शिलालेखों में यही लेख सबसे पुराना है। शेजावता गाँव आजकल पंचेड़ ठाकुर की जागीर में है, किन्तु इस गाँव का एक हिस्सा अब भी माफ़ी के तौर पर गुसाइयों के अधिकार में है। रतलाम०, पृ०, १५-१६।**

यह पहिले ही लिखा जा चुका है कि सन् १६५६ ई० के लगभग बाँसवाड़ा और रतलाम की सीमा पर रामावत राठौड़ अपना आधिपत्य स्थापित करने का बहुत कुछ प्रयत्न कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सन् १६७० ई० के लगभग उनके ये प्रयत्न सफल हुए। जिस रामसिंह के वंशज होने के कारण ये रामावत राठौड़ कहलाते थे, उसी रामसिंह का पौत्र अमरसिंह राठौड़ इस समय उनका प्रधान व्यक्ति था। उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर रामसिंह राठौड़ ने अमरसिंह को रतलाम परगने में से खेड़ा-टप्पा के कोई साठ गाँव सन् १६७१ ई० में जागीर में दिए।[३१] ये गाँव बाँसवाड़ा की सरहद

---

[३१] खेड़ा की यह जागीर कुशलगढ़ को कब दी गई इस प्रश्न पर दो विभिन्न मत पाए जाते हैं।

(१) एक मत तो यह है कि यह जागीर सन् १७८२ ई० में दी गई। रतलाम० (पृ० १५) एवं 'रूलिंग प्रिन्सेज एण्ड चीफ्स आफ़ राजपूताना' शीर्षक अंग्रेजी प्रकाशनों में यही सन् दिया गया है। किस आधार पर यह सन् ठीक माना गया, इसका कोई निर्देश उनमें नहीं मिलता है।

(२) दूसरा मत है कि यह जागीर अमरसिंह रामावत को मिली थी, जो रामसिंह राठौड़ का समकालीन था। राजपूताना गेजेटियर में दिए गए कुशलगढ़ सम्बन्धी विवरण में यही लिखा है (राजपूताना गेजेटियरर्स, १६०८ ई०, खण्ड २-अ, पृ० १६०)। ओझाजी ने भी इसी बात को ठीक मानकर दुहराया है (बाँसवाड़ा०, पृ० २२६)। गुरूजी० में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है। रतलाम० के उपर्युक्त उल्लेख के विरोध में एक दूसरा उल्लेख उसी ग्रन्थ में (पृ० १५४-१५५) मिलता है जिससे भी इस दूसरे मत का समर्थन होता है। रतलाम राज्य के जागीरदारों की सूची देते हुए वहाँ लिखा है कि खेड़ा-टप्पा की यह जागीर कुशलगढ़ के अमरसिंह राठौड़ को राजा रामसिंह ने सन् १६७१ ई० के लगभग दी थी।

सब बातों पर विचार करने से दूसरा मत ही ठीक जान पड़ता है, एवं उसे स्वीकार किया है।

से मिले हुए रतलाम परगने के प्रदेश में हैं। अमरसिंह रामावत को खेड़ा की यह जागीर देकर रामसिंह राठौड़ ने वर्तमान कुशलगढ़ ठिकाने की नींव डाली।

यह सत्य है कि इन वर्षों की अन्य ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण नहीं मिलता है, परन्तु रामसिंह सम्बन्धी एक काव्य ग्रन्थ मिला है, जिससे रामसिंह के दैनिक जीवन और उसकी रुचि आदि का कुछ-कुछ पता लगता है। "रामचरित्र" शीर्षक इस काव्य की रचना रामसिंह के आश्रित कवि रघुनाथ ने सन् १६७७ ई०

अमरसिंह रामावत की किन विशिष्ट सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप उसे यह जागीर मिली थी इसका कहीं भी कोई खुलासा नहीं मिलता है।

अमरसिंह के बाद उसका भाई अखेराज इस जागीर का मालिक बना। इसी अखेराज को सन् १६७६ ई० के लगभग बाँसवाड़ा राज्य की ओर से ताँबेसरा परगने का पट्टा मिला था। बाँसवाड़ा०, पृ० १०७-८।

रतलाम के प्रथम राज्य का अन्त हो जाने पर भी खेड़ा की यह जागीर किस प्रकार इन रामावत राठौड़ों के ही अधिकार में बनी रही यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है। इसका सरल उत्तर यही जान पड़ता है कि औरंगजब के शासनकाल के पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में मुग़ल साम्राज्य का शासन-संगठन बहुत ही ढीला हो गया था, और खेड़ा की यह जागीर मालवा के समतल मैदानोंसे दूर पहाड़ों में थी, एवं रतलाम राज्य जब्त हो जाने पर भी इस जागीर की ओर किसी का विशेष ध्यान न देना सर्वथा अनहोनी बात नहीं मानी जानी चाहिए।

रतलाम के वर्तमान राज्य की स्थापना होते ही अपने सैनिक बल के आधार पर छत्रसाल ने पुनः खेड़ा की इस जागीर पर अपना आधिपत्य स्वीकार करा लिया होगा। कुशलगढ़ आज भी रतलाम राज्य को प्रतिवर्ष कुछ टाँका देता है। रतलाम०, पृ० १५, १५४-५।

से पहिले की थी।" रघुनाथ की काव्य-रचना से प्रसन्न होकर रामसिंह ने उसे सुकवि 'रसाल' का ख़िताब दिया था।

रामसिंह का दैनिक जीवन सादा एवं नियमित था। अरुणोदय से पहिले ही नित्य-कर्म से निपट कर वह ईश्वरोपासना में रत हो जाता था, और तदनन्तर प्रतिदिन वह श्रीमद्भागवत् आदि धार्मिक ग्रन्थों को नियमपूर्वक सुनता था । तीसरे पहर चौग़ान, आदि

---

[३६] 'रामचरित्र' शीर्षक यह काव्य हिन्दी के सुपरिचित लेखक भास्कर रामचन्द्र भालेराव सूबेदार ने कहीं से ढूंढ़ निकाला था। वे इस काव्य ग्रन्थ का सम्पादन कर रहे हैं, और आशा की जाती है कि सुविधानुसार यह काव्य छप कर प्रकाशित हो जायगा।

जहाँ तक ज्ञात हो सका है इस काव्य-ग्रन्थ की यही एक-मात्र प्रति अब तक देखने में आई है। यह प्रति अक्तूबर, १७०७ ई० में रतलाम में लिखी गई थी। इस प्रति को देखने से यह स्पष्ट है कि नक़ल करने वाले को भी तब 'रामचरित्र' की सम्पूर्ण प्रति नहीं प्राप्त हो सकी थी, जिससे नक़ल-नवीस ने उन अप्राप्य पृष्ठों को पूरा करने के लिए वहाँ भूषण आदि कवियों के सुविख्यात छन्दों को यत्र-तत्र जोड़ दिया है।

इस काव्य-ग्रन्थ में किसी भी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का ब्यौरेवार प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता है। बीजापुर पर जयसिंह की जिस चढ़ाई में रामसिंह ने भी भाग लिया था, उसका बहुत ही संक्षिप्त, अधूरा एवं अनुपयोगी विवरण इस ग्रन्थ में दिया है। रामसिंह के निजी जीवन, उसकी दैनिक चर्य्या एवं उसके साथी सुभटों आदि पर अवश्य इस काव्य से कुछ प्रकाश पड़ता है, और इस काव्य का जो भी महत्त्व मझा जावे वह इसी विशेष जानकारी के कारण ही होगा।

इस काव्य में रतलाम के तत्कालीन राजमहल, शहर एवं शिवबारा का भी विवरण दिया है। इसमें कितना सत्य एवं क़ितना कल्पना-पूर्ण था यह कहना कठिन है।

तत्कालीन खेलों द्वारा अपना मनोरंजन करता था। सन्ध्या समय विद्वानों के साथ विचार-विनिमय, कवियों के साथ काव्य-चर्चा एवं संगीतज्ञ, आदि कलाकारों की निपुणता को परखने में ही रामसिंह का काल बीतता था।[३७] रामसिंह के सुभट साथियों में विशेषरूपेण उल्लेखनीय थे---किशन सांचोरा का पुत्र नाहर ख़ाँ, शार्दूल सांचोरा के तीसरे पुत्र नारायणदास का बेटा भोज, भगवानदास सांचोरा का ज्येष्ठ पुत्र मानसिंह और वीरवर बारहठ जसराज का पुत्र गोकुल-दास।[३८] इनके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण सेनानायकों में राजसिंह राठौड़ के पुत्र गोपीनाथ, अमरदास सांचोरा के कनिष्ठ पुत्र माधोसिंह और गिरधरदास राठौड़ के पुत्र, गांगा, के नाम नहीं भुलाए जा सकते।[३९]

---

[३७] राम०, पृ० १२-१५, ४२-३, ४८-४९।

[३८] राम०, पृ० ४९-५०।

यह किशन सांचोरा, शार्दूल सांचोरा के छोटे भाई अचलदास का दूसरा पुत्र था। सांचोरों की वंशावलियों में नाहर ख़ाँ का नाम नाहरसिंह लिखा है। नाहर ख़ाँ और भोज सांचोरा के वंश अधिक नहीं चले।

वर्तमान द्वितीय रतलाम राज्य की स्थापना कर छत्रसाल राठौड़ ने मानसिंह सांचोरा को पंचेड़ की जागीर दी थी, जिस पर आज भी उसके वंशजों का अधि-कार है।

यह गोकुलदास, धरमत के युद्ध में वीरतापूर्वक खेत रहने वाले बारहठ जसराज का पुत्र था। गोकुलदास का वंश अधिक नहीं चला। बारहठ जसराज के भाई गिरधरदास के वंशज आज भी सीतामऊ राज्य के पोलपात हैं, और बापच्या ठिकाना उनकी जागीर में है।

[३९] राम०, पृ० ७६, ७९-८०।

राठौड़ राजसिंह---यह कूंपावत वीर जोधपुर के महाराजा गजसिंह का प्रधान मन्त्री था। उसकी मृत्यु के बाद वह उसी के उत्तराधिकारी महाराजा

रामसिंह कवियों का आश्रयदाता था। उसने केवल सुकवि रसाल को ही आश्रय दिया हो यह बात न थी; धरमत के युद्ध का विस्तृत व्यौरेवार विवरण लिख कर अमर हो जाने वाले कवि खड़िया जगा को जागीर देकर उक्त 'वचनिका' लिखने को रामसिंह ने ही प्रोत्साहित किया था।[६०] कवि कुम्भकर्ण ने भी अपने काव्य-ग्रन्थ 'रतन-रासो' में रामसिंह का उल्लेख प्रशंसापूर्ण शब्दों में ही किया है।[६१]

जसवन्तसिंह का प्रधान मन्त्री बना और अपनी मृत्यु पर्यन्त उसी पद पर आरूढ़ रहा। ख्यात०, १, पृ० २५२-३; मारवाड़०, १, पृ० २१०, २११ फु० नो० १। गोपीनाथ रार्जासह का ही छोटा पुत्र था। नवम्बर, १६८० ई० में रामसिंह की सिफ़ारिश पर उसे शाही मनसब मिला। जय० अख़०, औरं०, २४ (१), पृ० ११८।

सांचोरा माधोसिंह--धरमत के युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाले वीर अमलदास का चौथा पुत्र था। रामसिंह की मृत्यु के बाद वह क्रमशः उसके दोनों पुत्रों का विश्वस्त सेनानायक रहा। रतलाम ज़ब्त हो जाने पर भी उसने केशवदास का साथ नहीं छोड़ा। सीतामऊ परगना मिलने पर केशवदास ने माधोसिंह को दीपाखेड़ा ठिकाना जागीर में दिया, जो आज भी उसके वंशजों के अधिकार में है।

गांगा राठौड़--वह किस गिरधरदास का पुत्र था, इस प्रश्न का निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता है। एक गिरधरदास किशनदासोत राठौड़ के धरमत के युद्ध में मारे जाने का उल्लेख ख्यात० (१, पृ० २१५) में मिलता है। वचनिका० में भी यत्र-तत्र गिरधरदास का विवरण पाया जाता है।

[६०]कहा जाता है कि रामसिंह ने कवि खड़िया जगा को रतलाम परगने में आलनियो और डेरी गाँव जागीर में दिए थे। वचनिका०, इण्ट्रोडक्शन, पृ० ४।

[६१]रासो०, पृ० १२।

रामसिंह के शासनकाल में इस राज्य के मन्त्री कौन-कौन व्यक्ति रहे, राज्य की शासन-व्यवस्था किस प्रकार की थी, राज्य की हालत कैसी थी, इन सब बातों का कोई भी ब्यौरा नहीं मिलता है। उन दिनों रतलाम राज्य तथा वहाँ की प्रजा की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों पर यत्किंचित् भी प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उसके बिना रामसिंह के शासन-काल का यह विवरण अधूरा एवं एकांगी ही रह जायगा। सम्भव है कि रतलाम राज्य में खोज की जाने पर आगे चल कर तद्विषयक कोई उपयोगी सामग्री वहाँ प्राप्त हो सके, किन्तु तब तक तो आवश्यक जानकारी के अभाव में इतिहास के इन पहलुओं पर कुछ भी लिखना सम्भव नहीं। इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि रतलाम में रह कर रामसिंह ने इन वर्षो में राज्य की शासन-व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ एवं सुसंगठित करने का भरसक प्रयत्न अवश्य ही किया होगा।

सन् १६७८ ई० में रामसिंह राठौड़ रतलाम में ही था। उसके साथ मालवा में रहने को निम्नकोटि के जो शाही मनसबदार नियुक्त थे, उनमें रघुनाथसिंह राठौड़ के लड़के, कान्हाजी (कान्हसिंह) और जीतसिंह, भी थे। कान्हाजी का मनसब डेढ़ सदी ज़ात और जीतसिंह का एक सदी ज़ात था। इसी साल बरसात के दिनों में ये दोनों भाई शाही आज्ञा लिए बिना ही मालवा से रवाना होकर परगना मसूदा चले गए। परगना मसूदा में इन दोनों भाइयों के जागीरें थीं।[६२] इस बेजा हरकत के लिए उनके साथ क्या कार्यवाही

[६२] 'वाक़या-इ-सरकार रणथम्भोर' (हस्तलिखित), पृ० ४४। हैदराबाद (दक्षिण) की आसफ़िया लायब्रेरी में प्राप्य एक-मात्र प्रति से श्री रघुबीर लायब्रेरी, सीतामऊ, के लिए की गई नक़ल।

सम्भवतः यह उल्लेख अजमेर-मेरवाड़ा जिले के अन्तर्गत मसूदा ठिकाने

की गई इसका कोई विवरण प्राप्य नहीं है। कुछ ही समय बाद बरसात समाप्त होते-होते तो रामसिंह के पास भी शाही बुलावा आ पहुँचा, और वह अपने सेनानायकों एवं सैनिकों को लेकर रतलाम से रवाना होने का प्रबन्ध करने लगा।

३. रामसिंह का दक्षिण जाकर वहाँ से लौटना; मेवाड़ के साथ युद्ध; रामसिंह को जालोर की फौजदारी मिलना; शाहज़ादे अकबर का विद्रोह और राजसमन्द की सन्धि; १६७८-८१ ई०

इन पिछले दस बरसों में सम्भवतः रामसिंह को रतलाम रहने का पर्याप्त अवसर मिला, जो सितम्बर, १६७८ ई० के बाद उसके भाग्य में बदा न था। शाहज़ादा मुअज़्ज़म, जिसे इधर शाह आलम का ख़िताब मिल चुका था, अब दक्षिण का सूबेदार नियुक्त हुआ। एक बड़ी शाही सेना लेकर वह सितम्बर १८, १६७८ ई० को दिल्ली से दक्षिण के लिए रवाना हुआ। शाह आलम के साथ दक्षिण जाने के लिए रामसिंह राठौड़, तथा करण राठौड़ के अतिरिक्त उसके अन्य सब छोटे भाइयों को भी हुक्म मिला। करण राठौड़ की मृत्यु जून, १६७६ ई० में ही हो चुकी थी। रामसिंह के बाक़ी रहे दसों भाई भी तब तक शाही मनसबदार नियुक्त हो गए थे। अतएव रामसिंह के साथ ही वे सब भी अपने-अपने साथी-सैनिकों को लेकर शाह आलम के साथ दक्षिण जाने वाली शाही सेना में सम्मिलित हो गए। अक्तूबर माह में वे सब दक्षिणी सूबों की राजधानी औरंगा-

---

के घराने वालों का ही है। क्या यह रघुनाथसिंह राठौड़ उक्त ठिकाने के घराने के पूर्वजों में से कोई था ?

बाद पहुँचे। परन्तु इस बार की यह दक्षिण यात्रा किसी भी प्रकार घटनापूर्ण नहीं हुई। शाह आलम एवं उसके प्रधान सेनापति दिलेर ख़ाँ में निरन्तर खींचा-तानी होती रहती थी, जिससे रामसिंह, उसके भाइयों आदि को भी सम्भवतः औरंगाबाद से आगे जाना न पड़ा।[४३]

किन्तु उधर जब रामसिंह और उसके भाई औरंगाबाद में शान्तिपूर्वक दिन बिता रहे थे, उत्तरी भारत में अनेकानेक महत्वपूर्ण घटनाएँ हो रही थीं। दिसम्बर १०, १६७८ ई० को जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह की जमरूद के क़िले में मृत्यु हो गई। अपनी धर्मान्धितापूर्ण कट्टरनीति के एक-मात्र समर्थ विरोधी की मृत्यु का समाचार सुन कर औरंगज़ेब को सन्तोष हुआ। मृत्यु के समय जसवन्तसिंह के पीछे कोई भी पुत्र न था, एवं औरंगज़ेब ने जोधपुर राज्य को मुग़ल साम्राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित करने के इस सुअवसर को खोना न चाहा। जोधपुर पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए उसने ख़ाँ जहाँ बहादुर को ससैन्य जोधपुर भेजा, और आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता करने के लिए वह स्वयं भी अजमेर जा पहुँचा।[४४]

अजमेर में ही औरंगज़ेब ने सुना कि फ़रवरी १९, १६७९ ई० के दिन लाहौर में महाराजा जसवन्तसिंह की दो रानियों ने कुछ ही घंटों के अवकाश से दो पुत्रों को जन्म दिया, जिनमें से बड़ा, अजीतसिंह, आगे चल कर मारवाड़ का शासक बना। इसी समय से जोधपुर के राठौड़ सरदार और मन्त्री इस बात के लिए भरसक प्रयत्न करने लगे कि औरंगज़ेब अजीतसिंह को जसवन्तसिंह का उत्तराधिकारी

---

[४३] मा० आ०, पृ० १६६; औरंग०, ४, पृ० १६६।

[४४] मा० आ०, पृ० १७१-२; ख्यात०, २, पृ० १६; औरंग०, ३, पृ० ३२४-३२७।

मान कर जोधपुर का राज्य उन्हें सौंप दे। किन्तु औरंगज़ेब ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। अप्रेल २ को औरंगज़ेब अजमेर से लौट कर दिल्ली पहुँचा और उसी दिन उसने इस्लाम के अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियों पर जज़िया कर लगा दिया।[४५]

मई २५ को जोधपुर से लौट कर ख़ाँ जहाँ बहादुर भी दिल्ली पहुँचा। उसने भी औरंगज़ेब की सेवा में प्रार्थना की कि जोधपुर का राज्य अजीतसिंह के नाम पर कर दिया जावे, परन्तु औरंगज़ेब ने उसकी भी एक न सुनी। रामसिंह राठौड़ का जोधपुर के राजघराने के साथ इतना निकट का सम्बन्ध था कि जोधपुर राज्य के मामले में उसकी पूरी-पूरी दिलचस्पी होना स्वाभाविक ही था। वह स्वयं इस समय दक्षिण में था, परन्तु शाही दरबार में रहने वाले अपने वकील को उसने इस सम्बन्ध में उचित आदेश लिख भेजा। 'जोधपुर राज्य की ख्यात' में लिखा है कि मई २५, १६७९ ई० को "राजा अनूपसिंह (बीकानेर वाले) और राजा रामसिंह (रतलाम वाले) के वकीलों ने (अजीतसिंह को) जोधपुर दिए जाने के वास्ते निवेदन किया, तब औरंगज़ेब ने कहा 'तुमने युद्ध में काम किया है, इस मामले में ख़र्चा न करना। जोधपुर के राजा के बेटे को जोधपुर देंगे।" यों उचित अवसर पर जोधपुर के राजघराने के साथ सहानुभूति दिखा कर रामसिंह ने अपने कर्तव्य का पालन किया। किन्तु इन सारे प्रयत्नों का कोई भी परिणाम न निकला। पहिले मई २६, १६७९ ई० को औरंगज़ेब ने महाराजा जसवन्तसिंह के बड़े भाई राव अमर राठौड़ के पौत्र, नागौर के राजा इन्द्रसिंह को जोधपुर का राज्य दिया, और बाद में अक्तूबर मास में मारवाड़ को ख़ालसा

---

[४५] मा० आ०, पृ० १७२-३, १७४; औरंग०, ३, पृ० ३२७-८।

कर उसे मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया ।[४६]

किन्तु सौभाग्य ने अब तक राठौड़ों का साथ न छोड़ा था। जज़िया कर को लेकर उदयपुर के महाराणा राजसिंह और औरंगज़ेब में मनमुटाव बढ़ रहा था। अतएव शिशु अजीतसिंह को लेकर दुर्गादास राठौड़ और उसके साथी महाराणा के पास पहुँचे। महाराणा ने अजीतसिंह को प्रश्रय देने और जोधपुर के राजघराने की पूरी-पूरी सहायता करने का वादा किया। राठौड़ और सिसोदियों ने सम्मिलित होकर मुग़ल साम्राज्य का सामना करने की सोची। मेवाड़ और मुग़ल साम्राज्य के बीच युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। मेवाड़ में युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं, और औरंगज़ेब भी सितम्बर ३, १६७९ ई० को एक बड़ी सेना लेकर दिल्ली से चल पड़ा ।[४७]

औरंगज़ेब सितम्बर २५, १६७९ ई० को अजमेर पहुँचा, और वहाँ कोई पाँच सप्ताह तक ठहर कर वह मेवाड़ पर चढ़ाई के लिए पूरे-पूरे आयोजन करने लगा। शाहज़ादा अकबर औरंगज़ेब के साथ ही दिल्ली से आया था; शाहज़ादा आज़म को बंगाल से बुलवाया गया था, अतएव शाहज़ादा शाह आलम को तत्काल ही दक्षिण से बुलाना आवश्यक न जान पड़ा। किन्तु इस युद्ध में भाग लेने के लिए औरंगज़ेब ने शाह आलम के साथ गए हुए विश्वस्त योद्धाओं में से रामसिंह राठौड़ को अजमेर बुलवा भेजा। उधर शाह आलम

---

[४६] मा० आ०, पृ० १७५, १७७, १८२; ख्यात०, २, पृ० २३-२४; औरंग०, ३, पृ० ३२८, ३३४-६।

[४७] ख्यात०, २, पृ० ५६-५७; वीर०, २, पृ० ४४६-४५३; मा० आ०, पृ० १७६-१८०; टाड०, १, पृ० ४४१-४४४; २, पृ० ६६६; उदय०, २, पृ० ५५४-५; औरंग०, ३, पृ० ३३४, ३३८-३३९, ३३५।

भी रामसिंह को जाने देना नहीं चाहता था, एवं उसने वापिस लिख भेजा कि रामसिंह जैसे सेनानायकों की उसे भी आवश्यकता थी। दिसम्बर २१, १६७९ ई० को औरंगज़ेब ने रामसिंह राठौड़ के दक्षिण में ही रहने की आज्ञा देदी।[४८]

किन्तु शाह आलम भी अधिक काल तक दक्षिण में न रह पाया। मार्च १, १६८० ई० के दिन औरंगज़ेब ने शाह आलम के बजाय ख़ाँ जहाँ बहादुर को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त कर उसे औरंगाबाद के लिए रवाना किया। यह स्पष्ट था कि शाह आलम को दक्षिण से रवाना होने में कुछ समय लगेगा, एवं अप्रेल ८, १६८० ई० को औरंगज़ेब ने पुनः हुक्म दिया कि रामसिह राठौड़ और उसके दसों भाई शीघ्र ही आकर शाही दरबार में उपस्थित होवें।[४९] इस आज्ञा के अनुसार मई, १६८० ई० के प्रारम्भ में रामसिह और उसके भाई दक्षिण से चल पड़े। उन्होंने कोई डेढ़ साल से अधिक समय दक्षिण में शाहज़ादे शाह आलम के साथ बिताया था; इस अरसे में वे औरंगाबाद में ही रहे, अथवा दक्षिण में ही और कहीं उन्हें जाना पड़ा था या नहीं, एवं वहाँ उन्होंने क्या किया इसका कोई भी विवरण प्राप्य नहीं है।

इधर मुग़ल-मेवाड़ युद्ध ज़ोरों से चल रहा था। नवम्बर ३०, १६७९ ई० को अजमेर से रवाना होकर जनवरी ४, १६८० ई० के दिन औरंगज़ेब ने देबारी की घाटी में जा डेरा डाला। महाराणा राजसिंह और उसके सारे साथी उदयपुर खाली कर पहाड़ों में जा

---

[४८] मा० आ०, पृ० १८०, १८१, १८२, १८३; औरंग०, ३, पृ० ३३५, ३३६; जय० अख़०, औरं०, २३ (१), पृ० २३२।

[४९] मा० आ०, पृ० १८६, १८३; औरंग०, ४, पृ० १६७; जय० अख़०, औरं०, २३ (३), पृ० १६२।

पहुँचे और वहीं से वे शाही सेना का सामना करने लगे। हसन अली ख़ाँ ने दूर तक महाराणा का पीछा किया। उदयपुर और चित्तौड़ पर शाही सेना का अधिकार हो गया, एवं यह सोच कर कि महाराणा की शक्ति नष्ट की जा चुकी है, औरंगज़ेब मार्च ४, १६८० ई० के दिन उदयपुर से अजमेर को लौट पड़ा। रवाना होने से दो दिन पहले ही उसने शाहज़ादे अकबर को ससैन्य चित्तौड़ एवं आसपास के प्रदेश की सुरक्षा और प्रबन्ध के लिए नियुक्त किया, तथा हसन अली ख़ाँ आदि सेनानायकों को हुक्म हुआ कि वे शाहज़ादे अकबर की अधीनता में उसकी आज्ञानुसार काम करते रहें। औरंगज़ेब मार्च २२ को अजमेर पहुँच गया और आगामी डेढ़ वर्ष तक वहाँ ही बना रहा।[५०]

औरंगज़ेब के मेवाड़ छोड़ते ही महाराणा और उसके राजपूत सेनानायकों का साहस बढ़ने लगा। महाराणा भी पहाड़ों से उतर आया, और उसके सैनिक पुनः आक्रमण करने लगे। मई, १६८० के दूसरे सप्ताह के लगभग तो वे चित्तौड़ तक जा पहुँचे और उन्होंने शाहज़ादा अकबर की सेना पर रात के समय छापा मारा। तब तो राजपूतों को दबाने के लिए हसन अली ख़ाँ को पहाड़ों में भेजने का आयोजन होने लगा। पुनः चित्तौड़ में स्थित शाही सेना की शक्ति बढ़ाने के लिए भी सैनिक एकत्र किए जाने लगे। अप्रेल ८, १६८० ई० की शाही आज्ञानुसार मई के प्रारम्भ में रामसिंह राठौड़ अजमेर के लिए दक्षिण से चल ही पड़ा था, एवं मई १७, १६८० को औरंगज़ेब ने आज्ञा दी कि दक्षिण से आता हुआ रामसिंह राठौड़

---

[५०] मा० आ०, पृ० १८५-१९१; वीर०, २, पृ० ४६४-४६७; उदय०, २, पृ० ५५९-५६१; औरंग०, ४, पृ० ३३९-३४३।

अजमेर न जाकर राह में से ही सीधा हसन अली की सेना में सम्मिलित हो जावे।[५१] किन्तु यह हुक्म रामसिंह को समय पर नहीं मिला और वह दूसरी राह से अजमेर के पास तक जा पहुँचा। वहाँ जब उसे उपयुक्त हुक्म का पता लगा तब उसने यह सारी हक़ीक़त औरंगज़ेब की सेवा में निवेदन करवा कर प्रार्थना की कि वह अजमेर के पास तक पहुँच ही गया, एवं शाही दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा दी जावे, तदुपरान्त वह आज्ञानुसार अपने स्थान पर चला जावेगा। रामसिंह की इस प्रार्थना को औरंगज़ेब ने जून १०, १६८० ई० को स्वीकृत किया। रामसिंह अब सीधा अजमेर गया और जून १४, १६८० ई० को उसे आज्ञा हुई कि वह सैय्यद हामिद ख़ाँ की सेना में सम्मिलित होवे। हामिद ख़ाँ को इसी समय हुक्म मिला था कि वह बदनोर से पुर चला जावे और दिलावर ख़ाँ के पुर पहुँचने तक पुर परगने की देखभाल करता रहे।[५२] अतएव रामसिंह अजमेर से पुर के लिए रवाना हो गया।

चित्तौड़ के आसपास राजपूतों का उपद्रव निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था और उसे दबाने में शाहज़ादे अकबर को विशेष सफलता नहीं मिल रही थी, एवं औरंगजेब ने उसे सोजत और जेतारण की ओर भेज दिया तथा शाहज़ादे आज़म को उसके स्थान पर चित्तौड़ में नियुक्त किया। जून २६, १६८० ई० को आज़म चित्तौड़ पहुँचा। वहाँ से देबारी घाटी में होते हुए उसे उदयपुर की ओर बढ़ना था।

---

[५१] औरंग०, ३, पृ० ३४४-५।

[५२] जय० अख़०, औरं०, २३ (४), पृ० १३०, १५८।

पुर—मेवाड़ राज्य में स्थित यह क़स्बा भीलवाड़ा शहर से ७ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है; मुग़ल काल में यह क़स्बा उसी नाम के परगने का प्रधान स्थान था। आईन०, २, पृ० १०२, २७४।

सम्भवतः इसी उद्देश्य से चित्तौड़ में विशेष रूप से सैनिक प्रबन्ध करना आवश्यक जान पड़ा और जुलाई १६८० ई० के लगभग रामसिंह राठौड़ को चित्तौड़ में नियुक्त किया गया था। सितम्बर ९, १६८० ई० को औरंगज़ेब ने रामसिंह को चित्तौड़ से अजमेर वापस बुलवा लिया।[५३]

चित्तौड़ से लौटकर रामसिंह सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में अजमेर पहुँचा। औरंगज़ेब ने सितम्बर ३० को उसे जालोर की फ़ौजदारी पर नियुक्त किया और अपनी इस नई फ़ौजदारी का काम सम्हालने के लिए उसे रवाना किया। इस समय रामसिंह का मनसब डेढ़ हज़ारी ज़ात–डेढ़ हज़ार सवारों का था; औरंगज़ेब ने इन डेढ़ हज़ार सवारों में से सात सौ सवार दो-अस्पा कर उसके मनसब में वृद्धि की। जालोर के लिए रवाना होते समय रामसिंह को उसके मनसब के उपयुक्त ख़िलअत और सुनहली झालर का साज़ दिया गया।[५४] इन दिनों औरंगज़ेब रामसिंह से बहुत प्रसन्न था, एवं उसे विश्वास था कि जोधपुर के राठौड़ों के विरुद्ध जो युद्ध चल रहा था, उसमें रामसिंह से पर्याप्त सहायता मिल सकती थी। इसी कारण रामसिंह की सिफ़ारिश पर औरंगज़ेब ने नवम्बर ८, १६८० ई० के दिन जोधपुर के स्वर्गीय महाराजा जसवन्तसिंह के स्वर्गीय प्रधान मन्त्री राजसिंह के पुत्र गोपीनाथ को डेढ़ सदी ज़ात–तीस सवारों का नया मनसब देकर ख़ाँ जहाँ की अधीनता में डाक चौकी पर नियुक्त किया।[५५]

---

[५३] मा० आ०, पृ० १९३-१९४; औरंग०, ३, पृ० ३४५-६; जय० अख़०, औरं०, २३ (५), पृ० २३५।

[५४] जय० अख़०, औरं०, २४ (१), पृ० ३२।

[५५] जय० अख़०, औरं०, २४ (१), पृ० ११८; ख्यात०, १, पृ० २५३।

इधर शाहज़ादा अकबर सोजत से शाही सेना का संचालन कर रहा था। राठौड़ राजपूत मारवाड़ के समस्त दक्षिण प्रदेश में उपद्रव मचा रहे थे, और इन्हीं उपद्रवों को दबाने के उद्देश्य से उक्त प्रदेश की रक्षा और शासन का विशेष प्रबन्ध किया जा रहा था। उसी सिलसिले में रामसिंह की नियुक्ति जालोर में की गई थी। रामसिंह अजमेर से सीधा जालोर पहुँचा और वहाँ उसने अपनी इस नई फ़ौजदारी का काम सम्हाला। किन्तु इस बार एक-डेढ़ मास से अधिक जालोर ठहरने का उसे अवसर न मिला। दिसम्बर १६, १६८० ई० को औरंगज़ेब ने हुक्म दिया कि रामसिंह राठौड़ सत्रह सौ राठौड़ों को लेकर शाहज़ादा कामबख़्श के बख़्शी मुहमद नईम की सेना में सम्मिलित हो जावे।[५६]

सितम्बर (१६८० ई०) माह के अन्त के बाद कोई डेढ़ मास तक अकबर ने युद्ध में बड़ी ढिलाई दिखाई। अकबर नाडोल में था और तहाव्वर ख़ाँ देसूरी में डेरा डाले हुए पड़ा रहा। परन्तु औरंगज़ेब इस ढिलाई से असन्तुष्ट हो उठा और जल्द ही मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए उसने हुक्म दिया, एवं अकबर स्वयं देसुरी आया और उसने तहाव्वर को जीलवाड़े की घाटी की तरफ़ भेजा। अकबर की सहायता के लिए औरंगज़ेब ने रुहेल्ला ख़ाँ के साथ बहुत सा धन और सेना भेजी। नवम्बर ३० को शाहज़ादे कामबख़्श के बख़्शी मुहम्मद नईम को भी औरंगज़ेब ने अकबर की सेना में सम्मिलित

शाही मनसबदार बनने से पहिले गोपीनाथ बहुत समय तक रामसिंह के साथ भी रहा था। रसाल कवि ने रामसिंह के अन्य सुभट सेनानायकों का वर्णन करते समय गोपीनाथ का भी उल्लेख किया है। राम०, पृ० ७६।

[५६] औरंग०, ३, पृ० ३४६-८; जय० अख़०, औरं०, २४ (२), पृ० १७०; २४ (१), पृ० १५६।

होने को भेजा और दिसम्बर १६ को रामसिंह को हुक्म भेजा गया कि वह मुहम्मद नईम के साथ जा मिले।[५७] इसके एक सप्ताह बाद ही औरंगज़ेब को ज्ञात हुआ कि विद्रोही राठौड़ों का दल सोजत और जैतारण परगनों में उपद्रव मचा रहा था तथा उनका सामना करने के लिए कोई प्रबन्ध नहीं किया जा रहा था। औरंगज़ेब के मतानुसार इस अवसर पर जालोर में नियुक्त रामसिंह राठौड़ को भी उचित कार्यवाही करनी थी, अतएव उसकी इस ढिलाई के लिए औरंगज़ेब ने रामसिंह को दण्ड दिया और उसके मनसब में पाँच सदी ज़ात–पाँच सौ सवार कम कर दिए गए।[५८]

इसी बीच अक्तूबर १६, १६८० ई० को महाराणा राजसिंह की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र जयसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। नवम्बर २२, १६८० ई० को तहाव्वर ख़ाँ जीलवाड़े जा पहुँचा था, परन्तु उसके बाद पुनः अकबर ने युद्ध में ढिलाई करना आरम्भ कर दी। अपने पत्रों में अकबर औरंगज़ेब के सामने अपने सेनानायकों की शिकायत करता था, किन्तु इन्हीं हफ़्तों में वह राठौड़ों से मिल कर औरंगज़ेब को गद्दी से उतार कर उसके स्थान पर स्वयं सम्राट् बनने का आयोजन कर रहा था। महाराणा और राठौड़ों ने उसकी पूरी-पूरी सहायता करने का वचन दिया और उसके बदले में महाराणा को कुछ परगने तथा अजीतसिंह को जोधपुर का राज्य देने का वादा किया। यह भी निश्चित हुआ कि जनवरी १, १६८१ ई० को अकबर

---

[५७]औरंग०, ३, पृ० ३५०-१; उदय०, २, पृ० ५६५; मा० आ०, पृ० १६५; जय० अख़०, औरं०, २४ (१), पृ० १५६।

[५८]जय० अख़०, औरं०, २४ (१), पृ० १७७।

स्वयं को सम्राट् घोषित करे और दूसरे दिन ही वह ससैन्य औरंगज़ेब के विरुद्ध चल पड़े ।"[५९]

दिसम्बर १६, १६८० ई० की आज्ञानुसार जालोर से चल कर इसी माह के अन्तिम सप्ताह में रामसिंह राठौड़ भी अकबर की सेना में सम्मिलित हो गया था । जब रामसिंह अकबर के पास पहुँचा, तब भी विद्रोह सम्बन्धी अन्तिम समझौते आदि की बातचीत चल रही थी । 'जोधपुर की ख्यात' में लिखा है कि—"तहाव्वर ख़ाँ और राठौड़ रामसिंह के कहने एवं वचन देने पर (राठौड़ सेनानायक) देसूरी जाकर शाहज़ादा (अकबर) से मिले । तहाव्वर ख़ाँ का पुत्र मिर्ज़ा मानी और राठौड़ रामसिंह चाचोड़ी गाँव आए तथा वहाँ से राठौड़ों को साथ लिवा ले गए ।"[६०] ख्यात० का यह कथन कहाँ तक सत्य है यह कहना कठिन है, परन्तु यदि उसे ठीक माना जावे तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि विद्रोह के इस षड्यन्त्र में रामसिंह भी कुछ हद तक सम्मिलित हो गया था । किन्तु रामसिंह की आगे की कार्यवाही से यही ज्ञात होता है कि षड्यन्त्र की इस नीति से वह कदापि सहमत न था । ख्यात० में उसकी जिस कार्यवाही का उल्लेख मिलता है वह अकबर की आज्ञानुसार राठौड़ सेनानायकों को चाचोड़ी गाँव से शाहज़ादे के पास ले जाने तक ही सीमित रही । ये सेनानायक क्यों अकबर के पास लाए गए और उनके साथ अकबर की क्या बातचीत हो रही थी, उसके साथ रामसिंह का कोई भी सम्बन्ध नहीं जान पड़ता है । अनुमान यही होता है कि वह इस मामले में पड़ा ही न था ।

---

[५९] उदय०, २, पृ० ५६५, ५८१-५८३; औरं०, ३, पृ० ३५१, ३५४-३५६ ।

[६०] ख्यात०, २, पृ० ६१-६२; जोधपुर०, २, पृ० ४६४ फु० नो० ।

निश्चित आयोजना के अनुसार जनवरी १, १६८१ ई० को अकबर ने स्वयं को सम्राट् घोषित किया। जो शाही सेनानायक इस समय अकबर के साथ थे, उनमें से कुछ तो सहर्ष इस विद्रोह में शामिल हो गए। बाक़ी सब इस कार्यवाही के पक्ष में न थे, परन्तु वे न तो अकबर का विरोध ही कर सकते थे और न वहाँ से तत्काल भाग ही सकते थे, अतएव उन्हें विवश होकर अकबर के पक्ष में होने का दिखावा करना पड़ा। अनुमान यही होता है कि इस समय प्रारम्भ में तो, अनिच्छापूर्वक ही क्यों न हो, रामसिंह को भी अकबर का साथ देने का ढोंग रचना पड़ा था। जनवरी २ को रवाना होकर अकबर धीरे-धीरे ससैन्य अजमेर की ओर चला और अन्य सेनानायकों के समान रामसिंह राठौड़ भी तब अकबर के साथ था। उधर अजमेर में औरंगज़ेव अकबर का सामना करने की तैयारी कर रहा था। उसके स्वामिभक्त सेनानायक तेज़ी के साथ अजमेर जा रहे थे। और इसी तरह इस चढ़ाई के समय अकबर की सेना में से एक दिन खिसक कर रामसिंह राठौड़ भी जनवरी १२, १६८१ ई० को अजमेर में ही औरंगज़ेव के पास जा पहुँचा। अजमेर पहुँचते ही वह तत्काल औरंगज़ेब की सेवा में उपस्थित हुआ तथा नौ मोहरें और एक सौ रुपए भेंट किए। औरंगज़ेब रामसिंह राठौड़ की स्वामिभक्ति का यह परिचय पाकर प्रसन्न हुआ, रामसिंह को उसके मनसब के अनुरूप ख़िलअत दिया तथा दिसम्बर २३, १६८० ई० को उसके मनसव में जो कमी कर दी गई थी उसे रद कर उसका पहिले का-सा ही मनसब पुनः कर दिया गया।[६१]

---

[६१] औरंग०, ३, पृ० ३५६-३५८; मा० आ०, पृ० १६७-२००; जय० अख़०, औरं०, २४ (१), पृ० २३६।

अकबर का सामना करने के लिए औरंगज़ेब जनवरी १४ को अजमेर से ससैन्य दौराई के युद्धक्षेत्र की ओर बढ़ा। रामसिंह राठौड़ भी औरंगज़ेब के साथ ही गया। दूसरे दिन दोनों सेनाओं के बीच केवल तीन मील की ही दूरी रह गई। उसी रात को औरंगज़ेब ने अपनी धूर्तता से आगामी दिन होने वाले भयंकर युद्ध की सम्भावना का भी अन्त कर दिया। तहाव्वर खाँ औरंगज़ेब के डेरे में मारा गया, और अकबर के नाम लिखे हुए औरंगज़ेब के पत्र को पढ़ कर राजपूत अकबर के प्रति सशंक हो उठे तथा उसका साथ छोड़ कर चल दिए। जनवरी १६ को प्रातःकाल में जब यह वस्तु-स्थिति अकबर को ज्ञात हुई तो भाग कर राजपूतों की ही शरण लेने के अतिरिक्त दूसरा कोई भी चारा उसके लिए नहीं रह गया था। विद्रोही दल एवं विरोधियों को इस प्रकार विलीन होते देख कर शाही सेना में बहुत ही ख़ुशी हुई और अकबर का साथ छोड़ कर चले आने वाले सेनानायकों को पुनः पुरस्कार दिए गए; रामसिंह राठौड़ को भी सोने के ज़र का दुशाला मिला।[१२]

भागते हुए अकबर और लौटते हुए राठौड़ राजपूतों का पीछा करने के लिए शाहज़ादे शाह आलम के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी गई, जिसमें रामसिंह राठौड़ भी था। जनवरी २२ के लगभग जब अकबर और उसके साथी सांचोर जा पहुँचे तब उनका पीछा करने वाली शाह आलम की सेना जालोर में थी। गुजरात की राह को निरापद न जानकर अकबर मेवाड़ की ओर लौटा और वहाँ से बागड़ और दक्षिणी मालवा में होता हुआ वह महाराष्ट्र को गया,

---

[१२] मा० आ०, पृ० २००-२०३; औरंग०, ३, पृ० ३६०-३६६; जय० अख़०, औरं०, २४ (१), पृ० २४६।

जहाँ उसे शंभाजी ने शरण दी।[६३]

शाहज़ादा शाह आलम अकबर को पकड़ने में विफल ही रहा, और वह जालोर की ओर से लौट कर पीछा सोजत चला आया। रामसिंह राठौड़ भी उसी के साथ था। रामसिंह को अपनी नई फ़ौजदारी में रह कर ठीक प्रबन्ध करने का अवसर ही नहीं मिल रहा था। वहाँ निरन्तर उपद्रव और लूट-मार हो रही थी। जोधपुर राज्य की ख्यात में लिखा है कि अकबर का पीछा करते समय "जब शाह आलम की सेना जालोर के पास से निकल रही थी, तब विद्रोही राठौड़ों ने उसके पिछले हिस्से पर हमला कर उस सेना का सामान लूट लिया और बारबरदारी के कई हाथी छीन ले गए। इस दुर्घटना से क्रुद्ध होकर औरंगज़ेब ने....रामसिंह को जालोर (की फ़ौजदारी) से हटा दिया।" सीतामऊ राजघराने सम्बन्धी कुछ ख्यातों में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है, किन्तु फ़ारसी इतिहास-ग्रन्थों में इस घटना का कहीं भी स्पष्ट विवरण नहीं पाया जाता है। कारण कुछ भी रहा हो, मई २८, १६८१ ई० को औरंगज़ेब ने हुक्म दिया कि रामसिंह राठौड़ को बदल कर उसके स्थान पर बहलोल शीरानी को जालोर का फ़ौजदार नियुक्त किया जावे।[६४]

मई ४, १६८१ ई० को औरंगजेब की सेवा में रामसिंह राठौड़

---

[६३] मा० आ०, पृ० २०३, २०४; वीर०, २, पृ० ६४६; औरंग०, ३, पृ० ३६६-७; उदय०, २, पृ० ५८५।

[६४] जोधपुर०, २, पृ० ४६७-६६; ख्यात०, २, पृ० ६३। ख्यात० का सा उल्लेख राणी० में भी मिलता है।

जय० अख़०, औरं०, २४ (२), पृ० २३८।

की एक अर्ज़ी पेश हुई थी, जिसमें जालोर सम्बन्धी अपनी कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए उसने लिखा था,—"मैं शाहज़ादा शाह आलम के साथ नियुक्त हूँ। अपनी फ़ौजदारी में केवल एक ही माह रह पाया, एवं ऐसी हालत में वहाँ की परिस्थिति और शासन-व्यवस्था की पूरी तरह जानकारी प्राप्त कर लेना मेरे लिए कठिन था। सारा परगना उजड़ गया है। जो गाँव और क़स्बे आबाद थे, वे भी उपद्रवियों की लूट-मार तथा शाही सेनाओं के निरन्तर आते-जाते रहने से पूरी तरह बरबाद हो गए हैं। सारी खेती नष्ट हो गई है। परगने में आवश्यक प्रबन्ध के अतिरिक्त और भी अधिक सैनिक वहाँ रखे हैं, किन्तु सारी व्यवस्था और हालत ऐसी बिगड़ी हुई है कि वहाँ मेरा जाना आवश्यक हो गया। यदि दो माह के लिए छुट्टी मिल जावे तो जालोर जाकर वहाँ ठीक प्रबन्ध कर दूँ, जिससे कि परगने की हालत सुधर जावे।" औरंगज़ेब ने रामसिंह की प्रार्थना को उचित समझा एवं शाह आलम को लिखवा भेजा कि जालोर जाकर वहाँ का प्रबन्ध करने के लिए मई २३, १६८१ ई० से रामसिंह को छुट्टी दी जावे।

पुनः जालोर के पिछले फ़ौजदार बिहारी फ़तेह ख़ाँ की तरफ़ साम्राज्य का कोई पाँच हज़ार रुपया लेना बाक़ी था। फ़ौजदारी सम्हलवाते समय उसने यह हिसाब साफ़ नहीं किया था। इधर दिलेर ख़ाँ के रामसिंह में कोई आठ हज़ार रुपए लेना निकलते थे। वे पाँच हज़ार वसूल होने की कोई सम्भावना नहीं देख पड़ती थी, और इधर दिलेर ख़ाँ अपने रुपए वसूल करने के लिए सैनिक भेज-भेज कर ताकीद कर रहा था, जिससे रामसिंह की कठिनाइयाँ और भी बढ़ती जाती थीं। रामसिंह ने अपनी ये कठिनाइयाँ भी औरंगज़ेब के सम्मुख रख दीं। औरंगज़ेब ने वज़ीर असद ख़ाँ को हुक्म दिया

कि वह फ़तेह ख़ाँ से रामसिंह को वे पाँच हज़ार रुपए दिलवा देने का प्रबन्ध कर दे।[६५]

औरंगज़ेब ने रामसिंह की छुट्टी मंजूर कर ली थी, और सम्भवतः उसे मई २३, १६८१ ई० को शाह आलम ने भी छुट्टी दे दी होगी, परन्तु रामसिंह छुट्टी पर नहीं गया। फ़रवरी, १६८१ ई० से ही महाराणा और मुग़ल साम्राज्य के बीच सन्धि की बातें शाहज़ादा आज़म के द्वारा चल रही थीं। इस समय आज़म चित्तौड़ में ठहरा हुआ था। अन्त में यह तय हुआ कि राजसमंद तालाब के उत्तरी किनारे पर आज़म और महाराणा जयसिंह की भेंट हो। आज़म पहिले से उस नियुक्त स्थान पर पहुँच गया और दिलेर ख़ाँ के द्वारा जयसिंह को बुलवा भेजा। जून १४, १६८१ ई० के दिन भेंट होने का निश्चय हुआ। इस समय जब आज़म राजसमंद की ओर गया, तब रामसिंह भी उसके साथ था। भेंट के समय महाराणा की पेशवाई कर उसे आज़म के पास ले आने को दिलेर ख़ाँ, और हसन अली ख़ाँ के साथ ही रामसिंह को भी भेजा गया था। यों जून १४ को राजसमंद की सन्धि हुई और मेवाड़ के साथ मुग़लों के इस युद्ध का अन्त हुआ।[६६]

इस भेंट के बाद आज़म चित्तौड़ की ओर लौट गया, और बहुत करके राजसमंद से ही रामसिंह जालोर लौट गया होगा। इस समय तक उसे ज्ञात हो चुका था कि जालोर की फ़ौजदारी पर उसके बजाय बहलोल शीरानी की नियुक्ति हो चुकी थी। एवं उसे जालोर की फ़ौजदारी सम्बन्धी अपना सारा मामला और हिसाब साफ़ करना

---

[६५] जय० अख़०, औरं०, २४ (२), पृ० १७०।

[६६] मा० आ०, पृ० २०७-२०६; वीर०, २, पृ० ६३१, ६५५-६; उदय०, २, पृ० ५८७-८; औरंग०, ३, पृ० ३६६-३७१।

था। इसी समय जालोर जाते हुए या जालोर पहुँचने पर रामसिंह ने स्वर्गीय महाराजा जसवन्तसिंह के विश्वस्त तथा स्वामिभक्त सेनानायक नरसिंहदास राठौड़ को[६७] पकड़ लिया। नरसिंहदास दुर्गादास आदि वीरों का साथी था, एवं इस समय मुग़ल साम्राज्य में यत्र-तत्र लूट-मार करना या उपद्रव मचाना ही उसका प्रधान कार्य बन गयां था। शाही आज्ञानुसार उसे क़ैद करना रामसिंह के लिए आवश्यक हो गया था। इसकी सूचना औरंगज़ेब के पास जून २५, १६८१ ई० को अजमेर पहुँची। अब तक बहलोल शीरानी जालोर नहीं पहुँचा था, और न कुछ समय तक उसके वहाँ पहुँचने की आशा ही थी, एवं रामसिंह को हुक्म दिया गया कि वह स्वयं तो नरसिंहदास को लेकर अजमेर चला आवे और अपने पीछे आवश्यक सैनिक जालोर में छोड़ दे, जो बहलोल के वहाँ पहुँचने तक जालोर में उचित प्रबन्ध रखें।[६८]

रामसिंह को जालोर में रहते कोई एक माह के लगभग हो गया थां, जब औरंगज़ेब की उपर्युक्त आज्ञा के अनुसार उसे जालोर से अजमेर के लिए रवाना होना पड़ा। जुलाई २० के लगभग वह अजमेर पहुँचा, और जुलाई २४ को औरंगज़ेब की सेवा में उपस्थित होकर उसने नौ मोहरें भेंट की। जुलाई ३० को जब रामसिंह शाही दरबार में पुनः उपस्थित हुआ, तब औरंगज़ेब ने उससे जालोर के हाल

---

[६७] नरसिंहदास—यह दयालदास उदावत राठौड़ का पुत्र था। उसका विशेष विवरण नहीं मिलता है; यत्र-तत्र उल्लेखों के लिए देखो—ख्यात०, २, पृ० २, ७, ५३, ५६।

नरसिंहदास शाही दरबार में पहुँचा या नहीं और आगे चलकर उसका क्या हुआ, इसका कोई विवरण नहीं मिलता है।

[६८] जय० अख़०, औरं०, २४ (२), पृ० २३८, ३२८।

पूछे और वहाँ बरसात कब और कैसी हुई है यह जानना चाहा। रामसिंह को जालोर छोड़े कुछ समय हो गया था एवं उसने जालोर सम्बन्धी बातों की अनभिज्ञता ही प्रगट की और निवेदन किया कि जिस समय वह जालोर में था तब श्रावण माह (जून २०-जुलाई २०, १६८१ ई०) में एक बार बरसात हुई थी।[६९]

रामसिंह की जालोर की फ़ौजदारी इस प्रकार समाप्त हुई। औरंगज़ेब ने मेवाड़ के साथ सन्धि कर ली थी और मारवाड़ पर शाही आधिपत्य हो चुका था। विद्रोही राठौड़ अब भी यत्र-तत्र लूट-मार कर रहे थे, परन्तु उनकी शक्ति पूर्णतया घट चुकी थी। इसके विपरीत विद्रोही शाहज़ादे अकबर के दक्षिण जाकर मरहठों से मिल जाने से औरंगज़ेब के सम्मुख एक नई ही समस्या उठ खड़ी हुई थी। यों औरंगज़ेब के साथ ही रामसिंह भी पुन: दक्षिणी भारत की ओर आकृष्ट हुआ।

४. दक्षिण की अन्तिम यात्रा; रामसेज के क़िले का घेरा; कल्याण-भिवण्डी का युद्ध और रामसिंह की मृत्यु; उसकी रानियों का रतलाम में सती होना; १६८१-१६८३ ई०

जुलाई, १६८१ ई० में रामसिंह का मनसब डेढ़ हज़ारी-चौदह सौ सवार का था, जिनमें से सात सौ सवार दो-अस्पा थे। जुलाई ३१, १६८१ ई० को औरंगज़ेब ने रामसिंह के इस मनसब में पाँच सदी ज़ात बढ़ाने तथा तीन सौ सवार और दो-अस्पा किए जाने का हुक्म दिया, जिससे रामसिंह का मनसब अब बढ़ कर दो हज़ार

---

[६९] अख़० औरं०, २४, पृ० २४, ४६, ६२-६३।

ज़ात—चौदह सौ सवारों का होगया जिनमें से एक हज़ार सवार दो-अस्पा थे ।[७०] रामसिंह के मनसब में वृद्धि तो कर दी गई, परन्तु इस बढ़े हुए मनसब की जागीर उसे कुछ समय तक नहीं मिली, एवं अगस्त २८, १६८१ ई० को औरंगज़ेब ने हुक्म दिया कि जहाँ तक रामसिंह को यह नई जागीर न मिल जावे, वह दो-अस्पा घोड़ों की खुराक का खर्चा न करे। अक्तूबर २०, १६८१ ई० को जाकर कहीं रामसिंह को दी जाने के लिए आवश्यक जागीर की तजवीज होकर उसे प्रदान करने की आज्ञा हुई । मालवा में रतलाम परगने से लगे हुए बदनावर और रामगढ़ के परगने उसे दिए गए। इन परगनों की आमदनी तब क्रमशः ४० और १४ लाख दामों की थी। ये दोनों परगने दिलेर ख़ाँ की जागीर में थे, एवं वे दिलेर ख़ाँ से छुड़ा कर रामसिंह को दिए गए, और इनके बदले में दिलेर ख़ाँ को इलाहाबाद सूबे में जागीर देने का हुक्म हुआ ।[७१] बदनावर और रामगढ़ के परगने रामसिंह को उसके बढ़े हुए मनसब के अनुरूप जागीर पूरी करने के लिए यों व्यक्तिगतरूपेण प्राप्त हुए। ये परगने कब तक रामसिंह के अधिकार में रहे यह कहना कठिन है, क्योंकि उसके मनसब में इस समय निरन्तर परिवर्तन होते रहे और इस घटा-बढ़ी में कौन से परगने कब उसके अधिकार से निकल गए इसका विवरण प्राप्त नहीं है । रामसिंह की मृत्यु के बाद तो उनका पुनः शाही अधिकार में चला जाना निश्चित ही था।

मेवाड़ के साथ सन्धि हो गई थी। मारवाड़ और आस-पास के प्रदेशों के शासन की भी ठीक व्यवस्था करके औरंगज़ेब ने दक्षिण की ओर ध्यान दिया। अप्रेल ५, १६८० ई० को शिवाजी की मृत्यु

[७०] अख़० औरं०, २४, पृ० ६३, ७०।

[७१] अख़० औरं०, २४-२५, पृ० १४२, २६६।

होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र शंभाजी उसका उत्तराधिकारी बन कर मरहठों का राजा बना। मुग़ल साम्राज्य के विरोध की नीति को उसने जारी रखा था। विद्रोही शाहज़ादे अकबर के दक्षिण जा पहुँचने से अब वहाँ की राजनैतिक परिस्थिति और भी उलझ गई। पुनः बीजापुर और गोलकुण्डा के स्वाधीन राज्यों को जीत कर उन्हें मुग़ल साम्राज्य में मिलाने को औरंगज़ेब पहिले से ही उत्सुक था। अतएव औरंगज़ेब ने ससैन्य दक्षिण जाने का निश्चय किया। जुलाई ३१, १६८१ ई० को आज़म एक बड़ी सेना लेकर आगे रवाना हुआ और सितम्बर ८, १६८१ ई० को औरंगज़ेब स्वयं अजमेर से दक्षिण के लिए चल पड़ा। औरंगज़ेब के साथ रामसिंह और उसके साथी भी दक्षिण को चले। दक्षिण के लिए रवाना होने से पहिले औरंगज़ेब ने अपने विभिन्न सेनानायकों के सैनिकों आदि का पूरा प्रबन्ध देख लिया था, और उसी सिलसिले में अगस्त २८, १६८१ ई० को उसने आज्ञा दी थी कि बल्लू चौहान का पुत्र नथमल और मदनसिंह रामसिंह के सैनिक दल के साथ रहें। नथमल का मनसब तीन सदी ज़ात–चालीस सवार का था और मदनसिंह का मनसब डेढ़ सदी ज़ात–बीस सवार का था।[७२] औरंगज़ेब ससैन्य बुरहानपुर की ओर

---

[७२] औरंग०, ३, पृ० ३७१; ४, पृ० २७२-७, २६१; मा० आ०, पृ० २११, २१२; अख़० औरं०, २४, पृ० १४२।

नथमल का पिता बल्लू चौहान, सांचोरा सावन्तसिंह का पुत्र एवं महेशदास राठौड़ का वीर साथी अल्लू सांचोरा ही था या नहीं, यह निश्चित रूपेण नहीं कह सकते हैं। नैणसी० में बल्लू के केवल दो पुत्र, वेणीदास और नरहर के ही नाम दिए हैं; वहाँ नथमल का नाम नहीं मिलता है (१, पृ० १७६-१७७)।

मदनसिंह कौन था, यह ज्ञात नहीं हो सका।

बढ़ रहा था। राह में से ही नवम्बर ७ को उसने अपने विश्वस्त सेनानायक हसन अली ख़ाँ को चौदह हज़ार सेना के साथ महाराष्ट्र के तल-कोंकण प्रदेश की ओर भेजा। दलपत बुन्देला के समान रामसिंह राठौड़ और उसके सैनिक भी संभवतः हसन अली ख़ाँ के साथ इसी समय भेजे गए थे।[७३] रामसिंह राठौड़ की गणना इस समय मुग़ल साम्राज्य के वीर अनुभवी सेनानायकों में होने लगी थी एवं उसे अपने साथ रखने को प्रत्येक सेनापति उत्सुक रहता था। नवम्बर १०, १६८१ ई० को बुरहानपुर के सूबेदार, ख़ान ज़मान की अर्ज़ी औरंगज़ेब की सेवा में पहुँची जिसमें उसने प्रार्थना की थी कि रामसिंह को उसके साथ नियुक्त किया जावे, किन्तु औरंगज़ेब ने उसकी इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया।[७४]

हसन अली ख़ाँ बुरहानपुर से ससैन्य जुन्नर होता हुआ उत्तरी कोंकण की ओर बढ़ा। मुग़ल सेना का सामना करने का मरहठों को साहस न हुआ। तल-कोंकण में उतरने के लिए मुग़ल सेना नानाघाट दर्रे में घुसी, तब मरहठों ने उसके पिछले हिस्से पर हमला किया। युद्ध में दोनों ओर के सैनिक और सेनानायक मारे गए, परन्तु मरहठे मुग़ल सेना को रोकने में सफल नहीं हुए। फ़रवरी, १६८० ई० के पहले सप्ताह में हसन अली ख़ाँ ने कल्याण पर अधिकार कर लिया। कुछ दिन कल्याण ठहर कर हसन अली ख़ाँ नासिक की ओर लौट गया। तल-कोंकण की इस सारी चढ़ाई में रामसिंह

---

[७३] अख़्ब० औरं०, २५, पृ० ३०६; औरंग०, ४, पृ० २६४; जय० अख़्ब०, औरं०, २५, पृ० ५४६; भीम०, १, पृ० १७२।

[७४] अख़्ब० औरं०, २५, पृ० ३१२।

हसन अली ख़ाँ के साथ ही था और इन युद्धों में वह वीरतापूर्वक लड़ा था।[७५]

औरंगज़ेब नवम्बर १३, १६८१ ई० को बुरहानपुर पहुँचा। फ़रवरी २८, १६८२ ई० को वहाँ से रवाना होकर मार्च २२ को वह औरंगाबाद आया। वहाँ से उसने शहाबुद्दीन ख़ाँ को ससैन्य नासिक की ओर मरहठों का सामना करने भेजा; दलपत बुन्देला की नियुक्ति शहाबुद्दीन के साथ की गई और रामसिंह राठौड़ तथा उसके सैनिकों को भी शहाबुद्दीन की सेना में सम्मिलित होने का हुक्म मिला। ख़ानदेश में नासिक के आस-पास के अन्य छोटे-मोटे क़िलों को जीतने के बाद अप्रेल के प्रारम्भ में शहाबुद्दीन ने रामसेज क़िले का घेरा डाला।[७६]

रामसेज का यह क़िला नासिक से कोई ७ मील उत्तर में समुद्र-सतह से ३२७३ फुट ऊँची पहाड़ी के शिखर पर बना हुआ है। इस समय यह क़िला एक अनुभवी वीर मरहठा क़िलेदार के आधीन था। उसने क़िले के बचाव और सुरक्षा के लिए भरसक प्रयत्न किया। क़िले पर हमला करने के मुग़ल सेना के सारे प्रयत्न विफल ही रहे। अन्त में शहाबुद्दीन ने लकड़ी का एक बुर्ज़ बनवाया, जिस पर से क़िले में गोलाबारी की जा सके। इस बुर्ज़ को बनाने में बड़ी मिहनत पड़ी और बहुत सा द्रव्य व्यय हुआ, फिर भी इससे यथेष्ट लाभ नहीं पहुँचा।[७७]

---

[७५] जय० अख़०, औरं०, २५, पृ० ७५, ८८, ६१, ११४, १४५, १५६, ५४६; भीम०, १, पृ० १७२-३; औरंग०, ४, पृ० २६४।

[७६] मा० आ०, पृ० २१४, २१७; भीम०, १, पृ० १७६; ख़फ़ी०, २, पृ० २८१-२; जय० अख़०, औरं०, २५, पृ० २१२; औरंग०, ४, पृ० २६५-६।

[७७] भीम०, १, पृ० १७६; ख़फ़ी०, २, पृ० २८२; औरंग०, ४, पृ० २६५-६।

इधर मई के प्रारम्भ में क़िला का घेरा डालने वाली सेना पर आक्रमण करने के लिए रूपाजी भोंसले और मानाजी मोरे के सेनापतित्व में मरहठों की एक सेना दक्षिण से रामसेज की ओर बढ़ी। औरंगज़ेब ने यह समाचार सुन कर शहाबुद्दीन की सहायता के लिए ख़ान जहाँ को ससैन्य रामसेज भेजा। मरहठों की यह सारी सेना तो रामसेज तक नहीं पहुँची, किन्तु उसके कुछ दलों ने वहाँ तक बढ़ कर मुग़ल सेना के मोरचों पर हमले किए। मई ७ को रात के समय उन्होंने पहिले दलपत के मोरचों पर हमला किया और बाद में रामसिंह राठौड़ तथा उसके सैनिकों को उनका सामना करना पड़ा; इस रात्रि-युद्ध में रामसिंह स्वयं भी लड़ा। उन्होंने बहुत से मरहठों को मारा तथा अन्त में उन्हें हरा कर भगा दिया। इस युद्ध में रामसिंह के नौ आदमी मारे गए और ७० सैनिक घायल हुए थे।[७८] इसी तरह मई १३ और १४ को रामसेज का घेरा डालने वालों पर मरहठों के दलों ने और भी हमले किए। मई १४ को ख़ान जहाँ रामसेज जा पहुँचा। उसे रामसेज की ओर आते देख कर शहाबुद्दीन ससैन्य वहाँ से मरहठों की इस सेना का सामना करने को एक दिन पहिले ही रामसेज से रवाना हो गया। शरीफ़ ख़ाँ भी नासिक से बहुत-कुछ सेना लेकर शहाबुद्दीन से जा मिला। मई १४ को नासिक से पश्चिम में मरहठों के साथ डट कर युद्ध हुआ जिसमें हार कर मरहठे भाग खड़े हुए। शाही सेना के भी अनेकों मनसबदार और सैकड़ों सैनिक मारे गए या घायल हुए।[७९]

---

[७८] जय० अख़्ब०, औरं०, २५, पृ० ३०६, ३१८, ५३०; ख़फ़ी०, २, पृ० २८२; भीम०, २, पृ० १७६; औरंग०, ४, पृ० २६६।

[७९] जय० अख़्ब०, औरं०, २५, पृ० ३१८, ३२१, ३३०; मा० आ०, पृ० २१८; जेधे शकावली; औरंग०, ४, पृ० २६६। मा० आ० के आधार पर

सहायता के लिए आई हुई मरहठों की सेना को लौटना पड़ा, परन्तु अब तक रामसेज क़िले पर एक बार भी आक्रमण नहीं हुआ था, एवं औरंगज़ेब बहुत ही क्रुद्ध हो उठा। इस क़िले को जीतने में शहाबुद्दीन की मदद के लिए क़ासिम ख़ाँ के नाम भी रामसेज जाने का हुक्म मई १९ को भेजा गया। इधर शहाबुद्दीन ने भी मई २७ को क़िले पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया। शाही सेना क़िले की ओर बढ़ी और साथ ही शाही तोपों ने क़िले की एक बुर्ज़ पर गोलाबारी की। गोलों की इस मार से भग्न होकर जब यह बुर्ज़ गिरा तब तक शाही सैनिक उसके पास तक पहुँच चुके थे, जिससे अनेकों शाही सैनिक उसके नीचे दब कर मर गए या घायल हुए। इस दुर्घटना के बाद शाही सेना पीछे हट आई और आक्रमण का यह प्रयत्न विफल ही रहा।[८०]

रामसेज के इस घेरे के प्रारम्भ से ही रामसिंह राठौड़ और उसके सैनिक पूरी तत्परता के साथ उसमें लगे हुए थे, एवं इन सारे प्रयत्नों में हाथ बँटा रहे थे। मई २८ को औरंगज़ेब ने हुक्म दिया कि रामसिंह और उसके सैनिकों को शहाबुद्दीन की सेना से वापस औरंगाबाद बुला लिया जावे, एवं मई २७ के इस असफल आक्रमण के चार-पाँच दिन बाद ही रामसिंह और उसके सैनिकों को शाही दरबार के लिए रवाना हो जाना पड़ा। जून, १६८२ ई० के पहिले सप्ताह में वह औरंगाबाद पहुँचा होगा।[८१]

औरंग०, ४, पृ० २६७ पर इस युद्ध का मई २० के दिन होना लिखा है, परन्तु जय० अख़०, औरं०, २५, पृ० ३३० पर शरीफ़ ख़ाँ के पत्र के आधार पर यह युद्ध मई १४ को होना बताया है, जो अधिक ठीक और विश्वसनीय है।

[८०] जय० अख़०, औरं०, २५, पृ० ३२५, ३५८; औरंग०, ४, पृ० २६७।

[८१] जय० अख़०, औरं०, २५, पृ० ३४६।

इधर जून १४, १६८२ ई० को औरंगज़ेब ने शाहज़ादे आज़म को एक बड़ी सेना देकर औरंगाबाद से बीजापुर की ओर रवाना किया। सम्भवतः इसी समय रामसिंह और उसके सैनिकों की भी नियुक्ति आज़म की सेना में की गई थी, परन्तु उसके इग्यारह दिन बाद ही जून २५ को औरंगज़ेब ने रामसिंह को आज़म की सेना से बदल कर पीछा शहाबुद्दीन के साथ नियुक्त कर दिया। हसन अली ख़ाँ और कलीच ख़ाँ को आज़म की सेना में सम्मिलित होने का हुक्म दिया जा चुका था, एवं रामसिंह को भी आज़म के साथ रहने देना आवश्यक नहीं जान पड़ा होगा। जून १४ से जून २५ के लगभग तक रामसिंह राठौड़ आज़म के साथ रहा या आज़म की सेना में नियुक्ति होते हुए भी शाही दरबार में औरंगाबाद ही बना रहा यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। इस समय रामसिंह का मनसब डेढ़ हज़ारी ज़ात–हज़ार सवारों का था जिनमें से छः सौ सवार दो-अस्पा थे। जुलाई ३१, १६८१ ई० को बढ़ाया गया मनसब पुनः क्यों कम किया गया, एवं यह कमी कब की गई थी, इसका कोई भी उल्लेख कहीं नहीं मिलता है।[८२]

शहाबुद्दीन इस समय भी रामसेज का घेरा डाले उस क़िले को जीतने का प्रयत्न कर रहा था, एवं रामसिंह अपने साथियों और सैनिकों को लेकर जुलाई, १६८२ ई० के प्रारम्भिक दिनों में पुनः

मा० आ०, पृ० २१६ के आधार पर औरंग०, ४, पृ० २६७ पर मई के अन्त में हयात ख़ाँ को सज़ावल के तौर पर रामसेज भेजने का उल्लेख किया गया है। हयात ख़ाँ को जून ५ के दिन उक्त आज्ञा दी गई थी। जय० अख़०, औरं०, २५, पृ० ३६५।

[८२] मा० आ०, पृ० २१६; जय० अख़०, औरं०, २५, पृ० ३८५, ४१४, ४१५; औरंग०, ४, पृ० २६८, ३६५।

रामसेज लौट आया। क़ासिम खाँ भी तव रामसेज में ही था और शहाबुद्दीन की सहायता कर रहा था। जुलाई ७ को क़िले पर धावा किया गया। क़िले की दीवालें ऊँची थीं और क़िले वाले ऊपर से पत्थर बरसाने लगे, जिनकी चोटें खाकर कई शाही सैनिक मर गए। शाही सेना को विफल होकर लौटना पड़ा।[८७]

इधर इन्हीं दिनों क़ासिम खाँ और शहाबुद्दीन में अनबन हो गई जिससे शाही सेना को सफलता मिलना असम्भव-सा हो गया। इस खटपट का हाल जब औरंगज़ेब को ज्ञात हुआ तो उसने जुलाई १३ के दिन क़ासिम खाँ को लौट आने का हुक्म दिया। जुलाई १६ को औरंगज़ेब ने रामसेज क़िले का काम सम्हालने का ख़ान जहाँ को हुक्म दिया। शहाबुद्दीन को आज़म की सेना में सम्मिलित होने की आज्ञा दी गई। रामसेज के क़िले सम्बन्धी मामले पर सलाह करने को जुलाई २४ के दिन औरंगज़ेब ने ख़ान जहाँ को औरंगाबाद बुलवा भेजा। किन्तु इसी अरसे में शहावुद्दीन और कासिम खाँ में मेल हो गया था एवं औरंगज़ेब ने उन्हें रामसेज में ही वने रहने की आज्ञा दे दी।[८८]

इस आपसी अनबन के होते हुए भी शहावुद्दीन क़िले पर आक्रमण करता ही रहता था। जुलाई १७ को जो हमला हुआ उसमें चार शाही सैनिक क़िले की दीवार तक पर चढ़ गए, किन्तु क़िले के रक्षकों ने उन्हें मार डाला एवं चढ़ने का प्रयत्न करते हुए अन्य शाही सैनिकों को मार भगाया। आक्रमणकारियों को यों विफल होकर पुनः लौटना पड़ा। इसके कोई एक सप्ताह वाद लगभग एक हज़ार मरहठों

---

[८७] जय० अख़०, औरं०, २५, पृ० ४५५।

[८८] जय० अख़०, औरं०, २५, पृ० ४५८, ४६३, ४८३, ४६३।

का दल रामसेज की ओर आया, और क़िले में घिरे हुए सैनिकों की सहायतार्थ उन्होंने शाही सेना के मोरचों पर हमला किया। लड़ाई में बहुत से मरहठे मारे गए और बाकी भाग खड़े हुए। इन्हीं आक्रमणों में तथा मरहठों का सामना करते हुए रामसिंह के भी सात सैनिक मारे गए और १७० सिपाही घायल हुए थे। अपने बढ़े हुए मनसब में जो कमी हो गई थी वह रामसिंह को बहुत ही खटक रही थी, एवं अगस्त के प्रारम्भ में उसने शहाबुद्दीन को बाध्य किया कि मई ७, १६८२ ई० के युद्ध में रामसिंह की कार्यवाही की पूरी-पूरी रिपोर्ट औरंगज़ेब की सेवा में पेश करे। उसके कुछ ही दिन वाद रामसिंह ने स्वयं भी अपनी सेवाओं का उल्लेख करते हुए, अपने बढ़े हुए मनसब में पाँच सदी ज़ात की की गई कमी को रद किए जाने की प्रार्थना की। रामसिंह की यह अर्ज़ी अगस्त १६, १६८२ ई० को औरंगज़ेब के पास पहुँची। औरंगज़ेब ने तत्काल ही कोई वृद्धि न कर भविष्य में उसकी प्रार्थना पर विचार करने की आशा बँधवाई।[८५]

उधर जुलाई के अन्तिम दिनों में बरसात ज्यादा होने से रामसेज पर आक्रमण नहीं हो रहे थे, एवं अगस्त ९ को औरंगज़ेब ने दो और दूतों को हयात ख़ाँ के पास रामसेज भेजा कि क़िले पर आक्रमण के लिए वे ताकीद करें। परन्तु इधर क़ासिम ख़ाँ और शहाबुद्दीन में पुनः मनमुटाव हो गया था, जिससे आक्रमण सफल नहीं हो रहे थे। अगस्त २७ को औरंगज़ेब ने क़ासिम ख़ाँ को रामसेज से वापस बुलवा लिया। औरंगज़ेब हयात ख़ाँ को भी बुलवाने की सोच रहा था, परन्तु इसी समय शहाबुद्दीन ने वादा किया कि वह सितम्बर ७ से पहिले ही क़िले को जीत लेगा, एवं हयात ख़ाँ को सितम्बर २२ तक रामसेज ही

---

[८५] जय० अख़० , औरं०, २५, पृ० ४८३, ४६६, ५३०, ५४६।

ठहरने की आज्ञा दी गई। किन्तु शहाबुद्दीन अपने वादे के अनुसार क़िले को नहीं ले सका। ख़ान जहाँ भी सितम्बर १५ के लगभग रामसेज जा पहुँचा और उसने क़िले के घेरे के संचालन का भार उठा लिया एवं सितम्बर २६ के दिन शहाबुद्दीन को हुक्म मिला कि वह रामसेज क़िले के घेरे का सारा काम तथा वहाँ के सारे शाही तोपखाने को ख़ान जहाँ को सम्हलवा कर आज्ञानुसार रामसेज से अन्यत्र चला जावे। तदनुसार सितम्बर २८ को शहाबुद्दीन रामसेज से चल पड़ा। इसी अवसर पर औरंगज़ेब ने रामसिंह राठौड़ और उसके सैनिकों को भी रामसेज से हटा लिया; शहाबुद्दीन की सेना से बदल कर उनकी नियुक्ति शाहज़ादे मुईज़ुद्दीन की सेना में की गई।[८६]

मरहठों का उपद्रव बढ़ने लगा था, एवं वे दूर दूर तक शाही प्रदेश पर चढ़ाई कर लूट-मार करने लगे थे। उनका सामना कर उसका अन्त कर देने को औरंगज़ेब प्रबन्ध करने लगा। शाहज़ादे शाहआलम के ज्येष्ठ पुत्र मुईज़ुद्दीन को उसने बुरहानपुर से बुलवाया था; वह सितम्बर १६ को औरंगाबाद पहुँचा। सितम्बर २६ को औरंगज़ेब ने उसे हुक्म दिया कि मरहठों को दबाने के लिए वह ससैन्य पेड़गाँव की ओर जावे। मुईज़ुद्दीन के साथ जाने वाले अन्य मनसबदार

---

[८६] जय० अख़०, औरं०, २५, पृ० ५१४, ५२५; २६ (१), पृ० १०, २६, ४३, ६७, ११३, ११४, १२८।

औरंग०, ४, पृ० २६८ पर लिखा है कि शहाबुद्दीन जून (१६८२ ई०) में नासिक से बदल कर जुन्नर भेजा गया। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। शहाबुद्दीन सितम्बर २८, १६८२ ई० तक नासिक जिले के अन्तर्गत रामसेज के सामने ही डटा हुआ था। वहाँ से उसे पहिले अन्तूर जाने का हुक्म मिला, और बाद में वह अक्तूबर ३ और ७, १६८२ ई० को क्रमशः अहमदनगर तथा जुन्नर की ओर भेजा गया था। जय० अख़०, औरं०, २६ (१), पृ० ११४, १२८, १४४, १५५।

सेनानायकों में रामसिंह राठौड़ का भी नाम था। सितम्बर २८ को मुईज़ुद्दीन अपने साथियों तथा प्राप्य सेना को लेकर औरंगाबाद से चल पड़ा। तब रामसिंह राठौड़ रामसेज में शहाबुद्दीन के साथ था, एवं उसके पास वहाँ हुक्म पहुँचा कि वह सीधा मुईज़ुद्दीन की सेना में जाकर सम्मिलित हो जावे। इस समय रामसिंह का मनसब डेढ़ हज़ारी ज़ात-एक हज़ार सवारों का था, जिनमें से सात सौ सवार दो-अस्पा थे।[८७]

मुईज़ुद्दीन औरंगाबाद से पेड़गाँव के लिए चल पड़ा, और रामसिंह राठौड़ उसकी सेना में जा मिला। परन्तु अक्तूबर १२ को उसे आदेश हुआ कि वह पेड़गाँव न जाकर अहमदनगर ही ठहरे और उस ज़िले की रक्षा का प्रयत्न करे। कुछ समय बाद नवम्बर ४, १६८२ ई० को उसे पुन: पेड़गाँव जाने का हुक्म मिला। उस ओर से शाही प्रदेश पर आक्रमण करने वाले मरहठों को रोकना और उन्हें मार भगाना ही अब उसका प्रधान् कर्तव्य हो गया। मुईज़ुद्दीन के साथ रामसिंह भी पेड़गाँव को चल पड़ा। नवम्वर के अन्तिम दिनों में वे पेड़गाँव पहुँचे एवं मरहठों की देख-भाल करने को भीमा नदी पार कर उस प्रदेश में घूमने लगे।[८८]

---

[८७] मा० भ्रा०, पृ० २२२; जय० अख़०, औरं०, २६ (१), पृ० ११३, १२०; औरंग०, ४, पृ० २६८।

पेड़गाँव (बहादुरगढ़)—अहमदनगर से कोई ४५ मील एवं श्रीगोण्डा से ६ मील दक्षिण में भीमा नदी के उत्तरी तीर पर स्थित यह स्थान उस समय मुग़ल साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण सैनिक केन्द्र और युद्ध-सामग्री का बड़ा भण्डार था। ख़ान जहाँ ने 'पेड़गाँव' नाम बदल कर इसका नया नाम 'बहादुरगढ़' रखा था, एवं तब कई स्थानों में इस नए नाम से भी उसका उल्लेख मिलता है।

[८८] मा० आ०, पृ० २२२; जय० अख़०, औरं०, २६ (१), पृ० १८७, २३६ ३३२।

औरंगज़ेब के विचारानुसार महाराष्ट्र में पुरन्धर क़िले की ओर शाही सेना भेजना आवश्यक हो गया था, एवं दिसम्बर १८, १६८२ ई० को उसने मुग़ल ख़ाँ के नाम, जो इस समय मुईज़ुद्दीन के साथ ही था, एक फ़रमान भेजा कि वह ३३१५ सवारों का एक दल लेकर पुरन्धर की ओर जावे तथा वहाँ मरहठे विद्रोहियों को दबावे। मुग़ल ख़ाँ के साथ जाने वालों में रामसिंह राठौड़ को भी नियुक्त किया गया। इस शाही आज्ञानुसार मुग़ल ख़ाँ अपने साथी सेनानायकों को लेकर दिसम्बर २५ के दिन मुईज़ुद्दीन के पास से पुरन्धर के लिए चल पड़ा। रामसिंह भी उसके साथ गया। मुग़ल ख़ाँ अपने सवारों के साथ बड़ी तेजी से पुरन्धर जा पहुँचा; राह में पड़ने वाले. मरहठों के गाँव को लूटा और आग लगा कर उन्हें जला डाला, तथा उसका सामना करने वाले दलों को हरा कर मार भगाया। उसकी इस सारी कार्यवाही का विवरण जनवरी १, १६८३ ई० को उसी की अर्ज़ी से औरंगज़ेब को ज्ञात हुआ। तब उसने दूसरे दिन ही मुग़ल ख़ाँ के नाम हुक्म भेजा कि वह औरंगाबाद को लौट आवे। उसी दिन मकहूर ख़ाँ को भी कहलाया गया कि वह कोई सवा तीन हज़ार सवारों के दल को साथ लेकर पेड़गाँव से ५० मील के लगभग दक्षिण-पूर्व में भीमा नदी के उत्तरी तीर पर स्थित तेम्भरणी नामक स्थान पर जाकर पड़ाव डाले। इस समय मकहूर ख़ाँ के साथ जाने के लिए रामसिंह और उसके सैनिकों को भी हुक्म मिला। इस हुक्म के अनुसार रामसिंह तेम्भरणी गया या नहीं इसका विवरण नहीं मिलता है।[८९]

---

[८९] जय० अख़०, औरं०, २६ (१), पृ० ३६७; २६ (२), पृ० ४०, ६०, ६६, १२६।

यों रामसिंह को मकहूर ख़ां के साथ तेम्भरणी भेजा गया था, परन्तु तब भी उसकी गणना मुईज़ुद्दीन की सेना के अन्तर्गत ही होती थी। किन्तु औरंगज़ेब ने रामसिंह को यहाँ भी अधिक दिन नहीं रहने दिया। जनवरी १८ के दिन उसने हुक्म दिया कि मुईज़ुद्दीन की सेना से बदल कर रामसिंह को रुहेला ख़ाँ की सेना में नियुक्त किया जावे। तदनुसार जनवरी २१ के लगभग पेड़गाँव के पास से रवाना होकर वह जनवरी २४ को औरंगाबाद पहुँचा तथा वहाँ रुहेला ख़ाँ की सेना में शामिल हो गया।[१०]

अक्तूबर, १६८२ ई० के दूसरे सप्ताह में औरंगज़ेब ने रणमस्त ख़ाँ को ससैन्य तल-कोंकण प्रदेश पर चढ़ाई करने का हुक्म दिया था। तदनुसार वह महाजे दर्रे में होकर तल-कोंकण में उतर पड़ा, और राह में सामना करने वाले मरहठे दलों से निरन्तर लड़ता-भिड़ता, नवम्बर के अन्तिम दिनों में वह कल्याण-भिवण्डी जा पहुँचा। वहाँ ठहर कर वह एक छोटा सा क़िला बनवाने लगा। रणमस्त ख़ाँ चाहता था कि इस क़िले को पूरा कर वहाँ एक अच्छा शक्तिशाली थाना स्थापित करे और तब कोंकण प्रदेश में आगे बढ़े। किन्तु वह क़िला बन ही रहा था कि मरहठों के दल निरन्तर उस पर आक्रमण करने लगे। जनवरी, १६८३ ई० के प्रारम्भिक दिनों में जाकर वह क़िला पूरा हो पाया, किन्तु तब तक रणमस्त ख़ाँ की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गई थीं। उसे निरन्तर मरहठे आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ रहा था। वह कल्याड़-भिवण्डी से आगे नहीं बढ़ सका।[११]

कोंकण में मरहठों का यह उपद्रव अधिकाधिक बढ़ने लगा।

---

[१०] जय० अख़०, औरं०, २६ (१), पृ० १३६, १५६।

[११] जय० अख़०, औरं०, २६ (१), पृ० १६०, २४१, २५१, २६०, ३४३; २६ (२), पृ० ३, १०, ६५, ७४, १००। औरंग०, ४, पृ० २६६, ३००।

जनवरी के दूसरे सप्ताह में रणमस्त ख़ाँ ने अपनी एक अर्ज़ी में औरंगाबाद लिख भेजा कि मरहठों के जो दल कुछ ही समय पहिले बीजापुर से उत्तर में धरूर के पास शाहज़ादे आज़म का सामना कर रहे थे, वे भी अब कोंकण में उस पर आक्रमण करने के लिए वहाँ चले आए थे। रणमस्त ख़ाँ को कई नए सैनिक भी रखना पड़े, उन्हें तनख़्वाह चुकाने और सेना के अन्य व्यय के लिए भी रणमस्त ख़ाँ के पास द्रव्य भेजना आवश्यक हो गया था। मरहठों के उपद्रव के कारण दूसरी राह ख़ज़ाना भेजना ख़तरे से ख़ाली नहीं था, एवं सूरत से ही उसे सीधा भिजवाने का आयोजन किया गया और इस खजाने के साथ जाने के लिए सैय्यद इज़्ज़त ख़ाँ, बीकानेर के राव करण का तीसरा पुत्र पदमसिंह, आदि सेनानायकों को नियुक्त किया गया। यह हुक्म जनवरी १९ 'को दिया गया था, परन्तु इज़्ज़त ख़ाँ, आदि फ़रवरी ५ से पहिले कल्याण-भिवण्डी के लिए रवाना नहीं हो सके। सूरत की ओर होते हुए वे रामनगर की राह कल्याण की ओर बढ़े।[९२]

उधर ख़ान जहाँ नासिक से औरंगाबाद के पास होता हुआ जनवरी २० को बीजापुर की सीमा पर नान्देर की ओर चला गया था, एवं उसके स्थान पर रुहेला ख़ाँ जनवरी २५ के दिन नासिक

---

[९२] जय० अख़० औरं०, २६ (२), पृ० १४४, ६५, ७४, ६४, १३६, १४०, १४४, २३७।

रामनगर—वर्तमान धरमपुर राज्य में धरमपुर शहर से २४ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित नगर नामक स्थान का प्राचीन नाम। मुग़ल काल में रामनगर ही इस राज्य की राजधानी था और इस शहर के नाम से ही यह राज्य भी 'रामनगर राज्य' कहलाता था। बम्बई गेज़ेटियर, १८८० का संस्करण, ६, पृ० २५६, २५७; मीरात्-इ-अहमदी, अंग्रेज़ी अनुवाद, सप्लीमेंट, पृ०१६३, १६७।

जाने के लिए औरंगाबाद से बिदा हुआ। मुईज़ुद्दीन की सेना से रवाना होकर रामसिंह राठौड़ और उसके सैनिक भी एक दिन पहिले ही औरंगाबाद पहुँच कर रुहेला ख़ाँ की सेना में शामिल हुए थे, एवं वे भी रुहेला ख़ाँ के साथ ही जनवरी २५ को औरंगाबाद से चल पड़े और फ़रवरी ५ को नासिक पहुँचे। जनवरी २५ को क़ासिम ख़ाँ के पास भी हुक्म भेजा गया था, एवं तदनुसार वह भी ससैन्य नासिक में रुहेला ख़ाँ की सेना में जा मिला। किन्तु फ़रवरी १० को औरंगज़ेब ने रुहेला ख़ाँ को वापस औरंगाबाद बुलवाने की सोची और हुक्म भेजा कि क़ासिम ख़ाँ को नासिक में सारी सेना का भार सौंप कर वह स्वयं औरंगाबाद लौट आवे। इसी सिलसिले में तीन दिन बाद यह भी हुक्म भेजा गया कि रुहेला ख़ाँ के लौट आने पर भी रामसिंह क़ासिम ख़ाँ के साथ ही नासिक में रहे। फ़रवरी १७ को रामसिंह को क़ासिम ख़ाँ की सेना से बदल कर मामूर ख़ाँ की सेना में नियुक्त किया गया, जो इस समय बीड़ के आस-पास मरहठों का सामना कर रहा था। सम्भवतः दूसरे दिन ही यह हुक्म रद कर दिया गया और रामसिंह नासिक में क़ासिम ख़ाँ के साथ ही बना रहा।[९३]

परन्तु कल्याण-भिवण्डी से जो समाचार आ रहे थे, वे किसी भी

---

[९३] मा० आ०, पृ० २२४; जय० अख़०, औरं०, २६ (२), पृ० १४८, १६१, १५६, २०१, १६१, २०५, २१६, २२६।

मामूर ख़ाँ के साथ इस समय की गई रामसिंह की नियुक्ति को रद करने का उल्लेख अख़बारों में नहीं मिलता है। परन्तु इस हुक्म के बाद भी रामसिंह कल्याण-भिवण्डी की चढ़ाई में रुहेला ख़ाँ के साथ था, एवं अनुमान यही होता है कि इस नियुक्ति के बाद ही उक्त चढ़ाई के लिए सेनानायकों की नियुक्ति करते समय रामसिंह को क़ासिम ख़ाँ के साथ ही बने रहने का हुक्म दिया गया होगा।

प्रकार सन्तोषप्रद न थे। औरंगज़ेब को यह आवश्यक जान पड़ा कि रणमस्त ख़ाँ की सहायता के लिए अधिक शाही सेना भेजी जावे। अतएव फरवरी १८ को उसने नासिक हुक्म भेजा कि रुहेला ख़ाँ औरंगाबाद को न लौटे तथा नासिक में ही ठहरा रहे। सम्भवतः उसी दिन यह आज्ञा भी दी गई थी कि नासिक से सेना लेकर क़ासिम ख़ाँ शीघ्र ही रणमस्त ख़ाँ की मदद के लिए कोंकण को चल पड़े। किन्तु क़ासिम ख़ाँ कोंकण के प्रदेश से बिल्कुल ही अनभिज्ञ था, एवं रुहेला ख़ाँ ने जब यह बात औरंगज़ेब को सूचित की तब उसने फरवरी २३ के दिन रुहेला ख़ाँ को लिखवा भेजा कि वह स्वयं ही क़ासिम ख़ाँ को साथ लेकर ससैन्य रणमस्त ख़ाँ की सहायतार्थ कोंकण जावे। औरंगज़ेब चाहता था कि रुहेला ख़ाँ जल्द ही रवाना हो जावे एवं ताकीद करने के लिए फरवरी २५ को पुनः एक दूत भेजा गया, जिसके फलस्वरूप फरवरी २८ के दिन रुहेला ख़ाँ और क़ासिम ख़ाँ ससैन्य नासिक से कोंकण के लिए चल पड़े। रामसिंह राठौड़ भी रुहेला ख़ाँ के साथ ही कोंकण के लिए रवाना हुआ। रामसिंह के भाई छत्रसाल और जेतसिंह भी इस चढ़ाई में रुहेला ख़ाँ के साथ थे।[१८]

रामसिंह रुहेला ख़ाँ के साथ कोंकण को जा रहा था, किन्तु उसकी आर्थिक कठिनाइयाँ अब भी उसे घेरे हुए थीं। जालोर की फ़ौजदारी में ऊँटों की डाक-चौकी के रु० ५७५) और रास-उल्-माल के रु० ७००) अब भी रामसिंह में लेना रहे थे। इन रुपयों की वसूली के लिए शाही कार्य-कर्त्ता रामसिंह को तंग कर रहे थे, एवं रामसिंह ने इस बाबत रुहेला ख़ाँ के ज़रिये एक अर्ज़ी औरंगज़ेब की सेवा में भेजी

---

[१८] जय० अख़०, औरं०, २६ (२), पृ० २३७, २५१, २५६, २७३, ४०६, ३६६, ४१७।

जो मार्च ११, १६८३ ई० के दिन उसके सम्मुख पेश हुई। औरंगज़ेब ने हुक्म दिया कि रास-उल्-माल तो ले लो और बाकी रुपया शाही लेन-देन में दाखिल कर दिया जावे।[९५]

रणमस्त ख़ाँ कल्याण-भिवण्डी में बैठा, अपनी सहायता के लिए आने वाली इन शाही सेनाओं की प्रतीक्षा में था। मरहठों के आक्रमण उस पर होते ही रहते थे। हम्बीर राव के नेतृत्व में मरहठों का एक बड़ा दल फरवरी २७ को कल्याण-भिवण्डी की ओर आया। रणमस्त ख़ाँ ने उस पर हमला किया जिसमें हम्बीर राव स्वयं घायल हुआ, उसका साला मारा गया तथा अन्त में मरहठे भाग खड़े हुए। शाही सेना के भी बहुत से सैनिक मारे गए।[९६]

रुहेला ख़ाँ और उसके सैनिकों को राह में अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था, जिससे वह धीरे-धीरे ही आगे बढ़ रहा था। मार्च ९ के लगभग वह अतगाँव नामक स्थान पर पहुँचा, जो कल्याण-भिवण्डी से केवल २४ मील की दूरी पर है। उधर इज़्ज़त ख़ाँ और पदमसिंह, आदि भी रामनगर की राह कल्याण की ओर आ रहे थे। इस समय वे रुहेला ख़ाँ से अधिक दूर न थे। उन्हें भी राह में कई बार मरहठों का सामना करना पड़ा। पुर्तगालियों ने अवश्य बिना किसी प्रकार की रोक-टोक के अपने दमन प्रदेश में से होकर उन्हें निकलने दिया। मार्च १३ के लगभग इज़्ज़त ख़ाँ, आदि भी रुहेला ख़ाँ की सेना में सम्मिलित हो गए एवं सब साथ ही कल्याण-भिवण्डी की ओर चले।[९७]

---

[९५] जय० अख़्ब०, औरं०, २६ (२), पृ० ३१२।

[९६] जय० अख़्ब०, औरं०, २६ (२), पृ० ३३४।

[९७] जय० अख़्ब०, औरं०, २६ (२), पृ० ३५६, ३३१; औरंग०, ४, पृ० ३१६।

अपने इन साथियों तथा इस सम्मिलित सेना को लेकर फरवरी १३, १६८३ ई० के दिन रुहेला ख़ाँ कल्याण पहुँचा और रणमस्त ख़ाँ के साथ जा मिला। रणमस्त ख़ाँ ने बहुत ही आग्रह किया कि रुहेला ख़ाँ भी कल्याण के उस नये बने हुए क़िले में जाकर वहाँ डेरा डाले, किन्तु क़िला छोटा था और रुहेला ख़ाँ के साथ की सेना इतनी अधिक थी कि वहाँ सब का समाना सम्भव नहीं था एवं रुहेला ख़ाँ ने उस क़िले के बाहर ही पड़ाव डाला। इस समय मरहठों का उपद्रव आस-पास बहुत था, एवं दूसरे दिन (फरवरी १४) रणमस्त ख़ाँ कल्याण में चुपचाप बैठ रहना उचित न समझ एक सैनिक दल लेकर गश्त करने को निकला। राह में उसकी मरहठों से मुठभेड़ हो गई, जिसमें अनेकों मरहठे मारे गए तथा अन्त में मैदान छोड़ कर वे भाग खड़े हुए। पुनः रुहेला ख़ाँ के नाम एक शाही फ़रमान उसी दिन कल्याण पहुँच रहा था, जिसकी पेशवाई के लिए रुहेला ख़ाँ कल्याण से निकला। राह में उसे भी मरहठों के दल का सामना करना पड़ा। रुहेला ख़ाँ ने उसे मार भगाया, परन्तु इस युद्ध में शाही सेना के भी कई सैनिक मारे गए।[१८]

इसी प्रकार शाही सेना को मरहठे दलों के साथ निरन्तर युद्ध करने पड़ रहे थे। रामसिंह राठौड़ भी शाही सेना के साथ था। वह और उसके भाई भी यथा-सम्भव इन सारे युद्धों में भाग ले रहे थे। इधर रुहेला ख़ाँ, आदि रणमस्त ख़ाँ की सेना को साथ लेकर नासिक वापस लौटने की तैयारी कर रहे थे। इसी अरसे में मार्च १८ के लगभग हम्बीर राव २०,००० सवार और १०,००० प्यादों को लेकर शाही सेना पर आक्रमण करने के लिए कल्याण-भिवण्डी के पास तक

---

[१८] जय० अख़०, औरं०, २६ (२), पृ० ३६४-५।

आ पहुँचा । रूपा भोंसले और माना मोरे भी हम्बीर राव के साथ थे । शाही सेना के पिछले भाग पर मरहठों ने हमला किया, तब तो चन्दावल के सेनानायक पदमसिंह, आदि ने उनका सामना किया । घमासान युद्ध छिड़ गया । पदमसिंह और उसके साथी बड़ी वीरता के साथ लड़े । हम्बीर राव, रूपा भोंसला और माना मोरे तीनों घायल हुए । अन्त में मरहठों के पाँव उखड़ गए और वे भाग खड़े हुए । इस युद्ध में मरहठों के दो सरदार और कोई २०० सैनिक खेत रहे । शाही सेना की ओर से पदमसिंह बहादुरी के साथ लड़ता हुआ खेत रहा । अन्य कई सेनानायक भी मारे गए । रामसिंह राठौड़ का एक भाई जेतसिंह मारा गया और दूसरा भाई छत्रसाल घायल हुआ ।[९९]

---

[९९] जय० अख़०, औरं०, २६ (२), पृ० ४०५-७, ४२६, ३६६, ४१७, ४०६; दयालदास री ख्यात, २, पृ० २३३-२४१ ।

औरंग०, ४, पृ०, ३०३ के अनुसार यह युद्ध कल्याण से सात मील उत्तर-पूर्व में तितवाला नामक स्थान पर हुआ था ।

जेधे शकावली में रूपा भोंसला को ही इस सेना का नायक बताया है (शिव चरित्र-प्रदीप, पृ० ३२), किन्तु अख़बारों के अनुसार हम्बीर राव ही प्रधान सेनानायक था । इस युद्ध के समय कल्याण में उपस्थित एक दूत के कथनानुसार ही अख़बारों में उक्त उल्लेख किया गया है एवं वह अधिक विश्वसनीय है ।

भीम० (१, पृ० १७२-३) में भूल से पदमसिंह की मृत्यु सन् १६८२ ई० में होना लिखा है ।

इस युद्ध के बाद मार्च २२ के लगभग मरहठों के साथ एक और युद्ध हुआ था, जिसमें पीर ग़ुलाम नामक शाही सेनानायक के नेतृत्व में शाही सैनिकों ने कल्याण-भिवण्डी से कोई ७ कोस की दूरी पर मरहठे दल पर आक्रमण कर उसे मार भगाया था; जय० अख़०, औरं०, २६ (२), पृ० ४२६ । इस दूसरे युद्ध के अगले दिन मार्च २३ को ही रुहेला ख़ाँ, आदि ससैन्य कल्याण से रवाना हो पाए ।

दुर्भाग्य से इस दिन रामसिंह राठौड़ ज्वर से पीड़ित था, वह इस युद्ध में भाग न ले सका; उसे बरबस अपने डेरे पर ही ठहरना पड़ा। युद्ध में पदमसिंह के मारे जाने का विवरण जब रामसिंह ने अपने डेरे में सुना तो ज्वर से पीड़ित होते हुए भी जिरह-बख़्तर पहिन कर युद्ध में मरहठों का सामना करने के लिए जाने को वह तत्पर हुआ। किन्तु बीमारी की हालत में इतना सारा परिश्रम वह सहन नहीं कर सका। उसका ज्वर बढ़ गया और जिरह-बख़्तर पहिने हुए ही उसकी तत्काल मृत्यु हो गई।[१००] अपने घर से सैकड़ों मील दूर, दुश्मनों से सर्वत्र घिरे हुए प्रदेश में यों रामसिंह की मृत्यु हुई। वह युद्ध में भाग नहीं ले सका था, परन्तु युद्ध-यात्रा के लिए तत्पर, वीर वेश में ही रामसिंह का मरना कम गौरवपूर्ण नहीं था।

यद्यपि इस बात का कोई निश्चित विवरण नहीं मिलता है कि रामसिंह की दाह-क्रिया कहाँ हुई, अनुमान यही होता है कि पदमसिंह, आदि उच्च पदस्थ सेनानायकों के साथ ही रामसिंह की दाह-क्रिया भी कल्याण के पास उल्हास नदी के तीर पर कर दी गई होगी। रामसिंह की इस प्रकार कल्याण में मृत्यु हुई, यह समाचार अप्रेल २

---

[१००] जय० अख़०, औरं०, २६ (२), पृ० ४०६।

गुरूजी० में सिर्फ यही लिखा है कि रामसिंह की कोंकण में मृत्यु हुई थी। उसकी बंधी हुई पाग को लेकर जिस दिन रतलाम में उसकी रानियाँ, आदि सती हुईं, उस तिथि को गुरूजी की पोथी में रामसिंह की मृत्यु-तिथि लिखी है। रतन०, पृ० ५५।

रामसिंह के युद्ध में मारे जाने के जो उल्लेख रतलाम० (पृ० ७) तथा सीतामऊ० (पृ० ३) में दिए गए हैं, वे दन्त-कथाओं के आधार पर ही थे, एवं अख़बारों के समान समकालीन विवरणों की तुलना में सर्वथा अग्राह्य हैं। प्राचीन० (३, पृ० ३६५) का वृत्तान्त रतलाम० के ही आधार पर लिखा गया था।

के दिन औरंगज़ेब के पास औरंगाबाद पहुँचा, जहाँ से इसी वृत्तान्त को रतलाम पहुँचने में पूरे पन्द्रह दिन और लगे।

रामसिंह के कई रानियाँ थीं,[१०१] जिनमें विशेष रूपेण उल्लेखनीय ये हैं। पहली रानी चन्द्रावती श्याम कुँअर थी, जिसका पिता रामपुरा का सुजानसिंह बिट्ठलदासोत था। रामसिंह के ज्येष्ठ पुत्र शिवसिंह को इसी रानी ने जन्म दिया था।[१०२] दूसरी रानी शेखावत महासिंह उग्रसिंहोत की पुत्री मान कुँअर थी।[१०३] तीसरी रानी राजसिंह पृथ्वीराजोत झाला की पुत्री अमृत कुँअर थी।[१०४]

---

[१०१] रामसिंह के कुल कितनी रानियाँ थीं, वे किन घरानों की और कहाँ-कहाँ की थीं यह निश्चित रूपेण कहना कठिन है। गुरूजी० में सिर्फ छः रानियों का उल्लेख है। राणी० में आठ रानियों के नाम मिलते हैं। बड़वों की पोथियों में रानियों की संख्या आठ से दस तक दी है। विभिन्न ख्यातों में दिए गए रानियों और उनके पीहरों के नामों में बहुत ही कम मतैक्य पाया जाता है। जिन रानियों के नाम प्रायः सब ख्यातों या पोथियोंमें मिलते हैं या जिनका विशेष रूपेण उल्लेख आवश्यक प्रतीत हुआ, उनका ही विवरण यहाँ दिया गया है।

[१०२] इस रानी के दूसरे नाम लाड़ कुंअर, राज कुंअर एवं सुख कुंअर भी मिलते हैं। राणी० के अतिरिक्त गुरूजी० तथा अन्य सारी ख्यातों में शिवसिंह को इसी रानी का पुत्र लिखा है।

[१०३] इस रानी के दूसरे नाम हर कुंअर, शिव कुंअर आदि मिलते हैं। राणी० के अनुसार शिवसिंह इसी रानी का पुत्र था, किन्तु राणी० का यह कथन सर्वथा अविश्वसनीय प्रतीत होता है। अन्य कोई भी ख्यात उसके इस उल्लेख का समर्थन नहीं करती है।

यह उग्रसेन नरसिंहदास लूणकर्णोत का पुत्र था। नैणसी०, २, पृ० ३३-३४।

[१०४] इस रानी के दूसरे नाम रतन कुंअर और मृग दे कुंअर भी मिलते हैं। गुरूजी० के अनुसार यह राजसिंह गंगधार का था; राणी० में उसे गोगुन्दा का होना लिखा है। किन्तु इस नाम का व्यक्ति दोनों ही घरानों के प्रधान पुरुषों

चौथी रानी जैसलमेर की भटचाणी मनसुख दे कुँअर थी, जिसके पिता का नाम गोपालदास था। रामसिंह का दूसरा पुत्र, केशवदास इसी भटचाणी रानी की सन्तान था।[१०५] पाँचवीं रानी बूँदी के महाराज कुमार गोपीनाथ के चौथे पुत्र राजसिंह की कन्या हाड़ी स्वरूप दे कुँअर थी।[१०६] छटवीं रानी नरूका फतेहसिंह की पुत्री चाँद कुँवर थी।[१०७] सातवीं रानी भटचाणी राम कुँअर अथवा रम्भा दे कुँवर

में नहीं मिलता है (नैणसी०, २, पृ० ४७३-४; उदय०, २, पृ० ६०२-६०३)।

[१०५]यह गोपालदास जैसलमेर के रावल सबलसिंह का चचेरा भाई था (नैणसी०, २, पृ० ३३७)।

राणी० में इस रानी के पिता का नाम सबलसिंह लिखा है। यह सबलसिंह जैसलमेर का शासक, रावल सबलसिंह था, या उसी रावल के चचेरे भाई गोकुलदास का पुत्र सबलसिंह था, यह खुलासा राणी० में नहीं किया गया है (नैणसी०, २, पृ० ३३७, ४११, ३३६)।

[१०६]गुरूजी०; राणी०; वंश०, ३, पृ० २४५२-३।

इस रानी के अन्य नाम रस कुँअर, शिवसुख दे कुँअर और हंस कुँअर मिलते हैं।

बड़वों की कुछ ख्यातों के अनुसार यह रानी बूँदी के किसी समरसिंह या सुमेरसिंह की कन्या थी।

गुरूजी० तथा कुछ ख्यातों के अनुसार रामसिंह की एक-मात्र कन्या, अमर कुँअर, इसी हाड़ी रानी की पुत्री थी।

[१०७]इस रानी के अन्य नाम भूर कुँअर, सज्जन कुँअर और बदन कुँअर मिलते हैं।

यह नरूका फ़तेहसिंह किसका लड़का था, इसका कहीं भी खुलासा नहीं किया गया है। एक ख्यात में इस रानी को हरीसिंह की पोती लिखा है।

गुरूजी० में इस रानी का नाम नहीं है, किन्तु राणी० तथा प्रायः दूसरी सब ख्यातों में उसका नाम मिलता है।

थी ।[१०८] इन रानियों में से केवल दो रानियाँ ही रामसिंह की मृत्यु होने पर सती हुई थीं । उन दो के अतिरिक्त अन्य कितनी तथा कौनसी रानियाँ उस समय जीवित थीं, यह निश्चित रूपेण ज्ञात नहीं है ।

कल्याण-भिवण्डी में मार्च १८ के दिन रामसिंह की मृत्यु होने का विवरण बुधवार, वैशाख सुदी २, संवत् १७४० वि० (अप्रेल १८, १६८३ ई०) को रतलाम पहुँचा । साथ ही रामसिंह की बंधी हुई पाग भी रतलाम आई । तत्काल ही शिवबाग़ में चिता रची गई और रामसिंह की उस पाग को लेकर रामसिंह की दो रानियाँ शेखावत मान कुँअर तथा भटचारी मनसुख दे कुँअर, एवं रामसिह की कोई १९ उपपत्नियाँ, खवासिनें, आदि रतलाम में उस दिन सती हुई ।[१०९]

---

[१०८] राणी० में इस रानी को बिशनसिंह भाटी की पुत्री लिखा है । सम्भवतः यह बिशनसिंह रामचन्द्र सुरताणोत जैसा भाटी का पुत्र था (नैणसी०, २, पृ० ३६०) ।

गुरूजी० में तो इस रानी का नाम ही नहीं है । बड़वों की ख्यातों के अनुसार यह रानी पदमसिंह की पुत्री थी ।

राणी० के अनुसार रामसिंह की एक-मात्र कन्या, अमर कुंअर, जिसका विवाह उदयपुर हुआ था, इसी रानी की पुत्री थी । राणी० में अमर कुंअर का नाम हर कुंअर दिया है ।

[१०९] गुरूजी०, राणी०, आदि में श्रावणादि संवत् १७३९ वि० दिया है, जिससे अब तक एक साल की भूल होती रही है ।

गुरूजी० तथा अन्य ख्यातों में लिखा है कि जहां यह सती हुई थी उसी स्थल के आस-पास बाद में रामसिंह के उत्तराधिकारी शिवसिंह ने अपने नाम से एक बाग़ लगवाया था । किन्तु इस सती से पूरे छः साल पहिले लिखे हुए रसाल कवि कृत 'राम-चरित्र' काव्य में शिवबाग़ का वर्णन मिलता है, जिससे अनुमान यही होता है कि यह बाग़ रामसिंह ने ही सन् १६७७ ई० से पहिले लगवाया और

सती के इस स्थल पर रामसिंह के ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी शिवसिंह ने लाल पत्थर का एक बड़ा चौतरा बनवाया। वह चाहता था कि उस पर वह एक सुन्दर छत्री भी बनवाए, किन्तु उसकी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। शिवसिंह का बनवाया हुआ वह चौतरा आज भी रतलाम के शिवबाग़ में विद्यमान है।

रामसिंह के घटनापूर्ण जीवन का इस प्रकार नाटकीय विफलतामय अन्त हुआ। जीवन भर मृत्यु के साथ निस्संकोच आँख-मिचौनी खेलने वाले इस अनुभवी सेनापति ने भी अन्तिम समय भाग्य से धोखा खाया। शत्रुओं से चारों ओर घिरे हुए, प्रति दिन उनका सामना करते हुए, आठों पहर युद्ध-क्षेत्र में रह कर भी खेत रहने का सौभाग्य उसे नहीं प्राप्त हो सका। युद्ध-क्षेत्र में काम आने वाले नगण्य व्यक्तियों की वार्ता को सुनकर उनके प्रति उसने कितनी असीम ईर्ष्या का अनुभव किया होगा? युद्ध से लौटे हुए आहत सैनिकों तक को उसने किस हसरत भरी नज़र से ताका होगा? वीर वेश में पूरी तरह से सुसज्जित होकर भी सुदूर युद्ध-क्षेत्र को देखते हुए अपने डेरे में ही चुपचाप मरने वाले उस सुप्रसिद्ध सेनानी ने कितने खेद के साथ अपनी इस मृत्यु को कोसा होगा? कितनी अवर्णनीय विवशता का उसने अनुभव किया होगा? गहरी कसक एवं तीव्र वेदना से पीड़ित वह वीर अपने अन्तिम क्षण तक वीर-मृत्यु के लिए तरसता ही रहा।

निरन्तर साधना के बाद भी भाग्य ने जीवितावस्था में ही उससे

अपने ज्येष्ठ पुत्र के नाम पर इस नाम का नामकरण 'शिवबाग़' किया था। राम०, पृ० ८-९, ४४।

रामसिंह ने रतलाम में एक और बाग़ लगवाया था, जिसका नाम 'रामबाग़' रखा गया था। यह बाग़ आज तक विद्यमान है।

छल किया था, परन्तु इसके विपरीत यदा-कदा ही उसका स्नेह एवं आश्रय प्राप्त करने वाली देवी सरस्वती ने मृत्यु के बाद भी उसकी ओर से मुख नहीं मोड़ा। चिर-कुमारिका कीर्ति ने इस वीर की स्मृति को वर कर सन्तोष का अनुभव किया। रामसिंह की वीरता और साहस के गीत सर्वत्र गाये जाने लगे; उसकी प्रशंसा एवं महत्त्व का वर्णन करने के लिए कवियों में होड़ पड़ गई। और काव्य-कल्पना की इस झीनी चादर ने रामसिंह के दुर्भाग्य की उस कठोर कहानी पर ऐसा घना कुहरा छा दिया कि ख्यात-कार भी मन्त्रमुग्ध होकर अन-जाने ही अपनी पोथियों में लिख बैठा—"कोंकण की एक लड़ाई में रामसिंह काम आया"।

परिशिष्ठ—५

रतनसिंह के अन्य इग्यारह पुत्रों का संक्षिप्त विवरण

रतनसिंह के बारह पुत्र और कई पुत्रियाँ थीं। पुत्रों में रामसिंह ज्येष्ठ था। वह रतलाम का अधिकारी हुआ। उसका पूरा-पूरा विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। रामसिंह का विवरण लिखते समय उसके छोटे भाइयों का यत्किंचित् उल्लेख आवश्यकतानुसार स्थान-स्थान पर किया गया है। प्रत्येक भाई के जीवन का क्रम-बद्ध संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

(१) रायसिंह

वह रतनसिंह का दूसरा पुत्र था। सन् १६४० ई० (सं० १६९७ वि०) में कछवाही रानी राजावती गुणरूप दे कुँअर मोहकमसिंह प्रेमसिंहोत की ने उसे जन्म दिया था। अपनी माता की वह एक-मात्र संतान था। बाल्यकाल से ही वह निर्भय और साहसी था। केवल सत्रह वर्ष की वय में ही वह हठ कर रतनसिंह के साथ उज्जैन गया और धरमत के युद्ध में भी सम्मिलित हुआ। जिस वीरता के साथ रायसिंह इस युद्ध में लड़ा और धुद्ध करता हुआ घायल होकर युद्ध-भूमि में गिरा उसका पूरा-पूरा विवरण 'रतन रासो' और 'वचनिका०' में सविस्तार दिया है।

सन् १६५९ ई० के लगभग रायसिंह भी शाही मनसबदार बन

गया और वहुत करके इसी मनसब की जागीर में उसे आगर-कानड़ का परगना मिला होगा । गुरूजी० के आधार पर रतन० में (पृ० ५३, ७४) लिखा है कि उक्त परगना रायसिंह को सन् १६५२ ई० में मिला था; किन्तु यह कथन पूर्णतया अविश्वसनीय है । गुरूजी० के अनुसार सन् १६६० ई० तक ही यह परगना रायसिंह के अधिकार में रहा । वहाँ यह भी लिखा है कि सन् १६५८ ई० के बाद रायसिंह को बदनावर का परगना मिल गया था । सम्भव है कि सन् १६५९ ई० के वाद रायसिंह को यह परगना मिला हो, किन्तु इस बारे में कोई भी बात निश्चित रूपेण नहीं कही जा सकती है ।

अप्रेल ७, १६६७ ई० को रायसिंह का मनसब तीन सौ ज़ात–एक सौ सवार का था । सम्भवतः इस समय तक वह उत्तरी भारत में था, एवं अब उसकी नियुक्ति दक्षिण में शाही सेना के साथ की गई । शाहज़ादा मुअज़्ज़म (शाह आलम) दक्षिण का सूबेदार था और उसकी सहायैता के लिए जसवन्तसिंह भी दक्षिण में ही नियुक्त किया गया था । जय० अख़०, औरं०, १० (१), पृ० १५; आ० ना०, पृ० १०३७; औरंग०, ४, पृ० १४७ । रायसिंह इस समय कव तक दक्षिण में रहा, और वहाँ उसने क्या किया इसका कोई भी ब्यौरा नहीं मिलता है । सम्भवतः वह पिछले बरसों में अपने ज्येष्ठ भाई रामसिंह के साथ ही वह भी नियुक्त रहा होगा । सन् १६७९ ई० के पिछले महीनों में रामसिंह के साथ वह भी दक्षिण में शाह-ज़ादे मुअज़्ज़म (शाह आलम) की सेना में नियुक्त था । अप्रेल ८, १६८० ई० को रामसिंह के साथ रायसिंह को भी औरंगज़ेब ने शाही दरबार में अजमेर वुलवा भेजा था, और वहुत करके अक्तूबर १० को अपने अन्य छोटे भाइयों के साथ रायसिंह भी शाही दरबार में उपस्थित हुआ था । जय० अख़०, औरं०, २३ (१), पृ० २३२;

२३ (३), पृ० १६२; २३ (४), पृ० १३०; २४ (१), पृ० ४८।

गुरूजी० में लिखा है कि सन् १६८१-२ ई० (१७३८ वि०) में रायसिंह अपने चौथे पुत्र महासिंह के साथ ही दक्षिण में युद्ध करता हुआ सोप (सूपा ?) नामक स्थान में मारा गया। संभव है कि जुलाई ३१, १६८१ ई० को जब शाहज़ादा आज़म एक बड़ी शाही सेना लेकर दक्षिण भारत के लिए अजमेर से भेजा गया तब उसके साथ ही रायसिंह और उसके सैनिकों की भी नियुक्ति कर दी गई हो। नवम्बर ११, १६८१ ई० को यह सेना औरंगाबाद पहुँची; और अगले दो-तीन महीनों में शाही सेना के दलों ने मरहठों के साथ अनेक छोटे-मोटे युद्ध किए। उन्हीं में से किसी भी एक युद्ध में रायसिंह मारा गया होगा। गुरूजी०; औरंग०, ४, पृ० २९१-२९३; अख़०, औरं०, २५, पृ० २६२, २७०।

रायसिंह के पाँच पुत्र थे, जिनमें से पहिला सामतसिंह बाल्यकाल ही में मर गया था, एवं उसका दूसरा पुत्र सुलतानसिंह रायसिंह का उत्तराधिकारी बना, और उसका ही वंश आगे चला। रायसिंह के तीसरे पुत्र को सकतसिंह ने दत्तक ले लिया था। चौथा पुत्र महासिंह अपने पिता के साथ ही युद्ध में मारा गया। उसके एवं पाँचवें पुत्र मोहनसिंह के कोई सन्तान न थी।

सुलतानसिंह और उसका पुत्र पदमसिंह विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं। गुरूजी० में लिखा है कि वदनावर का परगना सन् १७०६ ई० (सं० १७६३ वि०) में पदमसिंह के अधिकार से निकल गया, किन्तु यह ठीक नहीं। संभव है कि वदनावर परगने का कोई थोड़ा-सा भाग उस समय तक रायसिंह के उत्तराधिकारियों के अधिकार में रह गया हो। वदनावर का परगना अक्तूबर, १६८१ ई० से बहुत पहिले ही रायसिंह के अधिकार से निकल चुका होगा, क्योंकि

सन् १६८१ ई० में रामसिंह को मिलने से पहिले यही परगना दिलेर ख़ाँ के अधिकार में था। गुरूजी०; अख़० औरं०, २५, पृ० २२९।

धार राज्य के अन्तर्गत काछी बड़ोदा ठिकाना आज भी सुलतानसिंह के वंशजों के अधिकार में है।

(२) नाहरसिंह

नाहरसिंह रतनसिंह का तीसरा पुत्र था। देवल्या की सीसोदणी रानी मनरूप दे कुँअर का वह इकलौता बेटा था। ख्यातों और पोथियों में उसके जीवन का कोई विवरण नहीं मिलता है। 'रतन रासो' में नाहरसिंह के नाम का उल्लेख है, परन्तु उसका कोई हाल उसमें नहीं दिया है (रासो०, पृ० ७९, १०२, १०८)।

नाहरसिंह भी शाही मनसबदार था, और अपने ज्येष्ठ भाई के साथ ही सन् १६७९ ई० में वह भी दक्षिण में शाहज़ादे मुअज़्ज़म (शाह आलम) की सेना में नियुक्त था। अप्रेल ८, १६८० ई० को रामसिंह के साथ ही उसे भी शाही दरबार में अजमेर बुलवाया गया था। जय० अख़०, औरं०, २३ (१), पृ० २३२; २३ (३), पृ० १६२; २३ (४), पृ० १३०।

नाहरसिंह निस्संतान ही मरा।

(३) करण

करण, जिसे गुरूजी० तथा अन्य ख्यातों में करणसिंह भी कहा है, रतनसिंह का चौथा पुत्र था। रानी कछवाही शेखावति सुखरूप दे कुँअर पुरुषोत्तमसिंह टोडरमलोत की ने करण को जन्म दिया। उक्त

रानी के पाँच पुत्रों में करण सबसे बड़ा था। 'रतन रासो' में करण का नाम मिलता है, परन्तु उसका कोई विशेष उल्लेख वहाँ नहीं किया गया है (रासो०, पृ० ७९, १०२, १०८)। ख्यातों में भी करण का कोई विवरण नहीं निलता है।

अपने पिता की मृत्यु के बाद अन्य भाइयों की तरह करण भी शाही मनसबदार हो गया, और बहुत करके इसी मनसब की जागीर में उसे सीतामऊ, लदूना एवं आस-पास के गाँव मिले थे। इस प्रदेश में पुण्यार्थ दी हुई जमीन की करण की दी हुई कुछ सनदें प्राप्य हैं।

करण ने शाही सेना में रह कर ऐसी वीरता और साहस का परिचय दिया कि सन् १६६४ ई० तक उसकी गणना साम्राज्य के वीर सेनानायकों में होने लगी थी। एवं सितम्बर ३०, १६६४ ई० को जब आम्बेर के मिर्ज़ा राजा जयसिंह को दक्षिण जाने के लिए हुक्म मिला तब अपने ज्येष्ठ भाई रामसिंह के साथ ही करण राठौड़ भी इसी सेना के साथ नियुक्त किया गया। पूना पहुँच कर जयसिंह ने मरहठों के विभिन्न किलों का घेरा डाल कर आक्रमण करने का आयोजन किया, और मार्च २९, १६६५ ई० को दिलेर ख़ाँ के सेनानायकत्व में एक सेना पुरन्धर क़िले का घेरा डालने को भेजी गई जिसमें रामसिंह राठौड़ और करण राठौड़ भी थे। औरंग०, ४, पृ० ७५, ८०-८१, ८३-८४; आ० ना०, पृ० ८९१।

जून, १६६५ ई० में शिवाजी ने जयसिंह के साथ संधि कर ली। तब जयसिंह ने बीजापुर की ओर ध्यान दिया और नवम्बर १९, १६६५ ई० को पुरन्दर से वह ससैन्य बीजापुर की ओर वढ़ा। करण भी जयसिंह के साथ था। बीजापुर से लौटते समय जनवरी २२, १६६६ ई० को लोहरी नामक स्थान पर बीजापुरी सेना के साथ शाही सेना का युद्ध हुआ जिसमें करण ने बड़ी वीरता दिखाई। इसके बाद

कोई चार माह तक जयसिंह बीजापुर राज्य की उत्तरी सीमा पर ही घूमता रहा और इन महीनों में करण उसके साथ बराबर बना रहा। बीजापुरी सेना के साथ शाही सेना की मुठभेड़ यदा-कदा हो ही जाती थी; मई ४, १६६६ ई० के युद्ध में करण बड़ी वीरता के साथ लड़ता हुआ ज़ख्मी हुआ। औरंग०, ४, पृ० ९४-९५, १२९, १३९, १४१-१४२; आ० ना०, पृ० ९८८, १००५, १०१८।

मार्च, १६६७ ई० में शाहज़ादा मुअज़्ज़म (शाह आलम) और जसवन्तसिंह दक्षिण के सूबेदार नियुक्त हुए, एवं जयसिंह उत्तरी भारत लौटने के लिए चल पड़ा। शाही सेना तब भी दक्षिण ही में रही, एवं करण राठौड़ को भी अपने सैनिकों के साथ औरंगाबाद में ठहरना पड़ा। इस समय भी सीतामऊ और आस-पास के गाँव उसकी ही जागीर में थे, अतएव सीतामऊ के पास स्थित डाबड़ी गाँव उसने गुरुजी को पुण्यार्थ दिया (गुरुजी० की चैत सुदी १०, सं० १७२४ वि० एवं आसोज सुदी ९, १७२४ वि० की सनदें)। इस समय करण अधिक समय तक दक्षिण में न रहा; मार्च १५, १६६९ ई० को वह शाही दरबार में दिल्ली था (गंगा-गुरु के सम्बन्ध में चैत्र वि० ८, १७२५ वि० को लिखा हुआ करण का पत्र)।

अगले छः साल तक करण ने क्या किया, इसका कोई वृतान्त प्राप्य नहीं है। सन् १६७६ ई० के मार्च महीने में जब दक्षिण के सूबेदार बहादुर ख़ाँ ने बीजापुर राज्य के गृह-युद्ध में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया तब करण राठौड़ दक्षिण में राव राजसिंह राठौड़ के साथ नियुक्त था। मई मास के अन्तिम दिनों में बहादुर ख़ाँ ससैन्य शोलापुर से बीजापुर की ओर बढ़ा; राव राजसिंह राठौड़ के साथ ही करण राठौड़ भी बहादुर ख़ाँ की सेना में जा मिला। बीजापुर से कोई ३० मील उत्तर-पूर्व में अलियाबाद और

इन्दी के बीच के मैदान में बीजापुर का शासक बहलोल ख़ाँ बहादुर ख़ाँ के सामने आ डटा । मुग़ल सेना के बाएँ पहलू की तरफ अन्य राजपूत सेनानायकों के साथ ही करण राठौड़ भी नियुक्त था । राव राजसिंह राठौड़ बीमारी के कारण एक दिन पहिले ही मर चुका था, एवं उसके सैनिकों के संचालन का भार भी करण को ही उठाना पड़ा । अन्त में जब लड़ाई छिड़ गई तब, भीमसेन के शब्दों में, करण 'मैदान में अपने जौहर दिखाता हुआ ज़ख़्मी हुआ, और अपने कारनामे दुनिया में छोड़ गया' । यों करण भी लड़ाई में वीरतापूर्वक युद्ध करता हुआ घायल होकर सुदूर दक्षिण में ही मर गया । औरंग०, ४, पृ० १६४-१६५; भीम०, १, प० १४१-१४३ ।

इस युद्ध की तारीख़ के बारे में मतभेद है । भीमसेन ने कोई तारीख़ नहीं दी है । अन्य फ़ारसी इतिहास-ग्रन्थों के आधार पर सर यदुनाथ सरकार ने इस युद्ध की तारीख़ जून १३ , १६७६ ई० निश्चित की है । परन्तु जेधे की शकावली में यह युद्ध ज्येष्ठ (उत्तर भारतीय पंचाग के अनुसार आषाढ़) वि० अमावस्या (जून १, १६७६ ई०) के दिन होना लिखा है । करण की जो छत्री सीतामऊ में विद्यमान है उसके शिलालेख में भी करण की मृत्यु आषाढ़ वि० अमावस्या, सं० १७३३ वि० ही दी है । 'इण्डियन एफ़िमेरीज़' और 'खरे जंत्री' के अनुसार इस अमावस्या के दिन जून १, १६७६ ई० थी । एवं इस युद्ध की ठीक तारीख़ निश्चित करने के लिए अधिक खोज की आवश्यकता है । मा० आ०, पृ० १५१; करण की छत्री का लेख; शिवचरित्र-प्रदीप, पृ० २८; औरंग०, ४, पृ० १६५ ।

करण की दाहक्रिया तो दक्षिण में ही कर दी गई, परन्तु उसकी मृत्यु के समाचार के साथ ही साथ दूत उसकी पाग लेकर सीतामऊ पहुँचे । करण की स्त्रियाँ उस पाग के साथ सती हुईं । उस स्थान पर

बाद में एक सुन्दर छत्री बनवाई गई, जो आज भी सीतामऊ के 'छार बाग' में विद्यमान है।

करण के केवल एक ही पुत्री थी जिसका विवाह देवलिया के रावत प्रतापसिंह के साथ हुआ (गुरूजी०; प्रतापगढ़ राजघराने के बड़वों की पोथियाँ)। करण के कोई पुत्र न था।

करण बहुत ही वीर, साहसी और प्रतापी था। यदि उसकी मृत्यु इतनी कम उम्र में न हो जाती तो अपने छोटे सहोदर भाई छत्रसाल की तरह वह भी यश प्राप्त कर ऊँचा मनसब प्राप्त करता। अपने निजी पत्रों में वह स्वयं को 'महाराज' लिखता था। सन् १०७६ हि० (सन् १६६५-६ ई०) में उसने अपनी निजी फ़ारसी मोहर बनवाई थी, जिस पर उसने अपने पूज्य पिता का नाम 'रतन राठौड़' खुदवाया था। उसके पत्रों और सनदों पर इसी मोहर की छाप लगी मिलती है।

(४) छत्रसाल

छत्रसाल रतनसिंह का पाँचवाँ पुत्र और करण का सहोदर छोटा भाई था। 'रतन रासो' में उसके नाम का उल्लेख अवश्य किया गया है, परन्तु उस ग्रन्थ में छत्रसाल के जीवन का कुछ भी विवरण नहीं दिया है (रासो०, पृ० ७९, १०२, १०८)। छत्रसाल का ठीक-ठीक जन्म-संवत् ज्ञात नहीं है, परन्तु अनुमान यही होता है कि धरमत के युद्ध के समय उसकी वय तेरह-चौदह वर्ष से अधिक की न होगी।

अपने पिता की मृत्यु के बाद कुछ वर्षों तक छत्रसाल घर पर ही बना रहा। वह अपने सहोदर भाई करण के साथ ही रहता था और करण की अनुपस्थिति में घर का काम संभालता था। इन

दिनों छत्रसाल का निवास-स्थान सीतामऊ शहर से दो मील दक्षिण में स्थित लदूना कस्बा था। तब करण और छत्रसाल का सारा कारोबार सम्मिलित ही चलता था एवं करण की प्रारम्भिक सनदों में करण के साथ छत्रसाल का नाम भी लिखा मिलता है।

जून, १६६७ ई० में छत्रसाल शाही दरबार में दिल्ली जा पहुँचा और जून ५ को उसने दरबार में हाज़िर होकर औरंगज़ेब को एक मोहर और नौ रुपए भेंट किए (जय० अख़०, औरं०, १० (१), पृ० २३५)। बहुत करके इसी के बाद वह शाही मनसबदार बन कर शाही सेना में सम्मिलित होगया। गुरूजी० के आधार पर रतन०, पृ० ५४ पर लिखा है कि छत्रसाल को पहिले लदूना, आदि कुल बारह गाँव मिले थे। संभवत: इनमें से कुछ गाँव पहिले करण के अधिकार में भी रहे हों, और बाद में वे करण की जागीर में से निकाल कर छत्रसाल की जागीर में कर दिए गए हों। किन्तु शाही मनसबदार बनने से पहिले ये कोई भी गाँव निजी जमींदारी के रूप में छत्रसाल के अधिकार में रहे हों यह सम्भव नहीं जान पड़ता है। जिन दिनों लदूना छत्रसाल के अधिकार में था तब वह एक छोटा सा गाँव ही था। गाँव के बीच में अपने राजघराने के निवास के लिए छत्रसाल ने मकान बनवाए थे, जिनका बाहरी दरवाज़ा आज भी लदूना क़सबे के बीच में विद्यमान है।

मनसबदार बनने के बाद इन प्रारम्भिक ८-१० वर्षों में छत्रसाल कहाँ रहा और उसने क्या किया,, इसका कोई भी हाल नहीं मिलता है। सन् १६७९ ई० में वह अपने ज्येष्ठ भाई रामसिंह के साथ दक्षिण में शाहज़ादे मुअज़्ज़म की सेना के साथ नियुक्त था। अप्रेल ८, १६८० ई० को रामसिंह के साथ ही छत्रसाल को भी औरंगज़ेब ने शाही दरबार में अजमेर बुलवा भेजा और बहुत करके अन्य भाइयों

के साथ वह भी अक्तूबर ८, १६८० ई० को औरंगज़ेब के दरबार में उपस्थित हुआ। जय० अख़०, औरं०, २३ (१), पृ० २३२; २३ (३), पृ० १६२; २३ (४), पृ० १३०; २४ (१), पृ० ४८।

सन् १६८१ ई० में एक बड़ी शाही सेना लेकर दक्षिण-विजय के लिए जब औरगज़ेब अजमेर से चला तब छत्रसाल भी उसके साथ था। दिसम्बर १८, १६८२ ई० को रामसिंह के साथ ही छत्रसाल को भी मुग़ल ख़ाँ की सेना में नियुक्त किया गया था, किन्तु जनवरी १८, १६८३ ई० को ये सब भाई रुहेला ख़ाँ की सेना में नियुक्त किए गए। रुहेला ख़ाँ सेना लेकर जब रणमस्त ख़ाँ की सहायतार्थ कल्याण-भिवण्डी के लिए रवाना हुआ तब छत्रसाल भी उसके साथ गया। मार्च १८, १६८३ ई० के लगभग रुहेला ख़ाँ की सेना की मरहठों के साथ मुठभेड़ हो गई। इस युद्ध में छत्रसाल ने भी भाग लिया और लड़ाई में वह घायल हुआ। मार्च, १६८३ ई० में छत्रसाल का मनसब पाँच सदी-दो सौ सवारों का था। जय० अख़, औरं०, २६ (१), पृ० ३६७; २६ (२), पृ० १३६, १५६, ३९४, ३९९; औरं०, ४, पृ० ३००-३०१, ३०३; दयालदास०, २, पृ० २३३-२४१।

इस युद्ध के बाद अगले डेढ़ वर्ष तक छत्रसाल ने क्या किया उसका विवरण प्राप्त नहीं है।[1] सन् १६८५ ई० में जब बीजापुर का घेरा

---

[1] रतलाम०, पृ० ८ पर लिखा है कि "सन् १६८४ ई० में छत्रसाल ने एक सनद द्वारा रतलाम परगने में कुछ जागीर एक गोसाई को दी थी। इस सनद में छत्रसाल ने स्वयं को 'महाराजाधिराज' और 'श्री हुज़ूर' लिखा है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि इस समय या तो तत्कालीन राजाओं के सारे ख़िताब छत्रसाल को प्राप्त हो गए थे या कम से कम वह अपने लिए उन सबका प्रयोग करने लगा था।"

यहाँ दिए गए विवरण से स्पष्ट है कि सनद द्वारा रतलाम परगने में कोई भी जागीर देना सन् १६८४ ई० में छत्रसाल के लिए सम्भव न था; उस समय

डालने वाली शाही सेना को दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा, और जब औरंगज़ेब के आदेश को ठुकरा कर शाहज़ादे आज़म ने बीजापुर का घेरा न उठाने का निश्चय किया, तब आज़म की सहायता के लिए औरंगजेब ने ग़ाज़ीउद्दीन ख़ाँ बहादुर को बहुत सा धान्य और रुपया लेकर भेजा। ग़ाज़ीउद्दीन की सेना में उसके साथ जाने वालों में छत्रसाल भी था और इसी अवसर पर अगस्त १६, १६८५ ई० को उसे हाथ की एक पहुँची इनाम में मिली थी। औरंग०, ४, पृ० ३७९-८१; जय० अख़०, औरं०, २९, पृ० ९४।

अगले छः वर्षों की छत्रसाल की कार्यवाही अज्ञात है। सन् १६९१ ई० में वह पन्हाला क़िले का क़िलेदार और फ़ौजदार था। यह क़िला दिसम्बर, १६८९ ई० के लगभग मुग़लों के अधिकार में आया था, और संभवतः उसी समय छत्रसाल की नियुक्ति इस पद पर हुई होगी। सन् १६९० ई० से ही महाराष्ट्र में मरहठों की शक्ति

छत्रसाल का भतीजा, शिवसिंह, रतलाम का शासक था। एवं उक्त सनद स्पष्टतया अविश्वसनीय है।

रतलाम के प्रथम राज्य के इन अन्तिम बीस वर्षों के इतिहास सम्बन्धी बहुत कुछ अज्ञान अन्धकार अब तक फैला हुआ है। आवश्यक खोज और अध्ययन तथा प्रामाणिक इतिहास के अभाव में इस काल सम्बन्धी अनेकानेक अनहोनी भ्रान्तियाँ फैलीं, बहुत अधिक वाद-विवाद हुआ एवं ऐतिहासिक घटनाओं का मन-चाहा क्रम निर्धारित किया गया।

ऐसी अनेकों सनदें देखने में आती हैं जो इन २५-३० वर्षों में लिखी गई बताई जाती हैं, परन्तु अनैतिहासिक घटना-क्रम या अनहोनी भ्रान्तियों के आधार पर तैयार की जाने के कारण, उनमें अनेकानेक ऐसी भूलें हो गई हैं कि उन सनदों का अविश्वसनीयपन स्पष्ट हो जाता है। इस समय की सनदों या पत्रों को विश्वसनीय मानने से पहिले उनकी पूरी-पूरी जाँच होना अत्यावश्यक है।

बढ़ने लगी थी और सन् १६९१ ई० में तो उनका उपद्रव भी अधिकाधिक बढ़ता जा रहा था। अगस्त माह के पिछले हफ़्तों में मरहठों का एक दल पन्हाला तक जा पहुँचा और वहाँ के करोड़ी को उन्होंने मार डाला। छत्रसाल राठौड़ पन्हाला में विद्यमान था, किन्तु वह उनका कुछ भी न कर सका। सितम्बर १२ को यह विवरण औरंगज़ेब ने सुना और वह चुप रहा। दो सप्ताह बाद सितम्बर २७, १६९१ ई० को औरंगज़ेब ने आज्ञा दी कि छत्रसाल की जागीर की आमदनी का ब्यौरा उसे पेश किया जावे। जय० अख़०, औरं०, ३५, पृ० २४, २९-३०; औरंग, ५, पृ० २९, ३२।

औरंगज़ेब ने छत्रसाल को पन्हाला में ही उसी पद पर रहनें दिया। मरहठों का उपद्रव अधिकाधिक बढ़ता जा रहा था, किन्तु छत्रसाल ने उसकी ओर ध्यान न दिया और न क़िले की सुरक्षा के लिए किसी भी प्रकार का विशेष प्रबन्ध ही किया। अन्त में परशुराम के सेनापतित्व में मरहठों के एक दल ने अगस्त, १६९२ ई० के प्रारम्भ में पन्हाला क़िले को आ घेरा। तब छत्रसाल से कुछ करते-धरते न बना। मरहठों ने क़िले पर अधिकार कर लिया। तत्कालीन दूत के शब्दों में तब छत्रसाल और उसके साथियों ने जौहर किया; वे वीरतापूर्वक लड़ते हुए क़िले से निकले; छत्रसाल के प्रायः सारे साथी और सैनिक युद्ध में कट मरे; छत्रसाल भी बुरी तरह घायल होकर युद्ध-क्षेत्र में गिर पड़ा। पहिले तो सब दूर ख़बर फैल गई कि छत्रसाल भी इस युद्ध में मारा गया, किन्तु बाद में ज्ञात हुआ कि वह घायल हो गया था, मरा नहीं। गुरूजी० के अनुसार इस युद्ध में छत्रसाल को तीस घाव लगे थे। जय० अख़०, औरं०, ३६, पृ० १२९; मा० आ०, पृ० ४३५; औरंग०, ५, पृ० ३२-३।

मुग़लों के अधिकार में से पन्हाला के निकल जाने का विवरण

औरंगज़ेब ने अगस्त २९, १६९२ ई० को सुना। पन्हाला इस की पराजय का सारा दोष छत्रसाल के सिर पड़ा। इस समय उसका मनसब डेढ़ हज़ारी ज़ात–बारह सौ सवारों का था (जय० अख़०, औरं०, ३६, पृ० १२९)। इस अवसर पर छत्रसाल का मनसव कितना घटाया गया इसका निश्चित विवरण नहीं मिलता है, परन्तु अनुमान यही होता है कि मनसब बहुत अधिक घटा दिया होगा। और अब पन्हाला का क़िला मुग़लों के अधिकार में रहा ही न था, एवं उसको क़िलेदारी के पद से पदच्युत किए जाने का प्रश्न उठता ही न था।

परन्तु छत्रसाल को अधिक काल तक बेकार न रहना पड़ा। अक्तूबर, १६९३ ई० में वह पेनुकुण्डा का क़िलेदार और फ़ौजदार था। किन्तु छत्रसाल के विरुद्ध कुछ न कुछ शिकायत बनी ही रहती थी, एवं कुछ माह बाद उसे पेनुकुण्डा की इस क़िलेदारी और फ़ौजदारी से अलग कर दिया गया। सम्भवतः इसी सिलसिले में औरंगज़ेब ने जून १८, १६९४ ई० को छत्रसाल के मनसव का ब्यौरा जानना चाहा था। छत्रसाल का मनसब इस समय एक हज़ारी ज़ात–चार सौ सवारों का था। जून २०, १६९४ ई० को यद्यपि छत्रसाल की जागीर बहाल करने का हुक्म हो गया था, परन्तु उसके मनसव का कुछ भी तय नहीं हो पाया। अन्त में जुलाई २८, १६९४ ई० को औरंगज़ेब ने छत्रसाल को पुनः पेनुकुण्डा की क़िलेदारी दे दी। औरगज़ेब का पहिले इरादा हुआ कि छत्रसाल का मनसव आठ सदी ज़ात–आठ सौ सवारों का कर दे, किन्तु बाद में उसका मनसब केवल सात सदी–ज़ात आठ सौ सवारों का किया, जिसमें से पाँच सौ सवार दो-अस्पा थे। जय० अख़०, औरं०, ३६, पृ० १२९; अख़० औरं०, ३७, पृ० १५३; ३८, पृ० ५२६, ५३४, १३४।

परन्तु दुर्भाग्य ने छत्रसाल का साथ न छोड़ा, वह अधिक समय तक पेनुकुण्डा में न रह सका। सन् १६९५ ई० के अप्रेल महीने के लगभग उसे पुन: इस क़िलेदारी से अलग कर दिया गया। छत्रसाल पेनुकुण्डा से शाही दरबार में लौट आया और जून ९ को इस्लामपुरी में औरंगज़ेब की सेवा में उपस्थित होकर एक मोहर और नौ रुपये भेंट किए। दूसरे दिन औरंगज़ेब ने छत्रसाल के मनसब का ब्यौरा जानना चाहा। इन्हीं दिनों हमीदुद्दीन ख़ाँ को इस्लामपुरी से पाँच हज़ार सैनिकों के साथ भेजा जा रहा था कि वह शाही सेना के लिए घी लावे। जून १२ के दिन छत्रसाल को भी उसके साथ भेजा गया। पेनुकुण्डा की क़िलेदारी छूट जाने पर छत्रसाल का मनसब घट कर तीन सदी ज़ात—पाँच सौ सवार दो-अस्पा का रह गया था। हमीदुद्दीन के साथ भेजे जाने के कारण जून १४ को उसका मनसब बढ़ा कर चार सदी ज़ात—७५० सवार दो-अस्पा कर दिया गया। किन्तु औरंगज़ेब ने छत्रसाल को अधिक समय तक हमीदुद्दीन के साथ रहने न दिया; अगस्त २३, १६९५ ई० को हुक्म दिया कि छत्रसाल के बजाय सौ सवार हमीदुद्दीन की सेना में भेज कर छत्र-साल को वापस शाही दरबार में इस्लामपुरी बुला लिया जावे। अख़० औरं०, ३९, पृ० १५, १८, २४, २८, ७०।[२]

हमीदुद्दीन की सेना से लौट आने के कुछ समय बाद छत्रसाल

---

[१]इन सब अख़बारों में अख़बार-नवीसों ने भूल से छत्रसाल राठौड़ को छत्रसाल बुन्देला लिख दिया है। छत्रसाल बुन्देला १६७० ई० से लेकर १७०४ ई० तक कभी भी शाही सेवा में न रहा। सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि "शाही दरबार के अख़बार-नवीसों ने यद्यपि हर बार छत्रसाल राठौड़ के पिता का नाम रतनसिंह राठौड़ दिया है, उसका नाम लिखते समय कहीं तो उसे छत्रसाल बुन्देला और कहीं छत्रसाल राठौड़ लिखा है।" ऐसी ही ग़लती के फलस्वरूप

की नियुक्ति ख़ास चौकी के दारोग़ा लुत्फ़ुल्ला ख़ाँ की सेना में की गई। कोई साल भर तक इस प्रकार रहने के बाद फ़रवरी, १६९७ ई० के लगभग छत्रसाल सगर–नसरताबाद का क़िलेदार और फ़ौजदार नियुक्त किया गया। यह स्थान बीजापुर से कोई ७२ मील पूर्व में बीजापुर एवं हैदराबाद के मध्य में स्थित बेरड़ राज्य की राजधानी था। मा० आ०, पृ० ३८४; औरंग०, ५, पृ० २१६-२१८, २२०। आगामी तीन वर्षों तक छत्रसाल इसी स्थान पर बना रहा, और कर्नाटक के तत्कालीन फ़ौजदार, शेरदिल ख़ाँ की पूरी-पूरी सहायता करता रहा। मरहठों के दलों का सामना करने में छत्रसाल ने शेर-दिल ख़ाँ को भरसक सहयोग दिया। मार्च, १७०० ई० में शेरदिल ख़ाँ ने छत्रसाल के इस सराहनीय सहयोग की पूरी-पूरी रिपोर्ट औरंग-ज़ेब की सेवा में भेज दी और प्रार्थना की कि पन्हाला की पराजय के समय छत्रसाल के मनसब में जो कमी की गई थी वह रद कर दी जावे। यह रिपोर्ट औरंगज़ेब के पास अप्रेल ८, १७०० ई० को पहुँची। इसे पढ़ कर वह सन्तुष्ट हुआ। इस समय छत्रसाल का मनसब एक हज़ारी ज़ात–७५० सवारों का था; औरंगज़ेब ने उसे बढ़ा कर डेढ़ हज़ारी ज़ात–८५० सवारों का कर दिया। इन दिनों औरंगज़ेब सतारा के क़िले का घेरा डाले वहीं डटा हुआ था। अप्रेल २१, १७०० ई० को सतारा के क़िले पर मुग़लों का अधिकार हो गया और उसी दिन औरंगज़ेब ने छत्रसाल को सगर से बदल कर सतारा का क़िलेदार नियुक्त किया। अख़० औरं०, ४४, प० २१३ अ; मा० आ०, पृ० ४२४; औरंग०, ५, पृ० १६६।

मा० आ० में (पृ० ४२५) भी छत्रसाल राठौड़ के स्थान पर छत्रसाल बुन्देला लिखा गया, और वहाँ से यह ग़लती मा० उ०, २, पृ० ५१२, एवं इर्विन कृत 'लेटर मुग़ल्ज़', २, पृ० २२९ पर दुहराई गई। औरंग०, ५, पृ० ३९०-१।

अब छत्रसाल और उसके घराने का भाग्य-सितारा ऊँचा चढ़ने लगा। पूरे साढ़े सात वर्षों के निरन्तर परिश्रम के बाद अब वह पन्हाला की पराजय के समय के मनसब को पुनः प्राप्त कर पाया था। उसके बड़े दो पुत्र हठीसिंह और केसरीसिंह भी शाही मनसबदार बन गए थे और मीर आतिश तरबियत ख़ाँ के साथ शाही तोपख़ाने पर थे। तरबियत ख़ाँ ने उन दोनों के काम से सन्तुष्ट होकर उनके मनसब में भी वृद्धि के लिए प्रार्थना की। औरंगज़ेब ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। हठीसिंह का मनसब दो सदी–१५० सवारों का था; उसे बढ़ा कर तीन सदी–२०० सवारों का कर दिया। केसरीसिंह के ढाई सदी–५० सवारों के मनसब में आधी सदी–५० सवारों की वृद्धि की गई। अख़० औरं०, ४४, प० ३४२ अ।

सन् १७०१ ई० के प्रारम्भ में औरंगजेब ने पन्हाला के क़िले को पुनः जीतने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किए और वह स्वयं शाही सेना के साथ मार्च ९, १७०१ ई० को पन्हाला के सामने जा डटा और उस क़िले का घेरा डाला। इस घेरे के समय शाही सेना के साथ छत्रसाल भी पन्हाला आया था या नहीं, इस बारे में निश्चित रूपेण कुछ भी ज्ञात नहीं है। ख्यातों में छत्रसाल का वहाँ होने का उल्लेख मिलता है, परन्तु यह सम्भव नहीं जान पड़ता है। सतारा का क़िला कुछ ही महीनों पहिले जीता गया था, और वहाँ का शासन-प्रबन्ध और सुरक्षा का ठीक-ठीक आयोजन करना अत्यावश्यक था, अतएव छत्रसाल का तब सतारा ही ठहरना अधिक आवश्यक और उचित था। औरंग०, ५, पृ० १७२-३।

छत्रसाल स्वयं नहीं भी आया हो, किन्तु तरबियत ख़ाँ के सेनापतित्वमें शाही तोपख़ाने के साथ छत्रसाल के दोनों पुत्र, हठीसिंह और

केसरीसिंह, पन्हाला आए, और पन्हाला पर गोलन्दाज़ी करने और वहाँ के युद्ध में दोनों भाइयों ने पूरा-पूरा भाग लिया। अप्रेल ३०, १७०१ को गोलन्दाज़ी करते समय पन्हाला पर से किसी युरोपीय गोलन्दाज़ का निशाना हठीसिंह के लगा और वह मारा गया (अख़० औरं०, ४५, प० ५७ अ)। मई २८, १७०१ ई० को पन्हाला पर मुग़लों का अधिकार हो गया, और हठीसिंह के मारे जाने की घटना का विचार कर इस विजय की ख़ुशी के अवसर पर मई ३०, १७०१ ई० के दिन औरंगज़ेब ने हठीसिंह के ज्येष्ठ पुत्र, वैरीसाल को नया मनसब देकर उसे तीन सदी ज़ात–पचास सवारों का मनसबदार नियुक्त किया। हठीसिंह के छोटे भाई केसरीसिंह के मनसब में भी वृद्धि की गई; तीन सदी ज़ात–१५० सवारों का मनसब बढ़ कर अब चार सदी ज़ात–२०० सवारों का हो गया। अख़० औरं०, ४५, पृ० ७९ अ, ८१ अ; औरंग०, ५, पृ० १७६-१७७। छत्रसाल का ज्येष्ठ पुत्र मारा गया था, परन्तु इस अवसर पर उसके मनसब में कोई भी वृद्धि नहीं की गई; अगस्त, १७०१ ई० में भी उसका मनसब वही डेढ़ हज़ारी ज़ात–८५० सवारों का था।

पन्हाला के क़िले पर अधिकार होने के दूसरे दिन ही औरंगज़ेब वहाँ से चल पड़ा, और वैरीसाल तथा केसरीसिंह राठौड़ भी उसी के साथ पन्हाला से रवाना हो गए। जुलाई के अन्तिम सप्ताह के लग-भग छत्रसाल राठौड़ और उसके पौत्र वैरीसाल की नियुक्ति मामूर ख़ाँ के साथ की गई थी, परन्तु अगस्त २३, १७०१ ई० को उन दोनों को मामूर ख़ाँ की सेना से बदल कर हुसैन कलीच ख़ाँ के साथ नियुक्त किया। अख़० औरं०, ४५, प० १३० अ।

गुरूजी० में लिखा है कि हठीसिंह के मारे जाने के बाद उसके इस महान त्याग के पारितोषिक के रूप में छत्रसाल को रतलाम

परगना मिला, जिससे रतलाम के वर्तमान द्वितीय राज्य की स्थापना हुई। ऊपर दिए गए उल्लेखों से स्पष्ट है कि रतलाम का परगना अगस्त २३, १७०१ ई० तक तो छत्रसाल को नहीं मिला था। मई ३, १७०७ ई० में छत्रसाल का मनसब दो हज़ारी ज़ात–एक हज़ार सवारों का था (जय० अख़०, आज़म०, पृ० १२५)। छत्रसाल के मनसब में यह वृद्धि कब हुई थी यह निश्चित रूपेण नहीं कह सकते। परन्तु ख्यातों के कथन एवं अन्य सारी परिस्थिति को देखते हुए यही अनुमान होता है कि सन् १७०२ या १७०३ ई० के लगभग ही छत्रसाल के मनसब में यह वृद्धि हुई होगी और उसी अवसर पर उसके इस नए मनसब की जागीर के सिलसिले में रतलाम का यह परगना उसे प्राप्त हुआ होगा। जिस शाही सनद द्वारा छत्रसाल को रतलाम का यह परगना प्राप्त हुआ था, वह वर्तमान रतलाम राजघराने के अधिकार में नहीं है। कहा जाता है कि वैरीसाल के वंशजों के ही अधिकार में वह शाही सनद रही। उक्त सनद के अभाव में वर्तमान द्वितीय रतलाम राज्य की स्थापना का ठीक-ठीक सन्-संवत् निश्चित करना सम्भव नहीं।

सन् १७०१ ई० के बाद आगामी छः वर्षों में छत्रसाल कहाँ रहा और उसने क्या किया, इसका कहीं भी विवरण नहीं मिलता है। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद जब अहमदनगर से आज़म शाह सारी शाही सेना लेकर उत्तरी भारत की ओर लौटा तब छत्रसाल भी उसके साथ ही उत्तरी भारत को रवाना हुआ। मालवा के अन्तर्गत सिरोंज शहर पहुँचने पर मई ३, १७०७ ई० को आज़म ने छत्रसाल को भी ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ के साथ आगे भेजा। ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ के साथ रवाना होने से पहिले छत्रसाल का मनसब दो हज़ारी ज़ात–दो हज़ार सवारों का कर दिया गया (जय० अख़०,

आज़म०, पृ० १२५)। किन्तु इसके कुछ ही सप्ताह बाद जाजव का युद्ध हुआ जिसमें आज़म शाह मारा गया और यों उसकी दी हुई मनसब में इस वृद्धि का पालन नहीं हुआ; छत्रसाल का मनसब दो हज़ारी ज़ात–एक हज़ार सवार का ही बना रहा।

सन् १७०८ ई० में बहादुर शाह ने जोधपुर पर चढ़ाई की, तब छत्रसाल बहादुर शाह के साथ शाही सेना में था। जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह ने बहादुर शाह की अधीनता स्वीकार कर ली और वह शाही दरबार में उपस्थित हुआ; तब मार्च १०, १७०८ ई० को अजीतसिंह ने छत्रसाल को चाँदी के साज़ वाला एक घोड़ा दिया (ख्यात०, २, पृ० १२३)। मारवाड़ से अजमेर होता हुआ बहादुर शाह दक्षिण में अपने छोटे भाई कामबख़्श के विरुद्ध सेना लेकर चला। बहादुर शाह के साथ छत्रसाल भी था। इस चढ़ाई से लौटते समय फ़रवरी १२, १७०९ ई० को बहादुर शाह ने छत्रसाल के मनसब में वृद्धि की। उसका मनसब दो हजारी ज़ात–एक हज़ार सवारों से बढ़ कर ढाई हज़ारी ज़ात–डेढ़ हज़ार सवारों का हो गया (जय० अख़०, बहादुर०, ३, पृ० १०)। एक सप्ताह बाद फ़रवरी १९ को बहादुर शाह ने छत्रसाल को ख़िलअत और पुरस्कार दिए (जय० अख़०, बहादुर०, ३, पृ० १०, १४)

छत्रसाल के मनसब में यह अन्तिम वृद्धि थी। इसके बाद अख़बारों, आदि में छत्रसाल का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है। छत्रसाल की मृत्यु कब हुई इस बात पर बहुत मतभेद पाया जाता है। गुरूजी० एवं अन्य ख्यातों के अनुसार छत्रसाल की मृत्यु सन् १७०५ ई० (१७६२ वि०) में हुई थी। रतलाम० (पृ० ८) के अनुसार छत्रसाल की मृत्यु १७०९ ई० में हुई। ऊपर दिए विवरण के अनुसार सन् १७०९ ई० के प्रारम्भिक महीनों में तो छत्रसाल

शाही सेवा में विद्यमान था। ख्यातों में लिखा है कि छत्रसाल ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष धर्म-ध्यान और ईश्वर की आराधना में बिताए थे। यदि इस कथन को ठीक माना जावे तो अनुमान यह होता है कि दक्षिण की इस चढ़ाई से लौटने के वाद छत्रसाल ने सांसारिक झंझटों को छोड़ दिया और अपने राज्य का कार्य अपने पौत्र-पुत्रों को सौंप कर कुछ वर्ष शान्तिपूर्वक बिताए। सन् १७१२ ई० के लगभग छत्रसाल की मृत्यु हुई होगी। सन् १७१३ ई० में तो उसके पुत्रों का उल्लेख रतलाम के ज़मींदार के रूप में होने लगा था (जय० अख़०, फ़र्रुख़०, २, पृ० २५)।

छत्रसाल वीर और साहसी था। साधारण परिस्थिति से जीवन प्रारम्भ कर वह अन्त में ढाई हज़ारी ज़ात—दो हज़ार सवारों का मनसबदार बना। जीवन में कई बार उसे विफलता का सामना करना पड़ा। पन्हाला की पराजय ने उसकी उन्नति में बहुत गहरा धक्का पहुँचाया था। उसने रतलाम के वर्तमान द्वितीय राज्य की स्थापना की। यों रतनसिंह राठौड़ के पुत्रों में रामसिंह के बाद छत्रसाल को ही सबसे अधिक सफलता और ख्याति प्राप्त हुई।

छत्रसाल के वंशजों को भी आगे चल कर पर्याप्त सफलता मिली; आज भी उसके वंशज दूर-दूर तक फैले हुए हैं। जयपुर राज्य के अन्तर्गत एक जागीर, इन्दौर राज्य के अन्तर्गत ठिकाना बड़वास और सीतामऊ राज्य के अन्तर्गत ठिकाना पतलासी अब भी छत्रसाल के पौत्र वैरीसाल के वंशजों के अधिकार में हैं। छत्रसाल के दूसरे पुत्र केसरीसिंह के बड़े लड़के मानसिंह के उत्तराधिकारी रतलाम के वर्तमान द्वितीय राज्य पर शासन कर रहे हैं। छत्रसाल के तीसरे लड़के प्रतापसिंह के कोई पुत्र न था, एवं उसने केसरीसिंह के दूसरे पुत्र जयसिंह

को दत्तक लिया जिसके उत्तराधिकारी वर्तमान सैलाना राज्य के शासक हैं।

(५) अखेराज

वह रतनसिंह का छठा पुत्र था। वह करण और छत्रसाल का सहोदर भाई था। 'रतन रासो' में उसका नाम मिलता है, परन्तु उसका कोई विवरण नहीं दिया गया है (रासो०, पृ० ७९, १०२, १०८)।

अपने अन्य भाइयों के समान वह भी शाही मनसबदार था। सम्भवतः इसी मनसब की जागीर में उसे डग-पड़ावा का परगना मिला था। गुरूजी० के आधार पर रतन०, पृ० ५४ और ७६ पर उसे यह परगना सन् १६५६-५७ ई० (सं० १७१३ वि०) में मिलने का उल्लेख किया गया है जो सम्भव नहीं था; सन् १६५८ ई० में रतनसिंह की मृत्यु के बाद ही उसे यह परगना मिला होगा। गुरूजी० के अनुसार यह परगना सन् १६६४-५ ई० (सं० १७२१ वि०) में उसके अधिकार से निकल गया। संभवतः इसके बाद ही अखेराज को कोठड़ी-पड़ावा सरकार के अन्तर्गत डग-दुधालिया का परगना मिला होगा, जो सन् १६७९ ई० में भी अखेराज के ही अधिकार में था (आईन०, २, पृ० २०९; गुरुजी के संग्रह में रतन-पुरा गाँव की सनद—अप्रेल १४, १६७९ ई०=वैशाख सु० १४, सं० १७३६ वि०)। अखेराज का ठीक २ मनसब क्या था? और भी कौन-कौन से परगने या गाँव उसके अधिकार में रहे तथा उनमें कब तथा क्या परिवर्तन हुए, ये बातें निश्चित रूपेण ज्ञात नहीं हैं।

अपने अन्य भाइयों की तरह सन् १६७९ ई० में अखेराज भी

अपने ज्येष्ठ भाई रामसिंह के साथ दक्षिण में शाहज़ादे मुअज़्ज़म (शाह आलम) की सेना में नियुक्त था। अप्रेल ८, १६८० ई० को रामसिंह के साथ ही अखेराज को भी औरंगज़ेब ने शाही दरबार में अजमेर बुलवाया। जय० अख़०, औरं०, २३ (१), पृ० २३२; २३ (३), पृ० १६२; २३ (४), पृ० १३०।

सन् १६८२ ई० में अखेराज दक्षिण के सूबेदार ख़ान जहाँ की सेना में नियुक्त था। उसी साल के पिछले महीनों में वह अपने छोटे भाई किशनसिंह को साथ लेकर ख़ान जहाँ की सेना से निकल भागा। उन दिनों दुर्जनसिंह हाड़ा मालवा में बूंदी के आस-पास उपद्रव मचा रहा था; ये दोनों भाई उससे जा मिले। मालवा के सूबेदार ख़ान ज़मान ने पत्र लिखकर इन दोनों भाइयों को समझाने का पूरा २ प्रयत्न किया, परन्तु उसे कोई सफलता न मिली। जय० अख़०, औरं०, २६ (२), पृ० १६।

सन् १६८५ ई० के प्रारम्भिक महीनों में अखेराज और किशन-सिंह का उपद्रव फिर बढ़ा। वे दुर्जनसिंह का साथ दे रहे थे, और अब तो वे मालवा सूबा के अन्तर्गत रामपुरा राज्य से गाय-बैल आदि पशुओं को घेर-घेर कर उन्हें दुजनसाल के पास पहुँचाने लगे। राम-पुरा के गोपालसिंह चन्द्रावत ने उनको रोकने के लिए सैनिक भेजे, जिनके साथ इन दोनों भाइयों और उनके सैनिकों की मुठभेड़ हो गई। लड़ाई छिड़ गई, जिसमें किशनसिंह और उसके कुछ सैनिक मारे गए; अखेराज एवं उसके साथी भाग निकले। यह घटना मार्च, १६८५ ई० के लगभग हुई। कुछ माह बाद शाही दरबार से मालवा के तत्कालीन सूबेदार मुग़ल ख़ाँ और बूंदी के राव अनिरुद्ध-सिंह के नाम हुक्म पहुँचा कि वे इन विद्रोहियों का पीछा कर उन्हें दबा दें। जय० अख़०, औरं०, २८ (२) पृ० २४१।

सन् १६८६ ई० के अन्तिम महीनों में अखेराज रतलाम और बदनावर के आसपास ही घूमता फिर रहा था। उसी समय शाह-ज़ादा अकबर को समुद्र-मार्ग से फ़ारस रवाना कर दक्षिण से मेवाड़-मारवाड़ की ओर जाता हुआ दुर्गादास राठौड़ मालवा में होकर गुज़रा। जब वह बदनावर और रतलाम पहुँचा, तब अखेराज उससे मिला और अखेराज ने तीन-चार दिन तक दुर्गादास राठौड़ का खूब आदर-सत्कार भी किया (ईश्वर०, प० ११९ अ)। रतलाम से रवाना होते समय दुर्गादास राठौड़ ने अखेराज को भी अपने साथ ले लिया। राह में शाही प्रदेश में लूट-मार करते हुए अन्त में अप्रेल २२, १६८७ ई० को उन्होंने मालपुरा लूटा, जिसमें अखेराज ने भी साथ दिया। ख्यात०, २, पृ० ८०-१; राजरूपक, पृ० ३०४; औरंग०, ५, २७२; जोधपुर०, २, पृ० ५०७।

इस समय कोई डेढ़-दो साल तक अखेराज दुर्गादास के साथ जोधपुर की राठौड़ सेना में ही बना रहा। अक्तूबर २४, १६८७ ई० को सेहरगढ़ (शेरगढ़ ?) के लिए राठौड़ सुजानसिंह के साथ होने वाले युद्ध में अखेराज ने भी भाग लिया एवं उसके कई साथी काम आए (ख्यात०, २, पृ० ८१-२)। अब जोधपुर राज्य में नियुक्त मुसलमान अफ़सरों एवं आस-पास के अन्य सेनानायकों के साथ राठौड़ सैनिकों की यत्र-तत्र मुठभेड़ होने लगी थी, जिनमें अखेराज भी बराबर भाग ले रहा था। मार्च ४, १६८८ ई० को जोधपुर शहर के कायमखानियों के साथ युद्ध हुआ जिसमें अखेराज के एक तीर लगा, जिससे वह घायल हो गया (ख्यात०, २, पृ० ८३-८४)। मंदसौर और उज्जैन के फ़ौजदारों के साथ अप्रेल ४, १६८८ ई० को युद्ध हुआ, और एक सप्ताह बाद अप्रेल ११, को रामसर नामक स्थान पर शाही सेना की राठौड़ों के साथ दूसरी मुठभेड़ हुई। अखेराज इन दोनों युद्धों में शाही सेना के विरुद्ध

लड़ा। ख्यात०, २, पृ० ८२-३; जोधपुर०, २, पृ० ५०९। इधर अखेराज और चोंडावतों में आपसी वैर हो गया था; चारण करणदास ने बीच में पड़कर दोनों में मेल कराया। यह घटना मार्च २६, १६८८ ई० को हुई (ख्यात०, २, पृ० ८५)।

इसके बाद के अखेराज के जीवन का कोई विवरण प्राप्त नहीं है। ऐसा अनुमान होता है कि जोधपुर की इस राठौड़ सेना के साथ कुछ समय और बिता कर अखेराज पुनः मालवा की ओर लौट आया था। क्योंकि गुरूजी० में लिखा है कि अन्त में अखेराज कुशलगढ़ ठिकाने के अन्तर्गत रामझर सरवा नामक स्थान पर युद्ध करता हुआ मारा गया। वहीं उसकी दाह-क्रिया की गई और उस दाह-स्थान पर आज भी उसका चौतरा स्मारक के रूप में विद्यमान है।

अखेराज के अनेक पुत्र थे। जावरा राज्य के अन्तर्गत आम्बा एवं सीतामऊ राज्य के अन्तर्गत डाबड़ी ठिकाने आज भी अखेराज के वंशजों के अधिकार में हैं।

(६) पृथ्वीराज

पृथ्वीराज रतनसिंह का सातवाँ पुत्र था। वह छत्रसाल का सहोदर भाई था। ख्यातों और पोथियों में पृथ्वीराज के जीवन का कुछ भी विवरण नहीं मिलता है। 'रतन रासो' में उसका नाम कहीं भी नहीं लिखा मिलता है।

पृथ्वीराज भी शाही सेना में मनसबदार था, और प्रायः उसकी नियुक्ति भी उसके ज्येष्ठ भाई रामसिंह के साथ ही होती रही। सन् १६७९ ई० में वह दक्षिण में शाहजादे शाह आलम की सेना में नियुक्त था। अप्रेल ८, १६८० ई० को रामसिंह के साथ ही उसे भी शाही दरबार में अजमेर बुलवाया गया था। जय० अख़०, औरं०, २३

(१), पृ० २३२; २३ (३), पृ० १६२; २३ (४), पृ० १३०। पृथ्वीराज के कोई पुत्र न था।

(७) जेतसिंह

जेतसिंह रतनसिंह का आठवाँ पुत्र था। वह भी छत्रसाल का सहोदर भाई था। 'रतन रासो' में उसका नाम मिलता है, परन्तु उसका विशेष हाल वहाँ नहीं दिया है (रासो०, पृ० ७९, १०२, १०८)। गुरुजी० में लिखा है कि उसे वर्तमान सीतामऊ राज्य के अन्तर्गत स्थित भगोर एवं उसके आस-पास के गाँव जागीर में मिले थे; इसके अतिरिक्त उसका कोई भी विवरण ख्यातों और पोथियों में नहीं मिलता है।

अपने अन्य भाइयों की ही तरह जेतसिंह भी शाही सेना में मनसबदार था। सन् १६८३ ई० में मृत्यु के समय उसका यह मनसब बढ़ते-बढ़ते छः सदी ज़ात–५० सवार का हो गया था; जय० अख़०, औरं०, २६ (२), पृ० ४१७। इस मनसब की जागीर में उसे भगोर और आस-पास के गाँव मिले थे या नहीं यह कहना कठिन है, परन्तु सीतामऊ शहर के पास ही एक समाधि पर के शिला-लेख से ज्ञात होता है कि मई २३, १६७७ ई० को सीतामऊ जेतसिंह की जागीर में था (मोरी बावड़ी के पास की समाधि का शिला-लेख)। संभवतः सन् १६७६ ई० में करण की मृत्यु के बाद सीतामऊ के साथ ही आस-पास के गाँव भी जेतसिंह को जागीर में मिले होंगे।

जेतसिंह की भी नियुक्ति उसके ज्येष्ठ भाई रामसिंह के साथ ही हुआ करती थी। सन् १६७९ ई० में जेतसिंह रामसिंह के साथ दक्षिण में शाहज़ादा शाह आलम की सेना में नियुक्त था। पुनः अप्रेल ८, १६८० ई० को रामसिंह के साथ ही उसे भी शाही दरबार में अजमेर

बुलवाया गया था। जय० अख़०, औरं०, २३ (१), पृ० २३२; २३ (३), पृ० १६२; २३ (४), पृ० १३०।

सन् १६८१ ई० में शाही सेना लेकर दक्षिण-विजय के लिए जब औरंगज़ेब अजमेर से चला तब रामसिंह और उसके कई भाई, जिनमें जेतसिंह भी था, उसके साथ थे। दिसम्बर १८, १६८२ ई० को रामसिंह के साथ जेतसिंह भी मुग़ल ख़ाँ की सेना में नियुक्त किया गया, किन्तु अपने अन्य भाइयों के समान जेतसिंह भी जनवरी १८, १६८३ ई० को वहाँ से बदल कर रुहेला ख़ाँ की सेना में नियुक्त किया गया। नासिक से सेना लेकर रणमस्त ख़ाँ की मदद के लिए जब रुहेला ख़ाँ कल्याण-भिवण्डी पहुँचा, तब जेतसिंह भी उसके साथ था। मार्च १८ के लगभग हम्बीर राव के नेतृत्व में मरहठों की एक बड़ी सेना ने कल्याण-भिवण्डी के आस-पास ही जब शाही सेना के चन्दावल पर हमला किया तब पदमसिंह, आदि के साथ उनका सामना करनेवालों में जेतसिंह भी था। इस युद्ध में वीरतापूर्वक लड़ता हुआ वह काम आया। इस प्रकार उसके खेत रहने का विवरण अप्रेल ५, १६८३ ई० को औरंगज़ेब के पास औरंगाबाद पहुँचा। मृत्यु के समय जेतसिंह का मनसब छः सदी ज़ात–५० सवार का था। जय० अख़०, औरं०, २६ (१), पृ० ३६७; २६ (२), पृ० १३६, १५६, ३९४-५, ४०५-७, ४१७।

जेतसिंह के कोई पुत्र न था, एवं उसका वंश आगे नहीं चला।

(८) किशनसिंह

वह रतनसिंह का नवाँ पुत्र था। रतनसिंह की देवड़ी रानी रैण-सुख दे चाँदा पृथ्वीराजोत की के चार पुत्र हुए जिनमें किशनसिंह सबसे बड़ा था। ख्यातों और पोथियों में किशनसिंह के जीवन का कोई भी विवरण नहीं मिलता है। 'रतन रासो' में किशनसिंह का नाम अवश्य

दिया गया है, परन्तु उसका कुछ भी हाल वहाँ नहीं मिलता (रासो०, पृ०, ७९, १०२, १०८)।

अपने अन्य भाइयों की तरह किशनसिंह भी शाही सेना में मनसबदार था। उसका मनसब कितना था, और मनसब की जागीर में उसे कौन से गाँव मिले थे, इसका कोई भी उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। शाही सेना में उसकी नियुक्ति प्रायः उसके ज्येष्ठ भाई रामसिंह के साथ ही की जाती थी। सन् १६७९ ई० में किशनसिंह रामसिंह के साथ ही दक्षिण में शाहज़ादे मुअज़्ज़म (शाह आलम) की सेना में नियुक्त था। रामसिंह के साथ किशनसिंह को भी अप्रेल ८, १६८० ई० को शाही दरबार में अजमेर बुलवाया गया था। जय० अख़०, औरं०, २३ (१), पृ० २३२; २३ (३), पृ० १६२; २३ (४), पृ० १३०।

सन् १६८२ ई० में वह दक्षिण के सूबेदार ख़ान जहाँ की सेना में नियुक्त था, परन्तु उसी साल के पिछले महीनों में अपने भाई अखेराज के साथ ही वह भी ख़ान जहाँ की फौज से निकल भागा और बूँदी राज्य में जाकर वहाँ के विद्रोही दुर्जनसिंह हाड़ा से जा मिला। उस समय ख़ान ज़मान मालवा का सूबेदार था; उसने किशनसिंह को एक पत्र लिखा और उसे लूट-खसोट न करने और विद्रोहियों का साथ न देने के लिए आग्रह किया, परन्तु किशनसिंह ने दुर्जनसिंह हाड़ा का साथ न छोड़ा। (जय० अख़०, औरं०, २६ (२), पृ० (१६)। १६८५ ई० के प्रारम्भिक महीनों में किशनसिंह का उपद्रव बहुत बढ़ा। रामपुरा राज्य में से गाय-बैल आदि पशुओं को घेर-घार कर उन्हें दुर्जनसिंह के पास वह ले जाने लगा, तब तो रामपुरा से गोपालसिंह चन्द्रावत ने उसको रोकने के लिए सैनिक भेजे। अखेराज, किशनसिंह एवं उनके साथियों ने रामपुरा के इन सैनिकों का सामना किया। किशनसिंह युद्ध करता हुआ मारा गया। मार्च, १६८५ ई० के लगभग इस प्रकार किशनसिंह

की मृत्यु हुई। जय० अख़०, औरं०, २८ (२), पृ० २४१।

किशनसिंह के कोई पुत्र न था, एवं उसका वंश आगे नहीं चला।

(९) सूरसिंह

सूरसिंह रतनसिंह का दसवाँ पुत्र था। किशनसिंह का वह सहोदर भाई था। ख्यातों और पोथियों में सूरसिंह के जीवन का कुछ भी हाल नहीं मिलता है। 'रतन रासो' में उसके नाम का उल्लेख भी कहीं नहीं है।

अख़बारों में जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि अन्य भाइयों के समान सूरसिंह भी शाही सेना में मनसबदार था, और प्रायः अपने ज्येष्ठ भाई रामसिंह के साथ ही नियुक्त किया जाता था। सन् १६६५ ई० में शिवाजी के विरुद्ध चढ़ाई के समय भी सूरसिंह शाही सेना के साथ दक्षिण गया था और वहाँ युद्धों में उसने बड़ी वीरता दिखाई थी (आ० ना०, पृ० ८९१, १००५)। पुनः सन् १६७९ ई० में भी वह रामसिंह के साथ दक्षिण में शाहज़ादे शाह आलम की सेना में नियुक्त था। अप्रेल ८, १६८० ई० को रामसिंह के साथ ही उसे भी शाही, दरबार में अजमेर बुलवाया गया था। जय० अख़०, औरं०, २३ (१) पृ० २३२; २३ (३), पृ० १६२; २३ (४) पृ० १३०। सूरसिंह का मनसब क्या था और उसकी जागीर कहाँ थी, आदि बातों का कोई भी विवरण नहीं मिलता है।

सूरसिंह का वंश भी आगे न चला।

(१०) धीरतसिंह

धीरतसिंह रतनसिंह का इग्यारहवाँ पुत्र था। रतनसिंह की देवड़ी रानी रैगसुख दे चाँदा पृथ्वीराजोत की का वह तीसरा पुत्र था। ख्यातों

और पोथियों में उसके जीवन का कुछ भी हाल नहीं मिलता है। 'रतन रासो' में तो उसके नाम का भी उल्लेख नहीं किया गया है।

अख़बारों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अन्य भाइयों के समान धीरतसिंह भी शाही सेना में मनसबदार था और प्रायः वह अपने ज्येष्ठ भाई रामसिंह के साथ ही रहता था। सन् १६७९ ई० में रामसिंह के साथ वह भी दक्षिण में शाहज़ादा शाह आलम की सेना में नियुक्त था। अप्रेल ८, १६८० ई० को रामसिंह के साथ उसे भी शाही दरबार में अजमेर बुलवा भेजा था। जय० अख़०, औरं०, २३ (१), पृ० २३२; २३ (३), पृ० १६२; २३ (४), पृ० १३०।

धीरतसिंह के कोई पुत्र न था।

(११) सकतसिंह

सकतसिंह रतनसिंह का बारहवाँ पुत्र था। वह धीरतसिंह का सहोदर भाई था। गुरूजी० के अनुसार उसका जन्म सन् १६४८-४९ ई० (सं० १७०५ वि०) में हुआ था। ख्यातों और पोथियों में उसके जीवन का विशेष हाल नहीं मिलता है। 'रतन रासो' में उसके नाम का उल्लेख अवश्य है, किन्तु उसके बारे में कोई विवरण नहीं दिया गया है (रासो०, पृ० ७९, १०२, १०३)।

अपने अन्य भाइयों की तरह सकतसिंह भी शाही सेना में मनसबदार था और सन् १६७९ ई० में रामसिंह के साथ ही दक्षिण में शाहज़ादा शाह आलम की सेना में नियुक्त था। अप्रेल ८, १६८० ई० को रामसिंह के साथ औरंगज़ेब ने सकतसिंह को भी शाही दरबार में अजमेर बुलवाया था। अपने अन्य आठ भाइयों के साथ अक्तूबर १०, १६८० ई० को वह शाही दरबार में उपस्थित हुआ और औरंगज़ेब की सेवा में पन्द्रह रुपए नज़र किए। जय० अख़०, औरं०, २३ (१), पृ० २३२;

२३ (३), पृ० १६२; २३ (४), पृ० १३०; २४ (१) पृ० ४८।

सकतसिंह के कोई लड़का न था, एवं उसने अपने बड़े भाई रायसिंह के तीसरे पुत्र अनूपसिंह को गोद ले लिया था, जिससे सकतसिंह का वंश आगे चला। धार राज्य के अन्तर्गत मुलथान ठिकाना आज भी अनूपसिंह के वंशजों के अधिकार में है।

सकतसिंह का मनसब क्या था, मनसब की जागीर में उसे कौन से गाँव मिले थे इनका ठीक-ठीक ऐतिहासिक विवरण नहीं मिलता है। पोथियों के आधार पर रतन० पृ० ५४ और पृ० ७२ पर लिखा है कि सकतसिंह को प्रारम्भ से ही बदनावर परगने के अन्तर्गत मुलथान एवं आसपास के गाँव मिले थे। किन्तु यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं जान पड़ता है। बदनावर का परगना सन् १६८१ ई० में रामसिंह को जागीर में मिला था (अख़० औरं०, २५, पृ० २२९)। बाद में यही परगना बनेड़ा ठिकाने के संस्थापक भीमसिंह को जागीर में मिला और मालवा में मरहठों का आधिपत्य स्थापित होने तक भीमसिंह के वंशजों के ही अधिकार में रहा था (मालवा में युगान्तर, पृ० ८९-९०, ३२२)। बदनावर परगने एवं वहाँ के आस-पास के प्रदेश में खोज करने पर ही इस प्रश्न पर विशेष प्रकाश पड़ सकेगा।

अध्याय ६

शिवसिंह

(१६८३—१६६१ ई०)

१. प्रारम्भिक वर्ष—चान्दा पर चढ़ाई; मई, १६८३—मार्च, १६८५ ई०

सुदूर दक्षिण में समुद्र-तट के निकट ही जब कल्याण-भिवण्डी में रामसिंह की मृत्यु हुई, उस समय उसका ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी, शिवसिंह रतलाम में ही था। शिवसिंह का जन्म सोमवार, श्रावण शु० ८, सं० १७२९ वि० (जुलाई २२, १६७२ ई०) को हुआ था[1], एवं इस समय उसकी उम्र पूरे इग्यारह वर्ष की भी न थी किन्तु आश्चर्यजनक चतुरैता के साथ वह अपने इस नये उत्तरदायित्व को संभालने में लग गया। अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिलने के कोई एक माह बाद शुभ मुहूर्त देख कर सोमवार, मई २१, १६८३ ई० (ज्येष्ठ शुक्ला ५,

---

[1] गुरूजी०। बड़वों की ख्यातों में शिवसिंह के जन्म की अलग-अलग तिथियाँ दी हैं। कई ख्यातों में सिर्फ़ उसका जन्म संवत् १७१९ वि० (१६६२-१६६३ ई०) दिया है। एक ख्यात के अनुसार चैत्र वि० ७, सं० १७१९ वि० (गुरुवार, फ़रवरी १९, १६६३ ई०) ही उसकी जन्म-तिथि थी। दूसरी ख्यात में कार्तिक शु० ८, १७२४ वि० (सोमवार, अक्तूबर १४, १६६७ ई०) के दिन शिवसिंह का जन्म होना लिखा है। किन्तु इन सब में गुरूजी० द्वारा दी गई तिथि को ही ठीक मान कर उसे स्वीकार किया गया है।

शिवसिंह

सं० १७४० वि०)[२] को वह रतलाम राज्य की गद्दी पर बैठा। ऐसा अनुमान होता है कि इसी अवसर पर औरंगज़ेब ने शिवसिंह को ६ सदी ज़ात–५०० सवारों का मनसब दिया था, जिनमें से ४०० सवार दो-अस्पा थे।[३] अपने राज्य के शासन का ठीक-ठीक प्रबन्ध कर सन् १६८४ ई० के प्रारम्भ में शिवसिंह सम्राट् की सेवा में दक्षिण जा पहुँचा। जून १५, १६८४ ई० को शिवसिंह रामगढ़ का थानेदार नियुक्त

---

[२] गुरूजी० ने जो वार, तिथि और माह दिये हैं वे सन् १६८३ ई० के ही हैं, किन्तु वहाँ संवत् १७३९ वि० दिया है। सम्भवतः यह श्रावणादि संवत् हो जिससे यह एक साल का अन्तर हो गया। आगे इस विषय में भ्रम न हो जावे, इसी विचार से संवत् चैत्रादि कर दिया गया है।

संवत् वाला यह भेद बड़वों की ख्यातों में भी मिलता है। प्रायः गुरूजी० द्वारा दी गई तिथि ही उनमें लिखी है। किन्तु एक ख्यात में शिवसिंह के राज्यारोहण का दिन भाद्रपद शु० ४, सं० १७३९ वि० (बुधवार, अगस्त १५, १६८३ ई०) दिया है।

[३] जय० अख़०, औरं०, २७, पृ० १२६ पर जून, १६८४ ई० में उसके मनसब में की गई वृद्धि का उल्लेख करते समय शिवसिंह के जिस पिछले मनसब का विवरण दिया है वह मनसब उसके पिता की मृत्यु पर ही शिवसिंह को मिला होगा।

बाल्यावस्था में गद्दी बैठने के कुछ ही समय बाद, केवल बारह बरस की उमर में ही, शिवसिंह का शाही सेवा में जाना और वहाँ महत्त्वपूर्ण क़िले की थानेदारी पाना, आश्चर्यजनक अवश्य जान पड़ता है; किन्तु मुग़ल साम्राज्य के लिए यह अनोखी बात न थी। वंशपरम्परागत मनसबदारों में यदि कोई शासक योग्य होता तो कम उमर में भी उसे बड़े उत्तरदायित्त्व का काम सौंपा जाता था। जुलाई १०, १६९९ ई० को जब बीकानेर के शासक राजा स्वरूपसिंह को औरंगज़ेब ने राजाराम के बाल-बच्चों को शाही दरबार मे लाने का हुक्म दिया उस समय स्वरूपसिंह की उमर केवल दस वर्ष की थी। बीकानेर०, १, पृ० २९१-२; मा० आ०, पृ० ४०७।

किया गया और इसी अवसर पर उसके मनसब में एक सौ सवार बढ़ाए गए।[४]

शिवसिंह को अपना यह पद संभाले अधिक दिन बीते न थे कि उसे शाही सेना में सम्मिलित होने चान्दा जाना पड़ा। चान्दा के जमींदार रामसिंह से औरंगज़ेब अप्रसन्न हो गया था, एवं अक्तूबर, १६८३ ई० में औरंगज़ेब ने रामसिंह को चांदा की जमींदारी से अलग कर उसके भाई किशनसिंह को वह जमींदारी दे दी। पहिले तो रामसिंह ने इस हुक्म का विशेष खयाल न किया, किन्तु जून, १६८४ ई० के प्रारम्भ में जब औरंगज़ेब ने किशनसिंह को बुलवा भेजा, तब तो रामसिंह बहुत ही क्रुद्ध हुआ और चार-पाँच हज़ार सवारों को एकत्रित कर चांदा के आस-पास उपद्रव मचाने लगा। किशनसिंह जब दरबार में पहुँचा तो जुलाई ३०, १६८४ ई० को औरंगज़ेब ने उसे चांदा की जमींदारी पर नियुक्त किया, और एतकाद ख़ाँ को हुक्म हुआ कि वह ससैन्य जाकर किशनसिंह को जमींदारी का अधिकार दिला दे, तथा रामसिंह को दण्ड देकर उसके उपद्रव का अन्त कर डाले।[५] सेना लेकर जब एतकाद ख़ाँ चान्दा के लिए रवाना हुआ तो उसने अपनी सहायतार्थ रामगढ़ से शिवसिंह को भी बुलवा भेजा।

नवम्बर, १६८४ ई० के प्रारम्भ में एतकाद ख़ाँ की सेना चांदा के

---

[४]जय० अख़०, औरं०, २७, पृ० १२६।

यह रामगढ़ सूबा बरार में स्थित सुप्रसिद्ध रामगढ़ क़िला ही होगा। आईन०, २, पृ० २२८, २३०; इण्डिया०, पृ० lxxix, ५०, १४४। किस वर्तमान ज़िले में यह क़िला तब होगा, यह बताना कठिन है। सम्भवतः मध्य-प्रदेश के अन्तर्गत २२° ७′ उत्तर ८१° पूर्व में स्थित मण्डला ज़िले का रामगढ़ शहर ही हो, किन्तु वहाँ अब कोई भी क़िला नहीं रह गया है।

सन् १७०५ ई० में अली मर्दान ख़ाँ हैदराबादी इसी रामगढ़ क़िले का क़िलेदार

पास पहुँची; शिवसिंह और उसके सैनिक भी एतकाद ख़ाँ के साथ थे। नवम्बर १० को रामसिंह ने एतक़ाद ख़ाँ के साथ युद्ध किया जिसमें रामसिंह की हार हुई और वह भागकर शेरगढ़ की तरफ़ पहाड़ों में जा छिपा।[६] विजयी शाही सेना नवम्बर १५ को चान्दा जा पहुँची। वहाँ किशनसिंह को राजा बनाकर एतक़ाद ख़ाँ ने शाही टाँका निश्चित किया। नवम्बर १९ को रामसिंह तीन साथियों को लेकर चान्दा आ पहुँचा और किले के अंदर घुसने का प्रयत्न किया किन्तु पहरेवालों ने उसे मार डाला।[७] चान्दा से लौट कर एतक़ाद ख़ाँ शाही दरबार में अहमदनगर आया। शिवसिंह भी उसके साथ था। एतक़ाद ख़ाँ के साथ ही शिवसिंह भी दिसम्बर २७, १६८४ ई० को औरंगज़ेब के सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने नौ मोहरें नज़र कीं।[८] चांदा की इस चढ़ाई में शिवसिंह ने शाही सेना की बहुत-कुछ सहायता की थी, एवं उससे प्रसन्न होकर दिसम्बर २९, १६८४ ई० को शिवसिंह के मनसब में एक सौ ज़ात—५० दो-अस्पा सवारों की वृद्धि की गई, जिससे अब शिवसिंह का

था, एवं उसके मरने के बाद उसी के पुत्र मुहम्मद रजा को यह क़िलेदारी मिली। मा० आ०, पृ० ५१६; मा० उ०, २, पृ० ८२५।

[५]मा० आ०, पृ० २३६; जय० अख़०, औरं०, २७, पृ० ८६, १५१, १५७; औरंग०, ५, पृ० ४०६।

[६]अख़बारों के अनुसार यह युद्ध नवम्बर १० (१२ ज़िल्हिज) को हुआ; जय० अख़०, औरं०, २८ (१), पृ० २३७, २३६। किन्तु मा० आ० (पृ० २५०) के अनुसार यह युद्ध नवम्बर २ (४ ज़िल्हिज) को हुआ था; औरंग०, ५, पृ० ४०७।

[७]जय० अख़०, औरं०, २८(१), पृ० २३७, २६५; मा० आ०, पृ० २५०; औरंग०, ५, पृ० ४०७।

[८]जय० अख़०, औरं०, २८ (१), पृ० ३४५-६।

मनसब सात सौ ज़ात–छः सौ दो-अस्पा सवारों का हो गया।[9]

चांदा की चढ़ाई के समय शिवसिंह एवं उसके सैनिकों की गिनती एतक़ाद खाँ की सेना में हो रही थी। दिसम्बर २९, १६८४ ई० को औरंगज़ेब ने आज्ञा दी कि शिवसिंह एवं उसके सैनिक अब ग़ाज़ीउद्दीन ख़ाँ की सेना में नियुक्त किए जावें, और वह तत्काल ही शिवापुर* के ख़ज़ाने के सैनिकों को अपने साथ ले जावे।[10] ग़ाज़ीउद्दीन इस समय राइरी (रायगढ़) क़िले को जीतने का प्रयत्न कर रहा था।[11] शिवसिंह अहमदनगर से रवाना होने भी न पाया था कि दूसरे ही दिन (दिसम्बर ३०, १६८४ ई०) औरंगज़ेब ने आज्ञा दी कि शिवसिंह ग़ाज़ीउद्दीन के पास न जावे, किन्तु अहमदनगर में ही शाही सेना के साथ रहे। इस प्रकार औरंगज़ेब के साथ ही रहने की आज्ञा पाने पर शिवसिंह ने औरंगज़ेब की सेवा में उपस्थित होने की प्रार्थना की। शिवसिंह पीढ़ियों से शाही मनसबदार तथा रतलाम राज्य का अधिकारी था, एवं औरंगजेब ने उसे अपने सैनिक हथियारों के साथ दीवान-इ-ख़ास (जिसे प्रायः गुस्लख़ाना भी कहते थे) में आने की आज्ञा दे दी।[12]

---

[9] जय० अख़०, औरं०, २८ (१), पृ० ३५६-३६०।

[10] जय० अख़०, औरं०, २८ (१), पृ० ३५६।

शिवापुर—पूना से कोई १४ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित एक गाँव था, जो राइरी (रायगढ़) की राह में पड़ता था। औरंग०, ४, पृ० २६५।

[11] मा० आ०, पृ० २४८-२४९, २५२; औरंग०, ४, पृ० ३५६।

[12] जय० अख़०, औरं०, २८ (१), पृ० ३६०, ३६५।

अकबर का दीवान-इ-ख़ास उसके ग़ुसलख़ाने (स्नानागार) से लगा हुआ था, एवं तब से अख़बारों, पत्रों एवं अन्य सरकारी काग़ज़ों में भी दीवान-इ-ख़ास का उल्लेख करते समय उसे 'ग़ुसलख़ाना' ही लिखते रहे हैं। सर यदुनाथ सरकार कृत 'स्टडीज़ इन मुग़ल इण्डिया', पृ० ६, फु० नो०।

सन् १६८३ ई० में जब शिवसिंह गद्दी पर बैठा तब उसके राज्य पर बीस हज़ार रुपये से भी अधिक क़र्ज़ा हो रहा था। गद्दी पर बैठने के दूसरे साल ही वह शाही सेना में सम्मिलित होने के लिए दक्षिण चला गया, और उसकी अनुपस्थिति में रतलाम राज्य की आर्थिक परिस्थिति सुधारने के लिए विशेष प्रयत्न नहीं किया जा सका। इधर सन् १६८३-८४ ई० में फ़सलें भी बहुत अच्छी नहीं हुईं, एवं सारे प्रयत्न किए जाने पर भी उक्त बीस हज़ार में से केवल पाँच हज़ार रुपये वसूल हो पाए थे। बाकी रहे रुपयों की वसूली के लिए मालवा सूबे के दीवान ने सन् १६८४ ई० के अन्तिम महीनों में पुनः ताकीद की। क़रज़े के रुपये चुकाने का ठीक प्रबन्ध न हो सकने की हालत में वह राज्य के कुछ भागों पर शाही अधिकार करने की भी सोच रहा था। अतएव शिवसिंह ने जनवरी २८, १६८५ ई० को एक प्रार्थना-पत्र द्वारा औरंगजेब से निवेदन किया कि उस वर्ष भी केवल पाँच हज़ार रुपए ही वसूल किए जाने का हुक्म हो।

इसी प्रार्थना-पत्र में शिवसिंह ने यह भी चाहा था कि तनख्वाह के बदले में उसे बदनावर का परगना व्यक्तिगत रूपेण दे दिया जावे। दिसम्बर २९, १६८४ ई० को शिवसिंह के मनसब में वृद्धि हुई थी, जिसके फलस्वरूप उसकी व्यक्तिगत जागीर में वृद्धि होती, किन्तु दिसम्बर ३०, १६८४ ई० की आज्ञानुसार शिवसिंह की नियुक्ति औरंगजेब के साथ रहने वाले सैनिक दल में हो गई थी, एवं नियमानुसार उसे मनसब की वृद्धि के लिए नई जागीर न मिल कर नक़द तनख्वाह ही मिलने वाली थी। किन्तु शिवसिंह इस नकद तनख्वाह के बदले नई व्यक्तिगत जागीर प्राप्त करने के लिए उत्सुक था। बदनावर का परगना रतलाम राज्य से लगा हुआ ही था, तथा पहिले भी रतनसिंह और रामसिंह के अधिकार में रह चुका था, एवं उसी परगने

को पुनः अपने अधिकार में करने के लिए शिवसिंह का प्रयत्नशील होना स्वाभाविक ही था।

औरंगज़ेब नें इस प्रार्थना-पत्र पर हुक्म दिया कि इन दोनों प्रश्न सम्बन्धी विशेष बातें वज़ीर जुमदतुलमुल्क असद खाँ औरंगज़ेब की सेवा में निवेदन करे।[१३] शिवसिंह की इन प्रार्थनाओं पर औरंग-ज़ेब की अन्तिम आज्ञा क्या हुई इसका कोई भी विवरण नहीं मिलता है।

२. दक्षिणी युद्धों में शिवसिंह का सम्मिलित होना; औरंगज़ेब की अप्रसन्नता एवं शिवसिंह की मृत्यु (सन् १६६१ ई०)

शिवसिंह मार्च, १६८५ ई० तक औरगज़ेब की निजी सेवा में शाही सेना के साथ अहमदनगर में बना रहा, किन्तु उसके कुछ ही काल बाद उसकी वहाँ से वदली हो गई। कुछ वर्षों से औरंगज़ेब तथा वीजापुर के सुलतान आदिल शाह के वीच मनमुटाव निरन्तर वढ़ता जा रहा था। औरंगज़ेब चाहता था कि शंभाजी के विरुद्ध लड़ने वाली शाही सेना को आदिल शाह भी पूरी-पूरी मदद करे परन्तु आदिल शाह तो मुग़लों के विरुद्ध शंभाजी की सहायता कर रहा था। सन् १६८५ ई० के प्रारम्भ में मुग़लों और आदिल शाह के वीच लड़ाई छिड़ गई तथा मार्च महीने में मुग़ल सेनाएँ बीजापुर के पास तक जा पहुँचीं।[१४]

---

[१३] जय० अख़॰, औरं०, २८ (२), पृ० १३-१४; इर्विन०, पृ० १४-१५।

[१४] बसातीन०, पृ० ५३३-४; मा० आ०, पृ० २५५-२५६; औरंग०, ४, पृ० ३६४-३७१।

बीजापुर के विरुद्ध सेना भेजने के लिए मार्च, १६८५ ई० के प्रारम्भ से ही तैयारियाँ होने लगीं। रुहेल्ला ख़ाँ के सेनापतित्व में एक बड़ी मुग़ल सेना भेजने का निश्चय हुआ, और मार्च १४ को औरंगज़ेब ने हुक्म दिया कि शिवसिंह एवं उसके सैनिक भी रुहेल्ला ख़ाँ की सैना के साथ बीजापुर भेजे जावें। किन्तु मार्च १६ को जब रुहेल्ला ख़ाँ शाही सेना के साथ अहमदनगर से रवाना हुआ तब औरंगज़ेब ने शिवसिंह को रुहेल्ला ख़ाँ के साथ न जाने दिया, एवं मार्च २१, १६८५ ई० को हुक्म दिया कि शिवसिंह का नाम एतक़ाद ख़ाँ के सेनापतित्व में रहने वाली सेना के साथ रखा जावे, तथा आगामी एक माह तक शिवसिंह ग़ज़नफ़र ख़ाँ के साथ ही रहे।[15] इस समय एतक़ाद ख़ाँ पारनेर और संगमनेर के प्रदेश में मरहठे आक्रमणकारियों का सामना कर उन्हें मार भगाने में लगा हुआ था।[16] गज़नफ़र ख़ाँ भी इस समय अहमदनगर में न था एवं औरंगज़ेब की आज्ञानुसार शिवसिंह को ग़ज़नफ़र ख़ाँ के पास जाना पड़ा होगा।[17] वह ग़ज़नफ़र ख़ाँ के पास गया या नहीं, एवं उसके साथ एक माह रहने के बाद शिवसिंह को कहाँ जाने का हुक्म मिला, इसका कोई विवरण नहीं मिलता है। यह बात निश्चित रूपेण अवश्य कही जा सकती है कि शिवसिंह एतक़ाद ख़ाँ की सेना में तो सम्मिलित नहीं हुआ।[18]

---

[15]जय० अख़्०, औरं०, २८ (२), पृ० १५५, १८२; मा० आ०, पृ० २५४।

[16]मा० आ०, पृ० २५२।

[17]अप्रेल २, १६८५ ई० को अहमदनगर से एक शाही दूत भेजे जाने पर ही गज़नफ़र ख़ाँ अप्रेल ७ को शाही दरबार में पहुँचा। जय० अख़्०, औरं०, २८ (२), पृ० २३१, २४६।

[18]एतक़ाद ख़ाँ मई २४, १६८५ ई० को जफ़राबाद भेजा गया था और अक्तूबर १०, १६८५ ई० को इन्दी भेजे जाने तक वह वहाँ ही रहा, किन्तु शिव-

रुहेल्ला ख़ाँ और ख़ान जहाँ बहादुर ने मुग़ल सेना के साथ अप्रेल १, १६८५ ई० को बीजापुर का घेरा डाला। युद्ध-क्षेत्र से बहुत दूर न रहने के लिए उत्सुक औरंगज़ेब भी अहमदनगर से अप्रेल २६ को रवाना होकर मई २४ को शोलापुर आगया, और एक साल भर तक यहाँ से ही सेनाओं का संचालन करता रहा। जून १४ को शाहज़ादा आजम भी एक बड़ी सेना के साथ बीजापुर के पास जा पहुँचा और कुछ दिन बाद घेरा डालने वाली शाही सेना में सम्मिलित होकर घेरे का संचालन करने लगा। इसी समय गोलकुण्डा राज्य से भी मुग़ल साम्राज्य की बिगड़ गई थी, एवं शाहज़ादे शाह आलम को ससैन्य गोलकुण्डा पर आक्रमण करने के लिए भेजा जा रहा था। ख़ान जहाँ बहादुर इस समय शोलापुर-बीजापुर राह में इन्दी नामक स्थान पर नियुक्त इस राह को खुली रखने में प्रयत्नशील था। औरंगज़ेब की आज्ञानुसार वह जून २८ को इन्दी से रवाना होकर शाह आलम की सेना में सम्मिलित हो गया। रुहेल्ला ख़ाँ की भी नियुक्ति अहमदनगर हो गई एवं बीजापुर से रवाना होकर जुलाई १५ को वह शोलापुर पहुँचा। जुलाई १९ को औरंगज़ेब ने शाहज़ादे शाह आलम और उसके पुत्र बेदार बख़्त को कुछ वस्तुएँ उपहार-स्वरूप भेजीं।[१९] इन्हीं तीन महीनों में शिवसिंह और उसके सैनिक भी बीजापुर के घेरे में भाग लेने को वहाँ भेज दिए गए थे।[२०]

सिंह एतक़ाद ख़ाँ से कई मास पहिले ही बीजापुर पहुँच गया था। मा० आ०, पृ० २५९, २६६; औरंग०, ४, पृ० ३८२; मेहता०, अगस्त ३०, १६८५ ई० का पत्र।

[१९] मा० आ०, पृ० २५५-६, २५८, २५९-२६०, २६१; बसातीन०, पृ० ५३६; औरंग०, ४, पृ० ३७४, ३७५, ३७६, ४०८।

[२०] मेहता०; शिवसिंह ने रविवार, अगस्त ३०, १६८५ ई० (भाद्रपद

बीजापुर का घेरा चलता ही गया, और खान जहाँ बहादुर के इन्दी से रवाना होने के बाद शोलापुर-बीजापुर राह खुली न रह सकी। खाने-पीने का सामान लाने में निरन्तर कठिनाइयाँ होने लगीं और बीजापुरी सैनिक राह रोक कर युद्ध भी करने लगे, जिससे बीजापुर के आस-पास दुर्भिक्ष पड़ गया, और वहाँ का घेरा डालने वाली सारी शाही सेना भूखों मरने लगीं। शाहज़ादा आज़म के साथ ही साथ शिवसिंह को भी ये सारी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। अपने पुत्र एवं शाही सेना को बचाने के लिए उत्सुक औरंगज़ेब ने आज़म को कहला भेजा कि वह अपनी सारी सेना के साथ बीजापुर से लौट आवे, किन्तु आज़म ने बीजापुर से लौटना स्वीकार न किया और उन सारी कठिनाइयों के होते हुए भी वहीं डटा रहा।[२१]

तब तो औरंगज़ेब ने विवश होकर ग़ाज़ीउद्दीन फ़िरोज़ जंग के सेनापतित्व में एक बड़ी सेना एकत्रित की और खाने-पीने का बहुत सा सामान लेकर उसे अक्तूबर ४, १६८५ ई० को शोलापुर से रवाना किया। बीजापुर से कोई तीस मील (भीमसेन के कथनानुसार केवल १२ मील ही) की दूरी पर शर्ज़ा खाँ के नेतृत्व में बीजापुरी सेना ने फ़िरोज़ जंग की राह रोकी, और उसके साथ का कुछ सामान भी लूट ले गए, किन्तु अन्त में फ़िरोज़ जंग ने उन्हें मार भगाया। यों लड़ता-भिड़ता खाद्य सामग्री लेकर जब फ़िरोज़ जंग आज़म से जा मिला, तब तो वहाँ सेना में दुर्भिक्ष का अन्त हो गया। शोलापुर-बीजापुर राह को खुली रखना अत्यावश्यक था एवं अक्तूबर

शुक्ला ३०, सं० १७४२ वि०) को एक पत्र बीजापुर से लिखा था।

[२१] **मा० आ०, पृ० २६१, २६३-४; भीम०, १, पृ० १६८; बसातीन०, पृ० ५३६; औरंग०, ४, पृ० ३७६-३८१।**

१०, १६८५ ई० को एतक़ाद ख़ाँ इन्दी का थानेदार नियुक्त कर वहाँ भेजा गया। इन्दी और बीजापुर के बीच में नागथाणा नामक स्थान में भी कुछ सेना रखना आवश्यक जान पड़ा, अतएव वहाँ शिवसिंह और उसके सैनिकों को नियुक्त किया गया।[२२]

किन्तु बीजापुर के घेरे का जल्द ही अन्त न हुआ। सवा साल के घेरे के बाद भी जब बीजापुर पर अधिकार होता न देख पड़ा, तब तो औरंगज़ेब स्वयं ससैन्य जुलाई ३, १६८६ ई० को बीजापुर जा पहुँचा और वह शाहज़ादे शाह आलम को भी, जो तब तक गोल-कुण्डा से लौट आया था, अपने साथ लेता आया। अन्त में रविवार, सितम्बर १२, १६८६ ई० को अन्तिम आदिल शाही सुलतान ने आत्म-समर्पण कर दिया, और बीजापुर पर मुग़ल सेना का अधिकार हो गया।[२३] बीजापुर के इस सारे घेरे के समय शिवसिंह नागथाणे में ही रहा, बीजापुर चला आया था या और कहीं भेज दिया गया था, इसका कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है।

इस प्रकार जब शिवसिंह सुदूर दक्षिण में शाही सेना के साथ

---

[२२] मा० आ०, पृ० २६५-६; भीम०, १, पृ० १६६; ख़फ़ी०, २, पृ० ३१७; औरंग०, ४, पृ० ३८१-२। मेहता०; शिवसिंह ने बुधवार, नवम्बर १८, १६८५ ई०. (मार्गशीर्ष, शुक्ला २, सं० १७४२ वि०) को एक पत्र नागथाणा से लिखा था।

नागथाणा—१६° ५६′ उत्तर ७५° ५१′ पूर्व में स्थित है। यह स्थान बीजापुर से ११ मील उत्तर-पूर्व एवं इन्दी से १६ मील दक्षिण-पश्चिम में है। भीम०, १, पृ० ५६, १६६।

[२३] मा० आ०, २७६-७, २७८, २७६-८०; ईश्वर०, प० १०० अ-१०४ ब; भीम०, १, पृ० २००-२०३; बसातीन०, पृ० ५३७-५४०; औरंग०, ४, पृ० ३८३-३८६।

बीज़ापुर जीतने के प्रयत्न में लगा हुआ था, मालवा में रतलाम राज्य का शासन-प्रबन्ध सांचोरा चौहान भगवानदास के ज्येष्ठ पुत्र मानसिंह के हाथ में था। सांचोरा चौहान अमरदास का चौथा लड़का माधोसिंह एवं मेहता नाथा राज्य कार्य में मानसिंह की पूरी-पूरी सहायता कर रहे थे।[२४] ये नियुक्तियाँ बहुत करके सन् १६८९ ई० के प्रारम्भ तक रहीं जब ये सब अलग कर दिए गए, और उनके स्थान पर सांचोरा चौहान मानसिंह का दूसरा छोटा भाई पृथ्वीराज प्रधान मन्त्री बना और सहरूप नामक एक और कर्मचारी उसका सहकारी नियुक्त किया गया।[२५] राज्य-कर्मचारियों में ये परिवर्तन क्यों किए गए यह

---

[२४]मेहता०, अगस्त ३०, एवं नवम्बर १८, १६८५ ई० को लिखे गए पत्र। ये नियुक्तियाँ शिवसिंह के गद्दी बैठने के समय सन् १६८३ ई० में ही हुई थीं या बाद में, यह कहना कठिन है; परन्तु अनुमान यही होता है कि सन् १६८३ ई० में ही ये नियुक्तियाँ हुई होंगी।

सांचोरा चौहान मानसिंह सन् १६९३ ई० में मर गया (पंचेड़ ठिकाने का इतिहास, पृ० ७३)। उसके ज्येष्ठ पुत्र सुरताणसिंह या सुलतानसिंह को सन् १७०२ ई० के बाद वर्तमान पंचेड़ ठिकाना छत्रसाल ने दिया।

सांचोरा चौहान माधोसिंह, वीर अमरदास का चौथा पुत्र था। वह पहिले रामसिंह और बाद में उसी के पुत्रों की सेवा करता रहा। केशवदास के अधिकार से जब रतलाम परगना चला गया तब भी माधोसिंह ने केशवदास का साथ न छोड़ा। सीतामऊ राज्य की स्थापना पर केशवदास ने उसे जागीर प्रदान की। सीतामऊ राज्य के अन्तर्गत दीपाखेड़ा और मोरखेड़ा ठिकाने आज भी माधोसिंह के वंशजों के अधिकार में हैं। मेहता नाथा के वंशज आज भी विद्यमान हैं और सीतामऊ राज्य के सुप्रतिष्ठित कर्मचारी समझे जाते हैं; मेहता०।

[२५]मेहता०, मई १६, १६८९ ई० को लिखा गया पत्र। सांचोरा चौहान पृथ्वीराज, भगवानदास का तीसरा पुत्र था। पृथ्वीराज के वंशज कई साल पूर्व तक वर्तमान रतलाम राज्य के अन्तर्गत गाँव मातासुला में थे।

निश्चित रूपेण कहा नहीं जा सकता है। इसी समय एक ऐसी घटना अवश्य घटी, जिसका इस परिवर्तन से कोई सम्बन्ध होना सम्भव हो सकता है।

ईश्वरदास लिखता है कि "उज्जैन से सम्राट् के पास यह सूचना पहुँची कि रतलाम के ज़मींदार शिवसिंह के गुमाश्ते ने दो हाथियों को लड़ाया। रतलाम की यह ज़मींदारी उज्जैन सूबे के अन्तर्गत थी। हाथियों की लड़ाई कराना केवल सम्राट् का ही विशेष अधिकार है, एवं ज़मींदार के मनसब में पाँच सौ सवार घटा दिये गये। पुनः असद और अन्य दो गुर्ज़बरदार भेजे गए कि वे उन दोनों हाथियों तथा उस गुमाश्ते को अपने साथ शाही दरबार में पेश करें, जिससे कि उस गुमाश्ते को अपनी इस धृष्टता के लिए उचित दण्ड दिया जा सके।" यह घटना दिसम्बर, १६८८ ई० या जनवरी, १६८९ ई० के लगभग हुई थी।[२६] यह गुमाश्ता कौन था, जिसने इस प्रकार हाथी लड़ा कर अपने स्वामी को औरंगज़ेब का कोपभाजन बनाया, और यों शिवसिंह के मनसब में कमी करवा दी, यह बताना कठिन है, किन्तु इस मूर्खतापूर्ण धृष्टता की बहुत कुछ ज़िम्मेवारी शिवसिंह के तत्कालीन प्रधान कर्मचारी मानसिंह सांचोरा पर ही पड़ती है क्योंकि उसके मन्त्रित्व में ऐसी घटना घटीं। उक्त गुमाश्ता शाही दर-

---

[२६]ईश्वर०, प० १४४ ब-१४५ अ। ईश्वरदास ने अपने ग्रन्थ में विभिन्न घटनाओं के सन्-संवत् नहीं दिए हैं। परन्तु इस विवरण से पहिले एवं बाद में दी गई घटनाओं में से जिनकी तारीखें, अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर निश्चित की जा सकी हैं, उन्हें देखते हुए भी इस घटना का उपर्युक्त समय निश्चित किया गया है।

हाथियों की लड़ाई करवाना एक-मात्र मुग़ल सम्राट् का ही विशेष अधिकार माना जाता था। सम्राट् भी इस बात के लिए बहुत ही जागरूक एवं प्रयत्नशील

बार में ले जाया गया या नहीं, एवं उसे क्या दण्ड मिला, इसका कोई विवरण नहीं मिलता है। इस घटना से सम्बद्ध दोनों हाथी तो शिवसिंह की मृत्यु के बाद तक भी रतलाम ही रहे; अक्तूबर १, १६९१ ई० को उन्हें शाही दरबार में भिजवा देने का पुनः हुक्म हुआ था।[२७]

रतलाम में हाथियों को लड़ाया गया और औरंगज़ेब शिवसिंह के उस उद्दण्ड गुमाश्ता को सज़ा देने के लिए शाही दरबार में दक्षिण बुलवा रहा था। किन्तु शिवसिंह तो दक्षिण में निरन्तर शाही सेवा में बना रहा। सितम्बर, १६८६ ई० में बीजापुर पर मुग़लों का अधिकार हो जाने के बाद शिवसिंह कहाँ रहा, उसने क्या-क्या सेवाएँ कीं और उसका मनसब क्या था इसका कोई भी प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता है। शिवसिंह के बारे में इन बरसों की जो एक-मात्र सूचना मिलती है, वह है उसके राइरी (रायगढ़) होने की।

सितम्बर, १६८७ ई० में गोलकुण्डा को जीत कर औरंगज़ेब मरहठा राजा शम्भाजी के विरुद्ध अपनी सेना संचालित करने लगा।

रहते थे कि उनके इस विशेष अधिकार का उनके शाहज़ादे तक कभी भूल कर भी उपयोग न करें। एक बार जब ससैन्य प्रयाण करते समय शाहज़ादे शाह आलम ने राह में हाथियों को लड़ाया था, तब औरंगज़ेब ने उसे बहुत फटकारा और शाह आलम ने उत्तर में यह हास्योत्पादक सफ़ाई पेश की कि हाथी स्वयं ही लड़ पड़े थे।

सरकार कृत 'मुग़ल एड्मिनिस्ट्रेशन', तीसरा संस्करण, पृ० १४२-५५; सरकार कृत 'एनेक्डोट्स आफ़ औरंगज़ेब', दूसरा संस्करण, पृ० ५९-६०।

[२७] जय० अख०, औरं०, ३५-३६, पृ० १३७।

दिसम्बर, १६८८ ई० में शाहज़ादा आज़म ससैन्य शम्भाजी के विरुद्ध बढ़ा, और पूना के उत्तरी ज़िले में चाकण नामक स्थान पर पड़ाव किया। शैख़ निज़ाम हैदराबादी, जो अब मुक़र्रब ख़ाँ कहलाता था, पन्हाला के क़िले का घेरा डालने के लिए भेजा गया। इसी समय एतक़ाद ख़ाँ को भी एक बड़ी सेना के साथ राइरी (रायगढ़) क़िला जीतने के लिए रवाना किया। एतक़ाद ख़ाँ के साथ शिवसिंह और उसके सैनिक भी भेजे गए।[२८]

मुक़र्रब ख़ाँ ने बड़ी चतुराई से फ़रवरी १, १६८९ ई० को शम्भाजी को पकड़ कर क़ैद कर लिया। तब तो फ़रवरी ८ को मरहठे नेताओं ने शम्भाजी के सौतेले छोटे भाई राजाराम को, जो शम्भाजी की आज्ञा से क़ैद था, छुड़ाया और उसे रायगढ़ में मरहठों की राजगद्दी पर बिठाया। औरंगज़ेब ने इधर मार्च ११ को भीमा के तीर पर कोरेगाँव में शम्भाजी को मरवा डाला। एतक़ाद के सेनापतित्व में जो सेना रायगढ़ के विरुद्ध भेजी गई थी, वह अब तेजी से उस ओर बढ़ी और उस क़िले को जा घेरा। शिवसिंह और उसके सैनिक भी एतक़ाद ख़ाँ की सेना के साथ थे। शाही सेना की सारी सावधानता के होते हुए भी अप्रेल ५, १६८९ ई० को राजाराम योगी का भेष बना कर रायगढ़ से निकल भागा। राजाराम के भाग जाने से औरंगज़ेब का प्रधान विरोधी रायगढ़ में न रह गया, फिर भी एतक़ाद ख़ाँ क़िले को घेरे ही रहा और अन्त में अक्तूबर १९, १६८९ ई० को उस पर अधिकार कर लिया।[२९]

---

[२८] मा० आ०, पृ० ३१६, ३२६, ३२०; औरंग०, ४, पृ० ४५२, ४८१, ४७५-६, ४८१; मेहता०।

[२९] मा० आ०, पृ० ३२०-३२२, ३२५, ३२७, ३३१; ख़फ़ी०, २, पृ० ३८६,

शिवसिंह के शासनकाल का जो अन्तिम पत्र मिलता है, वह मई १६, १६८९ ई० (गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ला ८, सं० १७४६ वि०) का है। उस समय शिवसिंह राइरी (रायगढ़) क़िले के घेरे में भाग ले रहा था।[30] उसके बाद शिवसिंह कब तक जीवित रहा यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। ख्यातों और पुरानी पोथियों में शिवसिंह की मृत्यु के जो सन्-संवत दिए हैं वे सर्वथा ग़लत हैं।[31] एवं जो कुछ भी दूसरी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्य है उसी के आधार पर शिवसिंह की मृत्यु का सन्-संवत् निश्चित करना पड़ता है। ऊपर जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट है कि शिवसिंह की मृत्यु मई १६, १६८९ ई० के बाद ही हुई होगी। पुनः शिवसिंह के उत्तराधिकारी, उसके छोटे भाई, केशवदास सम्बन्धी जो विवरण अख़बारों में मिलता है उससे ज्ञात होता है कि सितम्बर १८, १६९१ ई० के दिन केशवदास रतलाम का शासक था। पुनः शिवसिंह के हाथियों सम्बन्धी अक्तूबर १, १६९१ ई० के अख़बार में शिवसिंह को मृत

३८६; ईश्वर०, प० १५२ अ-१५४ अ; भीम०, २, प० ६६ ब-६७ ब; मेहता०; औरंग, ४, पृ० ४७६-४८२।

[30]मेहता०।

[31]गुरूजी, राणी० और कुछ बड़वों की ख्यातों के अनुसार शिवसिंह की मृत्यु सं० १७४५ वि० में (मार्च ११, १६८९ ई० से पहिले) हो गई थी। एक बड़वे की ख्यात में तो आसोज सु० ७, सं० १७४५ वि० (बुधवार, सितम्बर ११, १६८८ ई०) को केशवदास के गद्दी बैठने का भी उल्लेख मिलता है। इन्हीं सारे कथनों के आधार पर रतन० में सं० १७४५ वि० में ही शिवसिंह की मृत्यु होना लिखा है।

कहीं-कहीं शिवसिंह की मृत्यु का सन् १६८४ ई० (सं० १७४१ वि०) में होना बताया जाता है। सीतामऊ० (पृ० ७) में न जाने किस प्रकार इसी सन्

लिखा है।[३२] इससे यह बात निर्विवाद हो जाती है कि सितम्बर, १६९१ ई० से पहिले ही शिवसिंह की मृत्यु हो चुकी थी।

आवश्यक ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में यह निश्चित करना कि अप्रेल १६८९ के बाद और सितम्बर १६९१ ई० से पहिले इन २९ माह के लम्बे काल में शिवसिंह कब मरा, सम्भव नहीं। किन्तु शिवसिंह के हाथियों सम्बन्धी अखबार से इतना अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि शिवसिंह की मृत्यु सन् १६९१ ई० के प्रारम्भिक (सं० १७४७ वि० के अन्तिम) महीनों में हुई होगी। शिवसिंह की मृत्यु तथा केशवदास के गद्दी बैठने का विवरण जब सर्वत्र ज्ञात हुआ तब ही शिवसिंह के ज़ब्त किए जाने वाले दोनों हाथियों का प्रश्न पुनः उठा और उन्हें रतलाम से शाही दरबार में मँगवाने का प्रबन्ध होने लगा। इन सब बातों में पाँच-छः माह लग जाना स्वाभाविक ही जान पड़ता है। अतएव अनुमान यही होता है कि शिवसिंह की मृत्यु फ़रवरी-मार्च, सन् १६९१ ई० के लगभग हुई होगी।

बड़वों की पोथियों मे लिखा है कि शिवसिंह दक्षिण में काम आया। यह युद्ध कहाँ हुआ था, कब हुआ था और किसके विरुद्ध हुआ था, इन प्रश्नों का कोई भी उत्तर उन पोथियों में नहीं मिलता है। अतएव आवश्यक विवरण के अभाव में इस युद्ध के बारे में कोई भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। केवल यही कह सकते

को सही माना है, और उसी आधार पर रेऊ ने भी इसी सन् को स्वीकार किया है (प्राचीन०, ३, पृ० ३६५)।

किन्तु प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर जो विवरण ऊपर दिया है उससे ये दोनों ही सन्-संवत् गलत प्रमाणित हो जाते हैं।

[३२]जय० अख़०, औरं०, ३५-३६, पृ० ८, ३७।

हैं कि दक्षिण में ही किसी युद्ध में शिवसिंह मारा गया ।[१३]

इस प्रकार अठारह वर्ष की अवस्था में ही अपने पूर्वजों के समान शिवसिंह भी खेत रहा। वह केवल इग्यारह वर्ष की उमर में रतलाम राज्य का अधिकारी बना और उसके कुछ ही माह बाद वह सीधा शाही सेवा में दक्षिण जा पहुँचा, जहाँ वह मृत्यु पर्यन्त छः-साढ़े छः वर्ष तक निरन्तर बना रहा। इस थोड़े समय में ही उसको शाही दरबार में पर्याप्त सम्मान तथा महत्त्व प्राप्त होने लगा था। उसकी अनुपस्थिति में घटने वाली, हाथियों की लड़ाई की दुर्घटना से शिवसिंह को बहुत हानि हुई होगी, परन्तु उसके लिए वह व्यक्तिगत रूपेण उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता था, अतएव सम्भव था कि यदि जीवित रहता तो वह जल्द ही अपने पिछले मनसब को पुनः प्राप्त कर लेता तथा उसमें और भी वृद्धि होती।

शिवसिंह को मुग़ल साम्राज्य की ओर से 'राजा' या इसी प्रकार का कोई भी दूसरा ख़िताब नहीं मिला था। अख़बारों में सिर्फ़ उसका नाम ही लिखा है, उसके साथ कोई भी खिताब नहीं दिया गया। ईश्वरदास ने तत्कालीन प्रचलित तरीक़े के अनुसार उसका उल्लेख करते समय 'रतलाम परगने का ज़मींदार' शब्द लिखे हैं।[१४] किन्तु उसके समय के जो तीन पत्र प्राप्त हुए हैं उनमें उसने स्वयं को 'महाराजाधिराज महाराज' लिखा है।[१५]

---

[१३]बड़वों की पोथियां। गुरूजी० और राणी० में शिवसिंह के बाद केशवदास के गद्दी पर बैठने का ही उल्लेख है। शिवसिंह कहाँ मरा और किस प्रकार उसकी मृत्यु हुई, इन बातों का उन दोनों में ही कोई खुलासा नहीं किया गया है।

[१४]ईश्वर०, प० १४४ ब।

[१५]मेहता०।

शिवसिंह का एक विवाह हुआ था,[३६] किन्तु उसके कोई पुत्र न हुआ। अतएव शिवसिंह के बाद उसका सौतेला भाई, केशवदास, उसका उत्तराधिकारी एवं रतलाम का शासक बना।

---

[३६] शिवसिंह की यह रानी कहाँ की थी इस बारे में मतभेद पाया जाता है। गुरूजी० के अनुसार वह जेसलमेर की भटियाणी थी एवं उसका नाम जस कुंअर था। राणी० तथा बड़वों की पोथियों में उसे नरवर के सुप्रसिद्ध राजा अमरसिंह (मा० उ०, २, पृ० २२६-८) के पुत्र राजा अनूपसिंह की पुत्री होना लिखा है, जो अधिक विश्वसनीय जान पड़ता है। राणी० में उसका नाम नवरंग दे कुंअर दिया है, और बड़वों के अनुसार उसका नाम सुख दे कुंअर था।

केशवदास

अध्याय ७

केशवदास

(१६६१-१६६४ ई०)

१. केशवदास का प्रारम्भिक जीवन; उसके रतलाम की गद्दी पर बैठना तथा दक्षिण में उसकी सेवाएँ; अमीन-इ-जज़िया का रतलाम में मारा जाना एवं रतलाम राज्य का अन्त; १६६१—जून, १६६४ ई०

शिवसिंह के कोई पुत्र न था, एवं उसकी मृत्यु पर उसका छोटा सौतेला भाई, केशवदास, शिवसिंह का उत्तराधिकारी बन कर रतलाम का शासक बना। उम्र में केशवदास शिवसिंह से कोई दो वर्ष के लगभग छोटा था। रामसिंह की जैसलमेर वाली रानी मनसुख दे कुँअर भटयाणी ने सन् १६७४ ई० (सं० १७३१ वि०) में केशवदास को जन्म दिया था।[1] इस प्रकार पिता की मृत्यु के समय केशवदास की उम्र कोई ९-१० वर्ष की ही थी। परन्तु केशवदास बाल्यकाल से ही निडर, साहसी और चंचल प्रकृति का था। पिता की मृत्यु के कुछ ही समय बाद स्वतन्त्र जीविका उपार्जन के उद्देश्य से केशवदास रतलाम से चल दिया।

---

[1] गुरुजी०; राणी०; बड़वों की ख्यातें। कुछ ख्यातों के अनुसार केशवदास का जन्म कार्तिक विदि २, सं० १७३१ वि०=गुरुवार, अक्तूबर ६, १६७४ ई० को हुआ था। जय० अख़०, औरं०, २८, पृ०\१३-१४।

केशवदास रतलाम से बाहर जाने की सोच रहा था, उन्हीं दिनों (अप्रेल-मई, १६८३ ई०) दुर्जनसिंह हाड़ा, बूंदी पर बलपूर्वक अपना अधिकार जमाए, उस प्रदेश में उपद्रव मचा रहा था। उस प्रदेश की इस अराजकतापूर्ण परिस्थिति से लाभ उठाने के उद्देश्य से केशवदास ने बूंदी की राह ली। परन्तु बहुत करके उसके बूंदी पहुँचने से पहिले ही औरंगज़ेब की आज्ञानुसार मुग़ल सेनापति मुग़ल ख़ाँ ने बूंदी पहुँच कर दुर्जनसिंह को वहाँ से मार भगाया था (जुलाई, १६८३ ई०)।[1]

योगायोग से इसके कुछ ही माह बाद चांदा में वहाँ का पदच्युत राजा रामसिंह विद्रोह की तैयारी करने लगा (अक्तूबर, १६८३ ई०)। अपना भाग्य आज़माने के उद्देश्य से केशवदास बूंदी से चांदा जा पहुँचा, किन्तु वहाँ भी भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। नवम्बर, १६८४ ई० में एतक़ाद ख़ाँ ने चांदा पहुँच कर विद्रोही रामसिंह के उपद्रव का अन्त कर दिया। एतक़ाद ख़ाँ के साथ केशवदास का बड़ा भाई शिवसिंह भी चांदा गया था।[2] बहुत करके इसी अवसर पर चांदा या वहीं कहीं केशवदास से मिल कर शिवसिंह ने उसे इस प्रकार यत्र-तत्र मारे-मारे न फिरने की सलाह दी। अराजकता से स्थायी लाभ उठाने में कठिनाइयाँ तथा ऐसे लाभों की अस्थिरता व्यक्त कर शिवसिंह ने केशवदास को शाही सेना में सम्मिलित होने के लिए राज़ी कर लिया।

---

[1] मा० आ०, पृ० २२६, २२७, २३५; वंश०, ३, पृ० २८७३-२८८३; औरंग०, ५, पृ० २७७।

[2] मा० आ०, पृ० २३६, २५०; जय० अख़०, औरं०, २८ (१), पृ० २३७, २३६, २६५, ३४५-६; औरंग०, ५, पृ० ४०६-७। विशेष विवरण के लिए पहिले देखो, 'अध्याय ६-§१ चांदा पर चढ़ाई'।

अतएव चांदा की इस चढ़ाई से लौटने के बाद जब शिवसिंह को औरंगज़ेब की सेवा में अहमदनगर रहने का अवसर मिला तब जनवरी, २८ १६८५ ई० को शिवसिंह ने औरंगज़ेब की सेवा में निवेदन करवाया--"मेरा सौतेला भाई केशवदास एक-डेढ़ साल से बूंदी और चांदा में मारा-मारा घूम रहा है। शाही सेना में मनसब प्रदान किए जाने के लिए केशवदास की प्रार्थना है।" औरंगज़ेब नें इस प्रार्थना को स्वीकार कर आज्ञा दी कि शाही सेना में सम्मिलित होनें के लिए केशवदास शाही दरबार में उपस्थित होवे।[४] शिवसिंह ने केशवदास को अहमदनगर आने के लिए कहला भेजा। मार्च, १६८५.ई० के अन्तिम दिनों में केशवदास अहमदनगर आ पहुँचा और अप्रेंल १, १६८५ ई० को दरबार में औरंगज़ेब कें सामनें उपस्थित होकर उसने शाही सेवा स्वीकार की, तथा एक मोहर और नौ रुपयें औरंगज़ेब की सेवा में नज़र किए, किन्तु औरंगज़ेब ने केशवदास की इस नज़र कों स्वीकार नहीं किया।[५] इस प्रकार अपनें बड़ें भाई कें जीवन-काल में ही केशवदास शाही मनसबदार बन कर मुग़ल सेना में सम्मिलित हो गया था। किन्तु इस समय केशवदास का मनसब क्या था, इन प्रारम्भिक वर्षों में उसे क्या कार्य सौंपा गया था अथवा वह कहाँ किस सेंनापति के साथ कब तक रहा, इन बातों का कोई विवरण नहीं मिलता है।

शिवसिंह की जब मृत्यु हुई, तब उसी के समान केशवदास भी सुदूर दक्षिण में शाही सेना के साथ शाही सेवा में रत था। शिवसिंह की मृत्यु होने पर केशवदास उसका उत्तराधिकारी बन कर रतलाम

---

[४] जय० अख़०, औरं०, २८ (२), पृ० १३-१४।

[५] जय० अख़०, औरं०, २८ (२), पृ० २१८।

का शासक बना। रतलाम राज्य सम्बन्धी सारे अधिकार उसे प्राप्त हुए, और इसी अवसर पर उसे रतलाम परगने के इस राज्य के शासक के अनुरूप मनसब भी मिला जो संभवतः तीन सदी ज़ात–पाँच सौ सवारों का था, जिनमें से चार सौ सवार दो-अस्पा थे।[१] परन्तु केशवदास के लिए यह संभव न था कि वह रतलाम लौट कर वहाँ गद्दी बैठने आदि की सारी रस्मों को पूरा कर सके। मुग़ल साम्राज्य के दृष्टिकोण से इन सारी व्यक्तिगत निजी रस्मों का कोई भी महत्त्व न था, एवं उनके लिए औरंगज़ेब से मालवा जाने के लिए छुट्टी पाना असंभव था; केशवदास ने भी रतलाम लौटना अनावश्यक ही समझा।

राज्य का अधिकार पाने के कुछ ही बाद केशवदास औरंगज़ेब के दरबार में बीजापुर पहुँचा। कुछ दिन शाही सेवा में उपस्थित रहने के बाद केशवदास की नियुक्ति शाहज़ादे आज़म की सेना में की गई, तथा केशवदास को आज़म की सेना तक पहुँचाने के लिए सितम्बर १८, १६९१ ई० को फ़रमान द्वारा गुर्ज़बरदारों की नियुक्ति की गई।[७] आज़म इन दिनों भीमा नदी से लेकर महाराष्ट्र तक के

---

[१]जून, १६६४ ई० में केशवदास का उपर्युक्त मनसब था। अख़० औरं०, ३८, पृ० ५२८, ६६, ५३७। गद्दी बैठने के समय प्राप्त मनसब में तदनन्तर विशेष वृद्धि का न तो कोई उल्लेख ही मिलता है और न इतनी जल्दी मनसब में ऐसी कोई वृद्धि होना सम्भव ही जान पड़ता है, अतएव यही अनुमान होता है कि यह सारा मनसब उसे रतलाम राज्य के साथ ही मिला होगा।

ख्यातों में लिखा है कि जब केशवदास रतलाम का शासक था, तब मालवा सूबे के अन्तर्गत जावरा, चोली महेश्वर और उज्जैन परगनों से भी सायर महसूल वसूल करने का अधिकार उसे प्राप्त था। बढ़ते हुए मनसब की अधिक आय का प्रबन्ध करते समय ही यह अधिकार उसे शाही दरबार से दिया गया होगा।

[७]जय० अख़०, औरं०, ३५-७६, पृ० ८।

सारे प्रदेश में निरन्तर उठने वाले मरहठे विद्रोहों को दबाने का प्रयत्न कर रहा था। सितम्बर मास (सन् १६९१ ई०) में पहिले तो वह पेड़गाँव (बहादुरगढ़) गया और बाद में संताजी घोरपड़े के नेतृत्व में लूट-खसोट करने वाले मरहठों को मार भगाने के उद्देश्य से वह सितारा ज़िले की ओर बढ़ा।[८] इस समय केशवदास आज़म की सेना में सम्मिलित हुआ या नहीं, एवं आज़म के साथ वह कहाँ-कहाँ गया और क्या-क्या किया इसका कोई विवरण नहीं मिलता है। अगर वह इस समय आज़म की सेना में जा पहुँचा था तो बहुत करके जून १६९४ ई० में ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ की सेना में नियुक्त होने से पहिले ही वह आज़म की सेना से लौट कर शाही दरबार में उपस्थित हो गया होगा।[९]

रतलाम की गद्दी पर बैठने के समय केशवदास दक्षिण में ही था, और बाद में भी रतलाम लौट कर अपने राज्य के शासन-प्रबन्ध को देखने भालने का अवसर ही उसे नहीं मिला। शिवसिंह के पिछले वर्षों में रतलाम का जो शासन-प्रबन्ध था उसमें केशवदास ने विशेष परिवर्तन किए होंगे, यह सम्भव नहीं जान पड़ता है। इस समय भी सांचोरा चौहान पृथ्वीराज और सहरूप ही रतलाम में प्रधान

---

[८] जय० अख़०, औरं०, ३५-३६, पृ० ४६।

[९] अख़० औरं०, ३८, पृ० ५२८।

जब कभी किसी भी सेनानायक को एक सेनापति की सेना से दूसरे की सेना में बदला जाता था तब अख़बार में प्रायः दोनों के नाम दिए जाते थे। जून १६, १६९४ ई० के जिस अख़बार में केशवदास की ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ की सेना में नियुक्ति का उल्लेख है उसमें इस बात का कोई ज़िक्र नहीं है कि वह किस सेनापति की सेना में तब तक था, एवं यह अनुमान होता है कि उस समय वह शाही दरबार ही में उपस्थित होगा।

मंत्री थे या दूसरे कोई यह निश्चित रूपेण कहा नहीं जा सकता है ।

शिवसिंह के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों की आर्थिक कठि-नाइयों का विवरण पहिले किया ही जा चुका है। शिवसिंह के समय में भी यह परिस्थिति विशेष रूप से सुधरी होगी ऐसा विश्वास नहीं होता है । पिछले वर्षों में तो हाथी लड़ाने की दुर्घटना के फलस्वरूप जब शिवसिंह का मनसब घटा दिया गया था, तब ये कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ गई होंगी । पुनः शासकों के निरन्तर बाहर रहने से शासन में ढिलाई आ जाना स्वाभाविक ही था । पिछले १२-१३ वर्षों से रतलाम के शासक ससैन्य दक्षिण में ही रहे । अत-एव जहाँ एक ओर अनेकानेक कारणों से राज्य की आमदनी घट रही थी, और आर्थिक परिस्थिति बिगड़ती जा रही थी, वहीं सुदूर दक्षिण में रतलाम के शासक के साथ ही उसकी सेना के भी निरन्तर युद्ध में लगे रहने से राज्य पर आर्थिक भार निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था। इसका अन्त होने की या उसमें कुछ भी कमी की कोई भी सम्भावना न थी । मरहठों के विरुद्ध औरंगज़ेब का युद्ध समाप्त होता नहीं देख पड़ रहा था ।

शिवसिंह की मृत्यु के बाद जब केशवदास गद्दी पर बैठा तो उसका मनसब भी रतलाम के शासक के अनुरूप न्यूनतम दरजे से प्रारम्भ हुआ, जिससे सन् १६९१ ई० में राज्य की कुल आमदनी पुनः घट गई । अतएव केशवदास के शासन-काल के इन प्रारम्भिक वर्षों में रतलाम राज्य की आर्थिक अवस्था बहुत ही बिगड़ गई थी । केशवदास और उसके सैनिकों के लिए दक्षिण में आवश्यक द्रव्य की माँग में किसी भी प्रकार की कमी नहीं हो सकती थी; वहाँ द्रव्य भेजना पूर्णतया आवश्यक था । नतीजा यह होता था कि राज्य की ओर से मुग़ल साम्राज्य को दिए जाने वाले कर आदि सूबे में

स्थित उज्जैन के शाही खज़ाने में ठीक समय पर जमा नहीं कराए जा सकते थे।

अन्य करों के साथ ही साम्राज्य में बसने वाले इस्लाम से इतर अन्य धर्मावलम्बियों पर लगाया हुआ धार्मिक कर 'जज़िया' भी राज्य की ओर से चुकाना पड़ता था। जज़िया वसूल करने में शाही अधिकारी औरंगज़ेब की आज्ञानुसार पूरी-पूरी तत्परता एवं बड़ी ही कड़ाई दिखाते थे। जज़िया वसूल करने में किसी भी प्रकार नरमी दिखाना या कर की निश्चित रक़म में कुछ भी कमी करना सर्वथा अनहोनी बातें थीं।[१०]

सन् १६९४ ई० के अप्रेल मास के पिछले सप्ताहों में[११] रतलाम परगने से जज़िया कर वसूल करने वाला अमीन, नसिरुद्दीन पठान, जब रतलाम पहुँचा तो राज्य की आर्थिक परिस्थिति ठीक न होने के कारण वह जज़िया का कुछ भी रुपया वसूल न कर सका। किन्तु नसिरुद्दीन यों टलने वाला न था। उसने ऐसी किसी तदबीर से काम

---

[१०]यह जजिया कर अकबर ने मार्च, १५६४ ई० में बन्द कर दिया था। अप्रेल २, १६७९ ई० से औरंगजेब ने यह कर पुनः लगा दिया। अकबर०, २, पृ० ३१६; मा० आ०, १७४।

इस कर की दर, इसे वसूल करने सम्बन्धी औरंगजेब की नीति, आदि के विशेष विवरण के लिए देखो—औरंग०, ३, पृ० २६८-२७५।

[११]अमीन-इ-जजिया, नसिरुद्दीन के मारे जाने की तारीख या माह का कहीं भी निश्चित उल्लेख नहीं मिलता है। जून १९, १६९४ ई० को यह समाचार बीजापुर के पास ही गलगला नामक स्थान पर औरंगजेब के पास पहुँचा। ऐसे समाचार भिजवाने में अनावश्यक देरी होना सम्भव नहीं था, एवं मालवा से वहाँ तक खबर पहुँचने में ६-७ सप्ताह से अधिक नहीं लगे होंगे। इसी से यह अनुमान किया गया है कि यह दुर्घटना अप्रेल के अन्तिम सप्ताहों में हुई।

लेने का निश्चय किया जिससे रतलाम राज्य के स्थानीय कर्मचारी कर का पूरा-पूरा रुपया शीघ्र ही चुका दें। ख्यातों में लिखा है कि तीन दिन के निरन्तर प्रयत्न के बाद भी जब नसिरुद्दीन जज़िया वसूल नहीं कर पाया, तब चौथे दिन उसने पानी भरने को पनघट पर जाती हुई राजघराने की दासियों के घड़े छिनवाकर मँगवा लिए। इस समय राजघरानेका कोई भी मर्द व्यक्ति रतलाम में नहीं था, राजपरिवार की स्त्रियाँ ही वहाँ थीं। राजधानी एवं राज-परिवार की रक्षा के लिए सांचोरा वीर भगवानदास के वंशज[१२] वहाँ नियुक्त थे। घड़े छिन जाने पर जब उन दासियों ने रनिवास में जाकर नसिरुद्दीन की इस अनुचित कार्यवाही की शिकायत की तब रानियों ने पृथ्वीराज चौहान तथा सुलतानसिंह चौहान को उचित प्रबन्ध करने के लिए कहलवाया। ये राजपूत वीर क्रोध के मारे उबल पड़े और आगा-पीछा सोचे बिना ही अपने राजपूत साथियों को लेकर नसिरुद्दीन तथा उसके सवारों पर टूट पड़े। नसिरुद्दीन और उसके कुछ साथी मारे गए[१३] और बाक़ी बचे हुए सवार भाग

---

[१२]ख्यात० में कोई नाम नहीं दिए हैं, केवल 'भगवानदास के वंशज' ही लिखा है; सम्भव है कि भगवानदास का तीसरा पुत्र, चौहान पृथ्वीराज, जो सन् १६८६ ई० में शिवसिंह का प्रधान मन्त्री था, इस समय भी उसी पद पर नियुक्त हो। भगवान-दास के ज्येष्ठ पुत्र, मानसिंह की मृत्यु सन् १६६३ ई० (सं० १७५० वि०) में हो गई थी, एवं इस समय मानसिंह का ज्येष्ठ पुत्र सुलतानसिंह भी राजघराने और राजधानी की रक्षा के लिए रतलाम में नियुक्त होगा।

[१३]ख्यातोंमें लिखा है कि जिस समय चौहानों ने नसिरुद्दीन पर यह हमला किया उस समय वह रतलाम के राजकीय महलों के पास ही अपने घोड़े पर चढ़ रहा था। राजपूतों ने नसिरुद्दीन का सिर काट डाला जो महलों के पास गिरा, और धड़ को लिए हुए घोड़ा भाग खड़ा हुआ; वह धड़ आगे जाकर रतलाम शहर के बाज़ार में गिरा। नसिरुद्दीन के सिर और धड़ जहाँ गिरे थे वहाँ ही उन्हें दफ़ना

खड़े हुए। राजपूतों ने दासियों के घड़े राजरानियों की सेवा में प्रस्तुत कर सन्तोष का अनुभव किया होगा। किन्तु उनकी इस पूर्णतया विवेकविहीन कार्यवाही का जो भयंकर परिणाम हुआ, सम्भवतः तब उन्हें उसकी आशंका भी न हुई थी।

रतलाम में यह दुर्घटना घटी, तब केशवदास अपने सैनिकों के साथ शाही दरबार में ही उपस्थित था। औरंगज़ेब इस समय पिछले दो वर्षों से बीजापुर से कोई ३२ मील दक्षिण-पश्चिम में कृष्णा नदी के किनारे गलगला नामक स्थान पर डेरा डाले ठहरा हुआ था।[१४] ऐसा अनुमान होता है कि जून, १६९४ ई० के प्रारम्भिक दिनों में औरंगजेब केशवदास से प्रसन्न एवं उसकी सेवाओं से सन्तुष्ट था, जिससे जून, १८, १६९४ ई० को उसने हुक्म दिया कि केशवदास के मनसब तथा पद का पूरा-पूरा ब्यौरा पेश किया जावे।[१५] परन्तु केशवदास का दुर्भाग्य यों विफल होने वाला न था। दूसरे ही दिन औरंगज़ेब को रतलाम में अमीन-इ-जज़िया (नसिरुद्दीन) के मारे जानेका विवरण ज्ञात हुआ। केशवदास के गुमाश्ते की ऐसी कार्यवाही का फल केशवदास को भुगतना पड़ा। औरंगज़ेब इस उद्दण्डता का वृत्तान्त सुन कर वहुत ही क्रुद्ध हुआ और उसने केशवदास को तत्काल ही रतलाम की जागीर और ज़मींदारी से अलग कर दिया। रतलाम का परगना ज़ब्त कर शाही इलाक़े में मिला दिया गया। शाहज़ादा आज़म इस समय मालवा का सूबेदार था, अतएव रतलाम परगने की

दिया, और दोनों स्थानों पर दो अलग-अलग क़ब्रें बनवाई गई, एक तो महलों के पास और दूसरी शहर में। कुछ सयम पहिले तक ये दोनों क़ब्रें रतलाम में विद्यमान थीं। गुरूजी०।

[१४]मा० आ०, पृ० ३४५, ३७०।

[१५]अख़्ब० औरं०, ३८, पृ० ५२६।

यह ज़ब्त जागीर और ज़मींदारी आज़म को जागीर में दे दी गई तथा आज़म के कार्यकर्ताओं को उस पर अधिकार कर लेने का हुक्म हुआ। केशवदास का मनसब इस समय तीन सदी ज़ात-पाँच सौ सवारों का था, जिनमें से चार सौ सवार दो-अस्पा थे। औरंगज़ेब ने इसमें भी एक सदी ज़ात-पाँचसौ सवारों की कमी कर दी और हुक्म दिया कि केशवदास अपने सैनिकों के साथ ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ की सेना में सम्मिलित हो जावे।[१६] जून, १६९४ ई० में ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ सुदूर दक्षिण में पालमकोटा स्थान पर घेरा डाले पड़ा हुआ था। जून के अन्तिम सप्ताह में पालम-

---

[१६]अख़० औरं०, ३८, पृ० ५२८, ६६, ५३७।

केशवदास का जो मनसब यहाँ दिया है, वह जून १९ और २०, १६९४ ई० के अख़बारों के अनुसार है। अख़० औरं०, ३८ पृ० ६६ के अनुसार इस समय केशवदास का मनसब पाँच सदी ज़ात-चार सौ सवारों का था। अख़० औरं०, ४०, पृ० ५९-६०, पर यह मनसब पाँच सदी ज़ात-पाँच सौ सवार होना लिखा है। इनमें से कौनसा उल्लेख ठीक है यह निश्चित करना आवश्यक हो जाता है।

रतलाम परगना ज़ब्त होते समय केशवदास का मनसब ५ सदी ज़ात का था, यह बात जुलाई, १६९४ ई० और सितम्बर १६९६ ई० में औरंगज़ेब को निवेदन की गई थी, और इसी बात को ध्यान में रख कर औरंगज़ेब ने सन् १६९६ ई० में केशवदास का मनसब पुनः पाँच सदी ज़ात का कर दिया था। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जून १९ और २०, १६९४ ई० को अर्ज़ की गई तीन सदी ज़ात के मनसब की बात ठीक न थी।

मेरे ग्रन्थ 'मालवा में युगान्तर' के पृ० ८६ पर रतलाम परगने का सन् १६९५ ई० में ज़ब्त होना, एवं इन अख़बारों की तारीखें जून ८ और ९, १६९५ ई० लिखी हैं। किन्तु यह ठीक नहीं। जुलूसी सन् को ईसवी सन् में पलटते समय तब पूरे एक वर्ष की भूल हो गई थी।

अख़बारों में अमीन-इ-जज़िया का नाम नहीं दिया है, किन्तु ख्यातों से ज्ञात होता है कि उसका नाम नसिरुद्दीन था।

कोटा जीत कर वह तिरुवाड़ी होता हुआ शाही सेना के केन्द्र वाण्डीवाश को लौटा।[१७] अतएव केशवदास भी शाही आज्ञानुसार गलगला से अपने सैनिकों के साथ वाण्डीवाश की ओर रवाना होने के लिए तैयार हुआ। इस दुर्घटना के लिए केशवदास ने किसे दोषी ठहराया तथा उसे क्या दण्ड दिया गया इसका कोई भी विवरण कहीं नहीं मिलता है। एक बात अवश्य निश्चित रूपेण कही जा सकती है कि इस घटना के बाद सांचोरा वीर भगवानदास के वंशज केशवदास का साथ छोड़ कर रतनसिंह के पाँचवें पुत्र, एवं केशवदास के काका, छत्रसाल के पास जा पहुँचे। तब से उस घराने के साथ उनका सम्बन्ध आज तक बराबर बना हुआ है।[१८]

रतलाम परगने की ज़ब्ती के हुक्म की सूचना अगस्त, १६९४ ई० के प्रारम्भिक दिनों में रतलाम पहुँची। राजपरिवार और उनके हितैषियों में गहरा शोक छा गया। अब आगे उनका रतलाम में रहना संभव न था,

---

[१७] औरंग०, ५, पृ० ९९-१००।

[१८] सन् १७०२ ई० के लगभग वर्तमान रतलाम राज्य की स्थापना के अनन्तर ही छत्रसाल ने भगवानदास के ज्येष्ठ पुत्र मानसिंह के बड़े लड़के सुलतानसिंह को पंचेड़ की जागीर दी थी, जो आज भी सुलतानसिंह के वंशजों के अधिकार में हैं।

रतलाम०, पृ० १४८-९, पर लिखा है कि रतनसिंह ने भगवानदास को पंचेड़ की वर्तमान जागीर दी थी, तब से इस ठिकाने की स्थापना हुई; किन्तु यह कथन ठीक नहीं। उन दिनों अपने सामन्तों को इस प्रकार वंशपरम्परागत जागीरें देने की प्रथा प्रचलित न थी। पुनः यदि रतनसिंह या उसके उत्तराधिकारियों ने यदि ऐसी कोई जागीरें भगवानदास या उसके वंशजों को सन् १६९४ ई० से पहिले रतलाम परगने में दी भी होंगी तो सन् १६९४ ई० में रतलाम परगना जब्त होने पर वे सब भी आप ही आप जब्त होकर खालसा हो गईं होंगी। मुग़ल शासन-पद्धति का यही नियम था एवं उसका पालन इस मामले में भी अवश्य हुआ होगा।

भगवानदास के तीसरे पुत्र, पृथ्वीराज को भी छत्रसाल ने माथासूला की जागीर दी थी, परन्तु अब यह गाँव पृथ्वीराज के वंशजों के अधिकार में नहीं रहा।

एवं केशवदास के घराने ने रतलाम से रवाना होने की तैयारी प्रारम्भ कर दी। रतनसिंह के साथ जालोर से कई घराने रतलाम आए थे। पुरोहित और व्यास, कुल-गुरु और अन्य नेगी, सैनिक और सेनानायक, राज्य-कर्मचारी एवं वणिक्, नाई तथा बारी, सुथार और भंगियों के इन घरानों में से कोई भी प्रधान व्यक्ति केशवदास के घराने का साथ छोड़ने को तैयार न थे। जसराज बारहठ, खड़िया जगा एवं अमरदास चौहान के उत्तराधिकारी वंशजों ने भी रतलाम से मुख मोड़ लिया। ये सब रतलाम से राजघराने के साथ ही चलने को उतारू हो गये।[१९]

अगस्त १४ या १५, १६९४ ई० के लगभग, मालवा के सूबेदार शाहज़ादा आज़म के कार्यकर्ता भी परगने पर अधिकार करने को रतलाम आ पहुँचे। केशवदास के राजपरिवार के रवाना होने की तैयारियाँ अब तक पूरी न हो पाई थीं। किन्तु आज़म के कर्मचारियों को सब्र न हुई, वे ताकीद करने लगे कि राजमहलों को छोड़ कर केशवदास का राजपरिवार शीघ्रातिशीघ्र रतलाम से रवाना हो जावे। बातचीत में इसी प्रकार तीन-चार दिन बीत गए, किन्तु कोई भी निश्चय नहीं हो पाया। अन्त में अगस्त १८, १६९४ ई० का प्रातःकाल हुआ। उस

---

[१९]मारवाड़ से जालोर होकर रतलाम साथ आने वाले इन सब घरानों की प्रायः सब प्रधान शाखाओं के मुखिया केशवदास की सेवा में थे, और उसी के राजघराने के साथ ही उन्होंने भी रतलाम छोड़ दिया। इन घरानों के कई एक छोटे भाई-बेटे तथा अन्य सगे-सम्बन्धी रतनसिंह के अन्य छोटे पुत्रों के समान ही छत्रसाल की सेवा में भी थे। छत्रसाल ने जब इस वर्तमान रतलाम राज्य की स्थापना की तब वे सब भी रतलाम में आ बसे। रतलाम०, पृ० १५, पर मारवाड़ से साथ आकर रतलाम में बस जाने वाले जिन घरानों का उल्लेख है, वे सब यों सन् १७०२ ई० के बाद ही रतलाम में बसे थे, उससे पहिले नहीं। पहिले बसने वाले प्रायः सब घराने तब तक वहाँ से चल दिए थे।

दिन भाद्रपद कृष्ण १२ थी; वह वत्स-पूजा का दिन था। प्रातःकाल की शुभ वेला में गाय और बछड़े की पूजा के लिए केशवदास की रानियाँ तैयारियाँ करने लगीं। किन्तु आज़म के कर्मचारियों को अब धैर्य न रहा; वे केशवदास की रानियों को पूजा भर के लिए भी रतलाम के राजमहलों में ठहरने देने के लिए अब तैयार न थे। शाही कार्यकर्ताओं के आगे बेवस रानियों की कुछ न चली; वे वत्स-पूजा न कर सकीं। पूजा का शुभ मुहूर्त ही रतलाम के महलों से उनकी बिदाई की करुण वेला बन गया। पूजा के लिए किए हुए शृंगार में ही उन रानियों ने राजमहलों को त्याग दिया। वे शोकमग्ना रानियाँ इस प्रकार अपने साथियों के साथ अगस्त १८, १६९४ ई० के दुःखपूर्ण प्रभात में रतलाम से चल दीं। केशवदास के राजपरिवार के साथ ही रतनसिंह के उत्तराधिकारियों के साथियों, सेनानायकों, कर्मचारियों तथा भृत्यों के कुटुम्बियों ने भी रतलाम से बिदा ली।[२०]

रतनसिंह ने मई, १६५६ ई० में जिस रतलाम राज्य की स्थापना की थी, पूरे ३८ वर्ष बाद जून, १६९४ ई० में उसका अन्त हो गया। अमीन-इ-जज़िया के मारे जाने की दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना के फलस्वरूप रतलाम के इस प्रथम राज्य का अस्तित्व ही मिट गया। रतलाम परगना ज़ब्त हो कर शाही खालसा इलाक़े में मिला दिया गया; पिछले अड़तीस वर्षों की परम्परा का अन्त हो गया। सात-आठ साल तक वह खालसा ही रहा।

सन् १७०२ ई० के बाद जब यही परगना रतनसिंह के पाँचवें पुत्र, छत्रसाल को जागीर में मिला, तब रतलाम के वर्तमान एवं इस दूसरे राज्य की नए सिरे से स्थापना हुई। एक बार इसके जब्त

---

[२०] गुरुजी०; राणी०; बड़वों की अन्य ख्यातें।

लाम छोड़ने के साथ ही रतलाम के इस प्रथम राज्य का अन्त हो गया, किन्तु रतलाम के पदच्युत राजघराने का इतिहास चलता ही गया। रतलाम परगना खोकर, अपने मनसब में कमी होने पर भी केशवदास शाही सेना में बराबर बना रहा। केशवदास के राजघराने को रतलाम के अपने पैतृक राजमहल छोड़ने पड़े, किन्तु अपने रहने के लिए उन्होंने अन्यत्र व्यवस्था कर ही ली। और जब तक केशवदास ने अपने नए राज्य की स्थापना न कर ली वह रतलाम का पदच्युत शासक ही कहलाता रहा। पदच्युत शासक का इतिहास उसके भूतपूर्व राज्य के इतिहास का ही अंग होता है, एवं रतलाम के पदच्युत शासक राज्य-विहीन केशवदास के इन सात वर्षों का विवरण रतलाम के प्रथम राज्य के इतिहास के उपसंहार के रूप में ही यहाँ दिया गया है।

अमीन-इ-जज़िया के मारे जाने की दुर्घटना से क्रुद्ध होकर औरंगज़ेब ने जून १९, १६९४ ई० को रतलाम परगना ज़ब्त कर शाहज़ादे आज़म को जागीर में दिए जाने का हुक्म दिया था। केशवदास का मनसब घटा दिया गया था और शाही दरबार में उपस्थित न रहने का भी हुक्म मिल चुका था। अमीन-इ-जज़िया के मारे जाने की संगीन घटना की पूरी-पूरी हक़ीक़त ठीक समय पर न मिलने के अपराध में रतलाम परगने के ख़बर-नवीस को भी बदल दिया गया और बहरोज़ के लड़के अफ़रासियाब को मालवा का अमीन-इ-जज़िया नियुक्त किया।[२१] इसी समय औरंगज़ेब को ज्ञात हुआ कि जून मास में केशवदास का जो मनसब उसे निवेदन किया गया था, वह ठीक न था; उसका मनसब पाँच सदी ज़ात था, किन्तु उस समय उसका मनसब केवल तीन सदी ज़ात ही अर्ज़ किया गया था। औरंगज़ेब ने एक बार उसका पुराना

---

[२१] अख़० औरं०, ३८, पृ० २२, ६६, १०२।

मनसब बहाल रखने की सोची, परन्तु अन्त में उसने अपना इरादा बदल दिया और रतलाम परगने की ज़ब्ती आदि का हुक्म न बदला।[२२] यों अब केशवदास का मनसब घट कर केवल दो सदी ज़ात का ही रह गया था। किन्तु वह शाही सेना में उसी तत्परता के साथ बना रहा।

केशवदास को हुक्म मिला था कि वह जुल्फ़िकार ख़ाँ की सेना में सम्मिलित हो जावे। ज़ुल्फ़िकार ख़ाँ इस समय सुदूर दक्षिण में पालम-कोट जीत कर वाण्डीवाश लौट रहा था। फ़रवरी, सन् १६९८ ई० में जिंजी का क़िला जीतने के बाद तक ज़ुल्फ़िकार ख़ाँ वहीं बना रहा।[२३]

---

[२२]अख़० औरं०, ३८, पृ० ९९। जुलाई १५, १६९४ ई० को औरंगज़ेब को निवेदन किया गया कि केशवदास का असल मनसब पाँच सदी ज़ात का था। इसी अख़बार में रतलाम परगना बहाल रखने और केशवदास के मनसब में एक सदी ज़ात–५०० सौ सवारों की वृद्धि करने की बात का भी उल्लेख है। ज़ब्ती के हुक्म के कुछ ही सप्ताह बाद मनसब में वृद्धि की यह बात कुछ आश्चर्यजनक अवश्य है और इतिहासकार के लिए एक उलझी हुई गुत्थी उपस्थित कर देती है।

परन्तु जुलाई १५, १६९४ ई० के अन्य अख़बारों में इस अख़बार में दिए गए अन्य सब इनामों और तरक्कियों के साथ केशवदास सम्बन्धी इस उल्लेख को नहीं दुहराया गया, जिससे यह आशंका उत्पन्न हो जाती है कि केशवदास सम्बन्धी यह निर्देश बाद में हुक्म के रूप में परिणत नहीं किया गया (अख़० औरं०, ३८, पृ० ९९-१०२)। पुनः अख़० औरं०, ४०, पृ० ५९-६० के अनुसार सितम्बर ३, १६९६ ई० से कुछ ही पहिले केशवदास को पाँच सदी ज़ात–दो सौ सवारों का मनसब पुनः मिल गया था। एवं यह स्पष्ट हो जाता है कि जुलाई १५, १६९४ ई० (पृ० ९९) के अख़बार में दी गई बहाली और मनसब में तरक्की की बात केवल इरादा-मात्र ही रह गई, और उस सम्बन्धी कोई निश्चित हुक्म तब नहीं दिया गया था।

[२३]औरंग०, ५, पृ० ९९-१०९।

सन् १६९४ या सन् १६९५ ई० में लिखे हुए केशवदास के कोई पत्र या सनदें प्राप्य नहीं हैं, एवं उसकी तत्कालीन गति-विधि पर कोई भी प्रकाश नहीं पड़ता है। एवं जून, १६९४ ई० या उसके बाद केशवदास ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ की सेना में सम्मिलित हुआ या नहीं यह बात निश्चित रूपेण नहीं कही जा सकती। यदि वह उस सेना में शामिल भी हुआ होगा तो सन् १६९६ ई० में उसकी वहाँ से वदली हो गई होगी, क्योंकि अक्तूबर, सन् १६९६ ई० में केशवदास अहमदनगर में था।[२४]

उधर अगस्त १८, १६९४ ई० को रतलाम के राजमहलों को त्याग कर केशवदास की रानियाँ, राजपरिवार एवं संगी-साथी वहाँ से चल दिए। ख्यातों में लिखा है कि कुछ समय तक वे यह निश्चित न कर पाएँ कि उन्हें कहाँ जाना चाहिए। यह सारी आपत्ति इतनी अचानक आ पड़ी थी कि उन्हें कोई राह सूझती न थी और न केशवदास ही उन्हें कोई स्पष्ट आदेश दे सकता था। सन् १६९५ ई० इसी प्रकार कठिनाइयों में यत्र-तत्र बिताया और अन्त में उन्होंने सीतामऊ में रहने का निश्चय कर वहाँ की राह ली। रतनसिंह के घराने के साथ इस स्थान का बहुत सम्बन्ध रहा था। केशवदास के काका करणसिंह और जेतसिंह का क्रमशः इस स्थान और उसके आस-पास के प्रदेश पर आधिपत्य भी रह चुका था। यों जनवरी १४, १६९६ ई० (माह विदि ५, १७५२ वि०) को केशवदास के राजकुटुम्ब ने सीतामऊ पहुँच कर वहाँ अपना डेरा डाला।[२५]

सन् १६९६ ई० केशवदास के लिए लाभदायक प्रमाणित हुआ। उसका राजकुटुम्ब सीतामऊ में निवास कर वहाँ अपना कौटुम्बिक कारो-

---

[२४] राजव्यास०, कार्तिक सु० १३, सं० १७५३ वि० (अक्तूबर २८, १६९६ ई०) को लिखे गए सनद एवं पत्र।

[२५] गुरूजी०; बड़वों की अन्य ख्यातें।

बार संगठित करने का आयोजन करने लगा। इन्हीं दिनों केशवदास का मनसव पुनः बढ़ा कर पाँच सदी ज़ात—दो सौ सवारों का कर दिया गया।[२६] इसी अवसर पर उसे अपने मनसव के अनुरूप नई जागीर भी मिली थी। उसे कुछ जागीर तो धार परगने में प्राप्त हुई थी और बहुत करके इसी समय उसे नाहरगढ़ का परगना भी मिला था।[२७] रतलाम का परगना एक बार खोकर केशवदास उसे दूसरी बार पुनः प्राप्त न कर पाया। अमीन-इ-जज़िया के मारे जाने के अपराध में जो परगना ज़ब्त हुआ था वह उसे ही पुनः किस प्रकार मिल सकता था ? वह परगना खालसा ही रहा।

---

[२६] अख़॰ औरं॰, ४०, पृ॰ ५६-६०। सितम्बर ३, १६६६ ई॰ के अख़बार के अनुसार केशवदास को यह मनसब हाल ही में प्राप्त हुआ था। यद्यपि केशवदास की इस पुनः नियुक्ति को बहुत समय न बीता था, तथापि सब दूर इसका विवरण फैल जाने इतना काल अवश्य ही बीत चुका था। एवं अनुमान होता है कि केशवदास को यह मनसब सन् १६६६ ई॰ के प्रारम्भिक महीनों में ही प्राप्त हुआ होगा।

[२७] केशवदास ने धार परगने में बगड़ी और वाकली गाँव अपने कर्मचारियों को जागीर में दिए थे, जिससे अनुमान होता है कि केशवदास को धार परगने का कुछ प्रदेश जागीर में मिला होगा। मेहता॰; राजव्यास॰।

नाहरगढ़ का क़स्बा वर्तमान ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत मन्दसौर शहर से कोई १२ मील उत्तर-पूर्व में स्थित है। अकबर के समय उस नाम का कोई भी अलग परगना न था; बहुत करके वह क़यामपुर परगने का ही एक हिस्सा रहा हो (आइन॰, २, पृ॰ २०८)। परन्तु केशवदास को जब नाहरगढ़ और उसके पास के प्रदेश जागीर में मिले तब वह एक अलग ही परगने के रूप में संगठित हो गया था। केशवदास को नाहरगढ़ परगना जागीर में शाही सनद के साथ औरंगज़ेब के समय में मिला था। मरहठों के आक्रमणों के समय यह परगना सीतामऊ राज्य के अधिकार से निकल गया। उस परगने की वह शाही सनद भी सीतामऊ राज-

नया मनसव और नई जागीर पाकर केशवदास ने अपना कौटुम्बिक प्रबन्ध और जागीर का शासन संगठित करने के लिए व्यास प्रतापसिंह को अपना प्रधान मंत्री नियुक्त किया और सारा शासन-प्रबन्ध उसे सौंप दिया। प्रतापसिंह व्यास हरी और व्यास रघुनाथ का वंशज और उत्तराधिकारी था, एवं इसी सुअवसर पर केशवदास ने उसे अपने राजघराने का राजव्यास नियुक्त कर व्यास घराने के परंपरागत नेग-दस्तूरों की सनद लिख दी और उसे धार परगने में स्थिति वाकली गाँव पुण्यार्थ दिया।[२८] पुनः यद्यपि केशवदास को नाहरगढ़ परगना प्राप्त हो गया था, किन्तु उसने अपने राजघराने को सीतामऊ ही बने रहने का आदेश दिया।

केशवदास का भाग्य-सितारा पुनः ऊँचा चढ़ रहा था। पाँच सदी ज़ात-दो सौ सवारों का मनसब उसे प्राप्त हो चुका था, किन्तु वह चाहता था कि रतलाम परगना ज़ब्त होने से पहिले उसका जो मनसब था वह उसे पुनः प्राप्त हो जावे। सितम्बर ३, १६९६ ई० को औरंगज़ेब की सेवा में किशनगढ़ राज्य के तत्कालीन शासक मानसिंह राठौड़ की[२९]

घराने के संग्रह में न रही। एवं इस परगने की प्राप्ति का ठीक सन्-संवत् ज्ञात नहीं हो सका है।

सन् १६९६ ई० में केशवदास को जब पुनः पाँच सदी ज़ात-दो सौ सवारों का मनसब प्राप्त हुआ, तब उसके अनुरूप एक बड़ी जागीर अवश्य ही उसे प्राप्त हुई होगी। एवं सब कुछ विचार करने पर यही अनुमान होता है कि नाहरगढ़ का यह परगना केशवदास को इसी अवसर पर प्राप्त हुआ होगा।

[२८] राजव्यास०।

[२९] मानसिंह राठौड़ जोधपुर के मोटे राजा उदयसिंह के आठवें पुत्र किशनसिंह का प्रपौत्र था एवं दूर के रिश्ते से केशवदास उसका चचेरा भतीजा होता था। अतएव केशवदास की सहायता करने के लिए उसका प्रयत्नशील होना स्वाभाविक ही था।

एक अर्ज़ी पहुँची, जिसमें उसने केशवदास के मनसब में वृद्धि के लिए विशेष रूप से प्रार्थना की थी। मानसिंह राठौड़ की इस सिफ़ारिश पर विचार कर औरंगज़ेब ने केशवदास के मनसब में दो सौ सवार और बढ़ा दिए, जिससे अब उसका मनसब पाँच सदी ज़ात-चार सौ सवारों का हो गया।[३०] इस बढ़े हुए मनसब की जागीर के लिए दिए-जाने वाले गाँवों का मई, १६९७ ई० तक कुछ भी ख़ुलासा नहीं हो पाया था। मुग़ल शासन में बहुत कुछ ढिलाई आ गई थी, और रिश्वत आदि भी बहुत चलती थी, अतएव केशवदास ने एक पत्र में अपने प्रधान मंत्री व्यास प्रतापसिंह को लिखा था, "और आगे तो उज्जैन में अपनी जेब से पैसे खर्च करना होंगे। इस प्रकार उज्जैन में अपने पैसे जो ख़र्च करने पड़ें वे ख़र्च करो और अपना भविष्य ठीक तौर पर निश्चित करवा लो। कहीं ऐसा न होने पावे कि अच्छे-अच्छे गाँव तो सारे ही हाथ से निकल जावें और वे ही गाँव हमें मिलें जिनमें सिर्फ़ टिटहरियाँ ही बैठी हों (याने जहाँ सारी ज़मीन पड़त हो और नाम-मात्र को भी खेती-बाड़ी न हो)।"[३१] गाँवों का यह मामला बहुत जल्द तय नहीं हुआ और सम्भवतः जनवरी, १६९९ ई० तक चलता ही रहा। जनवरी २४ के एक पत्र में केशवदास ने लिखा था—"अब सीतामऊ जागीर में मिला है, जिसका परवाना लेकर (दूत) आ रहा है।" इसी के बाद केशवदास ने सीतामऊ

इन दिनों मानसिंह राठौड़ को शाहज़ादे मुअज्ज़म की सेना में सम्मिलित होने का हुक्म मिला था। मुलतान की सूबेदारी पर नियुक्त होने पर शाहज़ादे मुअज्ज़म को औरंगज़ेब की आज्ञानुसार जुलाई १३, १६९६ ई० के दिन आगरा से मुलतान के लिए रवाना होना पड़ा (मा० आ०, पृ० ३८२) एवं मानसिंह को भी इस समय मुलतान ही जाना पड़ा होगा।

[३०] अख़० औरं०, ४०, पृ० ५९-६०।

[३१] राजव्यास०।

के पास के कुछ गाँव अपने प्रधान मंत्री व्यास प्रतापसिंह को जागीर में दिए थे ।[३२]

इधर पिछले साल-दो साल से कोंकण में मरहठों का विशेष उपद्रव न था। मरहठा राजा राजाराम जिंजी के क़िले में घिरा हुआ था और मरहठे सेनापति संता घोरपड़े और धन्ना जादव कर्नाटक और दुडेरी के आस-पास उलझे हुए थे। परन्तु सन् १६९५ ई० के अन्तिम दिनों में मुग़ल सेनापतियों को कई युद्धों में विफलता का सामना करना पड़ा था, एवं कोंकण में पुनः मरहठों के उपद्रव की आशंका बढ़ रही थी, जिससे फ़रवरी, १६९६ ई० में औरंगज़ेब ने शाहज़ादा आज़म को ससैन्य इस्लामपुरी से पेड़गाँव की ओर भेजा। आज़म ने जुन्नर परगने का दौरा किया और अन्त में उसने पेड़गाँव (बहादुरगढ़) को अपना प्रधान सैनिक केन्द्र बनाया। आगामी तीन वर्षों तक आज़म पेड़गाँव में ही बना रहा। इस समय इस प्रदेश की सुरक्षा और सैनिक प्रबन्ध के सिलसिले में ही सम्भवतः केशवदास को भी अहमदनगर भेज दिया गया था, और अक्तूबर, १६९६ ई० के अन्तिम दिनों में केशवदास वहीं था ।[३३]

किन्तु कर्नाटक में तब तक जिंजी का क़िला मुग़लों के अधिकार में नहीं आया था। ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ की सेना का औरंगज़ेब के साथ निरन्तर

---

[३२] सीतामऊ राजघराने के संग्रह में प्राप्य पत्र; राजव्यास० ।

सितम्बर ३, १६९६ ई० के बाद अप्रेल-मई, १६९९ ई० में ही केशवदास का मनसब बढ़ाया गया, एवं अनुमान यही होता है कि सीतामऊ और आस-पास के गाँवों का परवाना सितम्बर, १६९६ ई० में की गई वृद्धि के सिलसिले में ही जारी किया गया होगा। यह परवाना प्राप्त होने के बाद ही केशवदास ने अपने प्रधान मन्त्री और राजव्यास प्रतापसिंह को चगत्या और चीकला गाँव अक्तूबर १८ और दिसम्बर ५, १६९९ ई० को क्रमशः दिए। राजव्यास० ।

[३३] औरंग०, ५, पृ० १२३-४; राजव्यास० ।

लगाव रह नहीं पाता था। ज़ुल्फ़िकार ख़ाँ के लिए भेजा जानेवाला ख़जाना भी कई बार राह में लूट लिया जाता था। समय समय पर संता घोरपड़े अपने दल-बल के साथ इस ओर धावा कर देता था। सन् १६९६ ई० के पिछले दिनों में औरंगज़ेब ने शाहज़ादे आज़म के पुत्र बेदार बख़्त को ससैन्य भेजा था कि मरहठों को तुंगभद्रा के उत्तरी किनारे से मार भगावे। ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ भी अर्काट से उत्तर की ओर बढ़ा और बंगलोर से कोई ७५ मील उत्तर में स्थित पेनुकुण्डा नामक स्थान में बेदार बख़्त से आ मिला, किन्तु तब तक मरहठे सैनिकों के दल युद्ध किए बिना ही भाग खड़े हुए थे।[३४] यों इस बार तो आपत्ति टल गई थी, किन्तु उसका अन्त नहीं हो सका था।

और फ़रवरी, १६९८ ई० में जिंजी का क़िला जीत कर भी जब मरहठे के विरोध का अन्त न हुआ तब तो औरंगज़ेब कोंकण में उन पर पूरे दल-बल के साथ चढ़ाई करने की तैयारी करने लगा, उस समय उसने कर्नाटक की राह को खुली रखने का प्रबन्ध करना आवश्यक समझा। इन प्रयत्नों में पेनुकुण्डा जैसा महत्वपूर्ण क़िला किसी विश्वसनीय सेनानायक को सौंपना आवश्यक जान पड़ा, एवं केशवदास को सन् १६९८ ई० के अन्तिम दिनों में पेनुकुण्डा का क़िलेदार और फ़ौजदार नियुक्त किया। केशवदास इस पद पर आगामी पाँच वर्षों तक निरन्तर बना रहा।[३५]

---

[३४] औरंग०, ५, पृ० १०४।

[३५] औरंग०, ५, पृ० १०६, १३०।

केशवदास की नियुक्ति पेनुकुण्डा में कब हुई यह निश्चित रूपेण ज्ञात नहीं हो सका है। केशवदास के पेनुकुण्डा होने की प्रथम सूचना वहाँ से लिखे गए उसके जनवरी २४, १६९९ ई० के पत्र से मिलती है। (सीतामऊ राजघराने के संग्रह में प्राप्य पत्र)। अप्रेल-मई १६९९ ई० के अख़बार से ज्ञात होता है कि वह

केशवदास जिस समय पेनुकुण्डा में नियुक्त था तब अप्रेल, १६९९ ई० के प्रारम्भिक दिनों में एक दिन पेनुकुण्डा में नियुक्त सारे सैनिकों ने बहुत उपद्रव मचाया। मुहम्मद जाफ़र ख़ानाज़ाद ने उन सैनिकों से कहा था कि उन्हें आतिश ख़ाँ से जो कुछ भी मिला उस सब की रसीद वे उसे दे दें, जो सैनिकों को मंज़ूर न था। मुहम्मद जाफ़र की इस माँग के विरोध में उन सैनिकों ने उसके घर को जा घेरा। केशवदास ने इन विद्रोही सैनिकों को दबाने में पूरी-पूरी सहायता दी, और उसने ऐसा प्रबन्ध किया कि उन सैनिकों को न तो आग प्राप्त हो सकी और न पीने को पानी ही मिला। विवश होकर विद्रोही सिपाहियों ने मुहम्मद जाफ़र द्वारा चाही गई रसीद लिख कर उसे दे दी। इस अवसर पर केशवदास ने मुहम्मद जाफ़र की जो सहायता की उसका विवरण जब औरंगज़ेब को ज्ञात हुआ तो उसने केशवदास का मनसब बढ़ा दिया। इस समय उसका मनसब पाँच सदी ज़ात—चार सौ सवारों का था, जिनमें से तीन सौ सवार दो-अस्पा थे। इस मनसब में एक सदी ज़ात—एक सौ सवारों की तरक़्क़ी दी गई।[३६]

ढाई साल पहिले सितम्बर, १६९६ ई० में केशवदास के मनसब में जो वृद्धि हुई थी, उसकी जागीर का मामला भी अब तक तय नहीं हो

उस क़िले का फ़ौजदार और क़िलेदार था। (अख़० औरं०, ४३, पृ० १०)। उसके बाद पेनुकुण्डा से लिखे हुए केशवदास के कई पत्र मिलते हैं। इन सब पत्रों में पेनुकुण्डा को 'पीलगुण्डा' लिखा है। वहाँ से लिखा हुआ अन्तिम प्राप्य पत्र अक्तूबर ३, १७०३ ई० का है। मेहता०; राजव्यास०।

पेनुकुण्डा का यह सुदृढ़ दुर्ग आजकल अनन्तपुर ज़िले के अन्तर्गत है। अनन्त-पुर से बंगलोर जाने वाली रेलवे पर यह एक स्टेशन है।

[३६]अख़० औरं०, ४३, पृ० १०।

आतिश ख़ाँ और मुहम्मद जाफ़र के बारे में कोई भी विशेष जानकारी प्राप्त

पाया था कि उसे यह और तरक़्क़ी मिल गई। पिछली तरक़्क़ी के सिलसिले में सीतामऊ के आस-पास के कई गाँव केशवदास को मिले थे। अतएव अब इस वृद्धि को पाकर उसने अपनी जागीर का एकीकरण कर उस ठीक तरह संगठित करने के लिए केशवदास प्रयत्नशील हुआ। पिछले तीन वर्षों से उसका राजकुटुम्ब सीतामऊ में निवास कर रहा था। इस प्रदेश में उसे बहुत कुछ जागीर भी प्राप्त हो गई थी। अपनी पुरानी रतलाम वाली जागीर पुनः मिलने की उसे कोई आशा भी न रही थी। औरंगज़ेब उसे वही रतलाम का परगना फिर दे देगा यह एक दुराशा-मात्र थी। एवं अपने मनसब में इस नई वृद्धि की जागीर चुनते समय उसने यही चाहा होगा कि सीतामऊ के आस-पास का सारा परगना ही उसे प्राप्त हो जावे। इन पिछले पचास वर्षों में यद्यपि सीतामऊ क़स्बे का सापेक्षिक महत्व बढ़ गया था, किन्तु अब भी इस परगने का केन्द्र तीतरोद में ही था, और यह प्रदेश तीतरोद परगने के नाम से ही कहलाता था। एवं केशवदास तीतरोद परगने की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हुआ। पूरे ढाई साल बाद अक्तूबर, १७०१ ई० में कहीं उसका यह प्रयत्न सफल हुआ और अक्तूबर ३१, १७०१ ई० को तीतरोद परगने की सनद केशवदास के नाम लिखी गई। इससे पहिले केशवदास की जागीर ३०,२०,४०० दामों की थी; अब उसे सन् १७०१-२ ई० की रबी फ़सल से ही ७,८०,००० दामों की आमदनी वाला तीतरोद का यह नया परगना जागीर में मिला, जिससे उसकी सारी जागीर की आमदनी ३८,००,४०० दामों (रु० ९५,०१०) की हो गई। यह नई जागीर मिलने पर केशवदास ने पहिले की निश्चित रक़म के सिवाय रु० १०,०००) और पेशकश के रूप में देना स्वीकार किये। इनमें

नहीं हो सकी। सम्भवतः वे क्रमात् इस परगने के कोई उच्च अधिकारी या क़िले के कोषाध्यक्ष रहे होंगे।

से आधे रुपए मालवा सूबे के खज़ाने में और बाक़ी रहे रु० ५,००० शाही पड़ाव के खज़ाने में जमा करते रहने का उसे आदेश मिला।[३७]

इस समय भी केशवदास पेनुकुण्डा के फ़ौजदार और क़िलेदार के पद पर ही नियुक्त था। सन् १७०० ई० में जब केशवदास को ज्ञात हुआ कि उसके नए मनसब की जागीर का मामला शीघ्र ही तय होने वाला है तब अपनी इस नई जागीर के प्रबन्ध सम्बन्धी आदेश देने के हेतु उसने अपने मंत्री व्यास प्रतापसिंह को अक्तूबर, १७०० ई० में दक्षिण बुलवा भेजा, और उसकी अनुपस्थिति में मालवा में मन्त्रित्व का काम करने के लिए उसने मेहता नाथा के दूसरे पुत्र मेहता हीरचंद को नियुक्त किया।[३८] जागीर सम्बन्धी सारा मामला तय होने पर उसके प्रबन्ध के बाबत केशवदास के आदेश पाकर व्यास प्रतापसिंह सितम्बर, १७०१ ई० में दक्षिण से मालवा को लौट गया और सीतामऊ पहुँचते ही उसने वहाँ केशवदास की जागीर का पूरा-पूरा शासन-प्रबन्ध पुनः सम्हाल लिया।[३९] इस समय सीतामऊ के आस-पास के गाँवों और

---

[३७] सीतामऊ राजघराने के संग्रह में प्राप्य तीतरोद परगने की सनद।

तीतरोद परगने की सनद अक्तूबर, १७०१ ई० में लिखी गई, परन्तु इस समय केशवदास के मनसब में पुनः वृद्धि का विवरण नहीं मिलता है, एवं यही अनुमान होता है कि मई, १६९९ ई० में प्राप्त मनसब में वृद्धि की जागीर का मामला ही अक्तूबर, १७०१ ई० में तय हुआ, और ढाई साल पहिले की गई वृद्धि की जागीर में ही तब तीतरोद परगना केशवदास को मिला।

केशवदास का मनसब बढ़ते-बढ़ते मार्च, १७०८ ई० में एक हजारी ज़ात–६०० सवारों का हो गया था। जय० अख़्ब०, बहा०, १, पृ० ३९९। मई, १६९९ ई० के बाद केशवदास का मनसब कब-कब बढ़ा और हर बार कितनी वृद्धि हुई, इसका निश्चित उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है।

[३८] मेहता०, आसोज सु० ५, सं० १७५७ वि० का केशवदास का पत्र।

[३९] मेहता०, आसोज वि० ६, सं० १७५८ वि० का केशवदास का पत्र।

नाहरगढ़ परगने की जागीर के प्रबन्ध-कार्य में केशवदास को उसके दूर के रिश्ते में काका, कुशालसिंह राठौड़ से बहुत कुछ मदद मिल रही थी। व्यास प्रतापसिंह और मेहता हीरचंद के साथ ही कुशालसिंह भी केशवदास का एक विश्वस्त अधिकारी और कुशल कार्यकर्ता था। सन् १७०१ ई० में भी तत्कालीन जागीर के प्रबन्ध में कुशालसिंह केशवदास के अन्य कर्मचारियों का हाथ बँटा रहा था। तीतरोद परगने की यह नई जागीर प्राप्त होने पर इस नए राज्य के संगठन में कुशालसिंह का पूरा २ हाथ रहा और तब कुछ समय तक व्यास प्रतापसिंह के साथ ही वह संयुक्त प्रधान मंत्री के रूप में भी काम करता रहा।[४०] इस प्रकार सीतामऊ राज्य के संगठन और शासन-व्यवस्था के लिए केशवदास ने अपने नए-पुराने साथियों को जुटाया और इस सद्यःस्थापित नए राज्य की नींव सुदृढ़ करने में वह प्रयत्नशील हुआ। किन्तु ये सारी बातें सीतामऊ राज्य के इतिहास के अन्तर्गत ही लिखी जा सकती हैं; उनका रतलाम के प्रथम राज्य के इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है।

---

[४०] यह कुशालसिंह मोटा राजा उदयसिंह के पाँचवें पुत्र भोपतसिंह का वंशज था। मारवाड़०, १, पृ० १७९; ख्यात०, १, पृ० १०१, १०६; गुरूजी०। भोपतसिंह के सारे वंशज भोपतोत राठौड़ कहलाए। भोपतसिंह के दूसरे पुत्र मुकुन्ददास का बड़ा बेटा सबलसिंह ही कुशालसिंह का पिता था। सन् १७०१-०२ ई० में कुशालसिंह व्यास प्रतापसिंह के साथ ही प्रधान मन्त्री का भी काम करता रहा; मेहता०, आसोज वि० ६, सं० १७५८ वि० और श्रावण सु० ६, सं० १७५९ के केशवदास के पत्र।

तीतरोद परगना मिलने पर केशवदास ने कुशालसिंह को वर्तमान खेजड़िया ठिकाना जागीर में दिया, जो आज भी उसके वंशजों के अधिकार में है। कुशालसिंह का वंश सीतामऊ राज्य और उसके आस-पास के प्रदेश में बहुत फैला और उसके अन्य वंशजों को भी वहाँ अनेकों जागीरें मिलीं। सीतामऊ राज्य में बाजखेड़ी, धाराखेड़ी और वेलारा ठिकाने अब भी उनके अधिकार में हैं।

अपने जीवन के इन पिछले दस वर्षों में जब वह रतलाम का शासक था, या जब राज्य खोकर वह मुग़ल सम्राट् का एक साधारण मनसबदार मात्र रह गया था, तब भी केशवदास अपने निजी पत्र-व्यवहार, सनदों, आदि में स्वयं को 'महाराजधिराज महाराज' लिखता था।[४१] किन्तु शाही काग़ज़-पत्रों में उसका नाम-मात्र ही लिखा जाता था; उसके साथ कोई भी उपाधि नहीं लिखी जाती थी। अखबारों में उसे 'रतलाम का ज़मींदार और जागीरदार' लिखा है।[४२]

अपने बड़े भाई शिवसिंह के शासन-काल से ही सन् १६८५ ई० में केशवदास दक्षिण में जाकर शाही सेना में सम्मिलित हो गया था। तब से पूरे बाईस वर्ष तक वह निरन्तर दक्षिण में ही बना रहा और सन् १७०७ ई० में औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद आज़म के नेतृत्व में उत्तरी भारत को लौटती हुई शाही सेना के साथ ही केशवदास उत्तरी भारत को लौटा। अतएव रतलाम का शासक बन कर भी केशवदास ने एक दिन वहाँ निवास नहीं किया, और जब वह उत्तरी भारत को लौटा, तब सीतामऊ राज्य की स्थापना हुए कोई छः वर्ष बीत चुके थे।

अक्तूबर, १७०१ ई० में तीतरोद परगने की शाही सनद पाकर केशवदास ने वर्तमान सीतामऊ राज्य की स्थापना की। विपत्ति के दिनों के उस निवास-स्थान को केशवदास के इस नए राज्य की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। राज्य-विहीन केशवदास पुनः एक राज्य का शासक बना और उसके जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। रतलाम राज्य खोकर भी केशवदास हतोत्साह नहीं हुआ था; अन्त में वह सद्यःस्थापित सीतामऊ राज्य का प्रथम शासक बना। सीतामऊ राज्य

---

[४१] राजव्यास; मेहता०।

[४२] अख़० औरं०, ३८, पृ० ६६, ९९, ५१६, ५२८, ५३७।

की स्थापना के साथ ही रतलाम के प्रथम राज्य के इस इतिहास का यह उपसंहार भी समाप्त हो जाता है।

रतनसिंह द्वारा संस्थापित रतलाम के उस प्रथम राज्य का अन्त हो गया था। रतन-कुल का वह वट,.....दुर्भाग्य की आँधी ने उसके सुस्थापित विशाल तने को उखाड़ फेंका; किन्तु उसकी दूर २ फैली हुई वे शाखाएँ और उनके वे जीवनपूर्ण अंकुर.........कठिनाइयाँ, विरोध और विपरीत वातावरण भी उन्हें न रोक सके; वे जगह २ फूट निकले और उन्होंने जड़ पकड़ ली; समय पाकर वे सुदृढ़ हो गए और उन्होंने स्थायित्व प्राप्त किया। केशवदास ने वर्तमान सीतामऊ राज्य की स्थापना की, और संभवतः उसके कुछ समय बाद छत्रसाल रतलाम के वर्तमान द्वितीय राज्य का प्रथम शासक बना। इनका आश्रय पाकर रतन-कुल पुनः सशक्त हुआ और आगामी अराजकतापूर्ण शताब्दी में उसके लाड़लों ने अनेकों छोटे-मोटे राज्यों या ठिकानों की स्थापना की। रतन-कुल की यह अमर-बेल मालवा के सारे मध्य भाग पर छा गई, और यों रतनसिंह की पटरानी का ऊषःकालीन स्वप्न सत्य हुआ।[४३]

---

[४३] दन्तकथा प्रचलित है कि अपने यौवनपूर्ण दिनों में एक बार रतनसिंह की पटरानी ने स्वप्न देखा कि उसकी आँतें आस-पास के सब वृक्षों पर अमर-बेल की तरह टँगी हुई थीं। इस बीभत्स दृश्य को देख कर रानी की नींद टूट गई; रात अधिक बाक़ी न थी, एवं वे घड़ियाँ रानी ने जागते हुए ही बिताईं। स्वप्नों का अर्थ निकालने वाले शकुनज्ञों ने इस स्वप्न का विवरण सुनकर रतनसिंह के वंशजों की असाधारण वृद्धि और उनकी आशातीत उन्नति की भविष्यवाणी की थी।

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अ

आ

इ

ई

उ

ए

औ

क

ख

ग

च

छ

ज

झ

ट

ड

त

द

ध

न

प

फ

ब

भ

म

र

ल

व

श

स

ह